वीर शासन के प्रभावक आचार्य

□

भगवान् महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर प्रकाशित

वीर शासन के प्रभावक आचार्य

डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर

डॉ. कस्तूरचन्द्र कासलीवाल

*

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक २८१
सम्पादक एवं नियोजक
लक्ष्मीचन्द्र जैन
जगदीश

Lokodaya Series Title No 281
VEER SHASAN KI
PRABHAVAK ACHARYA
(Biographical)
DR VIDYADHAR JOHRAPURKAR
DR KASTURCHANDRA KASLIWAL
First Edition April 1975
Price Rs 12 00

B/45-47 Connaught Place
NEW DELHI-110001

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
बी/४५ ४७ कॅनॉट प्लेस नयी दिल्ली-११०००१
प्रथम सस्करण अप्रैल १९७५
मूल्य बारह रुपये

मुद्रक
सन्मति मुद्रणालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग वाराणसी-२२१००५

प्रस्तुति

□

भगवान् महावीर के निर्वाण की यह पचीसवी शती धन्य है कि इसने हमारी पीढी को गौरव का नया आयाम दिया। हमने भगवान् महावीर का ही पुण्य-स्मरण नही किया, उन पूज्य पुरुषो के प्रति भी श्रद्धा-सुमन अर्पित किये है जिन्होने भगवान् महावीर की वाणी को 'गणो' के लिए शब्द-बद्ध किया, और फिर अनागत के लिए लिपि-बद्ध किया—वे सब आचार्य जिन्होने भगवान् महावीर के निर्वाणोपरान्त के इस लम्बे काल मे ज्ञान की ज्योति को प्रज्वलित रखा, झझाओ और तूफानो के आक्रमण को सहा और अपनी तपस्या के तेज से अन्धकार को निरस्त किया। उनके अवदान का स्मरण जब हम करते है तो गद्गद और पुलकित हो जाते है।

भारत के मध्यकालीन इतिहास मे विदेशियो के हमलो की एक लम्बी और अटूट शृखला का वर्णन है जिसने राष्ट्र के प्राणो को कस लिया था, देशजो की कलह के नाग ने व्यवस्था का ही डस लिया था। अहिसा और तपस्या जिनका धन था, मन्दिर, मूर्ति और शास्त्रो को जो उनके उपासक अपना श्वासोच्छ्वास मानते थे—वे नग्न दिगम्बर साधु और उनके अनुगत श्रमण मुस्लिम काल मे उच्छेद की असि और ध्वंस की लपटो से कैसे बच पाये, यह बहुत बडा आश्चर्य है। दक्षिणापथ की महान्-यात्रा का सकल्प लेकर आचार्यों और मुनियो के जो सघ पग-पग पर विपत् और मृत्यु को चुनौती देते हुए जब आगे बढे तो क्या प्राणरक्षा ही उनका उद्देश्य था? उनके प्राण जिस धर्म के लिए समर्पित थे, उनका धर्म जिस ज्ञान की आत्मा से निर्मित था उस ज्ञान की कृतार्थता इस बात में थी कि वह जन-जन के मन को पावन तीर्थ बना दे।

उस उद्देश्य को साध सकना, ज्ञान-कोष को सुरक्षित रख सकना, प्राण-रक्षा से भी बड़ा विस्मय है।

हम जो उत्तर में रहते हैं, प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश के ग्रन्थो का अध्ययन करते समय, श्रुत-पूजा करते समय, कभी सोच भी नही पाते कि इन शास्त्रो के रचयिता आचार्य या मुनि अथवा भट्टारक प्राय. वे है जिन्होंने दक्षिण के पर्वतो और वहाँ की गुफाओ में रहकर इनका सृजन किया है।

भारतीय ज्ञानपीठ ने भगवान् महावीर के निर्वाणोत्सव के अवसर पर जिस गुरुतर कार्यक्रम को हाथ मे लिया था उसकी पूर्ति श्री साहू शान्तिप्रसादजी की सतत प्रेरणा और मार्ग-दर्शन से ही सम्भव हो पायी है।

इस कार्यक्रम का एक महत्त्वपूर्ण अंग यह था कि ऐसे दो प्रकाशन नियोजित किये जायें जिनमें से एक की विषय-वस्तु भगवान् महावीर की धार्मिक-दार्शनिक-साहित्यिक परम्परा की ज्योति को प्रज्वलित रखनेवाले आचार्यों के कृतित्व से सम्बन्धित हो और उसके अन्तर्गत वह सब परम्परानुमोदित अतिशय सम्बन्धी कथाएँ भी आ जायें जिनका लक्ष्य धर्म-प्रभावना और धर्म को पराभव से बचाना रहा है। दूसरे प्रकाशन का विषय ऐसे प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाओ के कृतित्व का परिचय प्रस्तुत करता है जो भगवान् महावीर के काल मे लेकर सन् १९०० तक अपने व्यक्तित्व और कृतित्व की गरिमा से समसामयिक सामाजिक इतिहास मे अपना विशेष स्थान बनाकर तिरोहित हो गये। प्रसन्नता की बात है कि यह दोनो ग्रन्थ निर्वाण-महोत्सव वर्ष की महावीर-जयन्ती के दिन पाठको के हाथ मे पहुँच रहे हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ, 'वीर शासन के प्रभावक आचार्य' का सृजन दो मनीषी अध्येताओ के परिश्रम का फल है। डॉ विद्याधर जोहरापुरकर ने इस पुस्तक का आदिभाग लिखा है जिसमें 'वीर निर्वाण सवत् की पहली शताब्दी से लेकर अठारहवी शती तक अर्थात् ईसवी पूर्व सन् ५२७ मे लेकर १३वी शताब्दी तक के आचार्यों के कृतित्व का परिचय है, और पुस्तक का दूसरा भाग डॉ कस्तूरचन्द कासलीवाल ने लिखा है जिसमे भगवान् महावीर के निर्वाण की उन्नीसवी शती से पचीसवी शती तक के आचार्यों, भट्टारको और ग्रन्थकारो का परिचय दिया है। यद्यपि ग्रन्थ का विषय एक है, किन्तु दोनो विद्वानो ने अपने-अपने निर्दिष्ट काल के आचार्यों के जीवन और कृतित्व का परिचय प्रस्तुत करने की शैली मे, सामग्री के सयोजन मे, विस्तार और सक्षेप की दृष्टि मे तथा ऐतिहासिकता और परम्परा से प्राप्त किवदन्तियो के सन्तुलन मे अपना-अपना विवेक बरता है। यही कारण है कि ऐतिहासिक वर्ग की इस कृति मे यत्र-तत्र कथा की रोचकता आयी है, और उद्धरणो के कारण साहित्यिक रग-रूपों की झाँकी भी दृष्टिगोचर हुई है।

जैसा कि भूमिका से स्पष्ट होगा 'जैन शासन के प्रभावक आचार्य' में आचार्यों के परिचयवृत्त को प्रधानता देते हुए भी उनके प्रभावकत्व पर विशेष बल दिया गया है। यह प्रभावकत्व प्रभावना अंग की मूल परिधि को व्यास किये हुए है। अतः आचार्यों का ज्ञान, साहित्य-रचना, तप और साधना, भाषा और काव्य के क्षेत्र में उपलब्धि, तात्त्विक वाद-विवाद मे विचक्षणता एवं अपराजेयता, मन्त्र-तन्त्र के स्तर पर वह अतिशय और चमत्कार जो शुद्धज्ञान और निश्चय नय की कोटि से नीचा है किन्तु राजा और प्रजा जिसे सीता की अग्नि-परीक्षा की भाँति, धर्म के शील का मापदण्ड मानते रहे है—उन सब क्षेत्रों में आचार्यो की उपलब्धि जो प्रत्यक्ष है अथवा राज-सम्मानादि की कथाएँ जो परम्परागत है उन सबका संक्षेप में निदर्शन आ गया है।

इस कृति का परिकल्पना घोषित करने के उपरान्त इस पक्ष पर भी विचार किया गया कि जब भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् स्व. डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री द्वारा तैयार किये गये ग्रन्थ 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा', चार खण्डो मे प्रकाशित कर रही है, आचार्य हस्तीमलजी द्वारा 'जैनधर्म का मौलिक इतिहास' के तीन भागो मे (दूसरे से चौथे भाग तक) इसी विषय पर विशद प्रकाश डालने की योजना को मूर्तरूप दिया जा रही है, तथा 'जैनधर्म का प्राचीन इतिहास' के द्वितीय भाग मे प परमानन्द शास्त्री ने इस विषय के अपने विस्तृत अध्ययन को लेख-बद्ध किया है, तो इस लघुकाय पुस्तक की क्या आवश्यकता रह जायेगी ? ज्ञानपीठ ने वास्तव मे इस परिप्रेक्ष्य में इस पुस्तक की महत्ता इसी बात मे देखी कि यह 'लघुकाय' है और कम मूल्य की है, फिर भी इसमे व्यवस्थित ढग से सभी प्रमुख-प्रमुख आचार्यो और ग्रन्थकारो का परिचय आ गया है—इस सीमा तक कि जैनाचार्यो के अवदान की जानकारी चाहने वाले जैनेतर विद्वान् और सामान्य पाठक सरलता से यह ज्ञान इस पुस्तक से प्राप्त कर सकेंगे तथा जैनधर्म की परीक्षाओं के लिए भी यह उपयोगी होगी। पाठक स्वयं देखेंगे कि इस दृष्टि से इस पुस्तक का महत्त्व विशेष है, सार्थक है।

जैसा कि ऊपर लिखा है, 'प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ' (जिसमें भगवान् महावीर के शासन के समय से लेकर आधुनिक युग तक के दिवंगत जैन राजाओ, श्रेष्ठियो, सेनापतियो, सामन्तो और सामाजिक महापुरुषो का कृतित्व परिचय वर्णित है) तथा यह पुस्तक 'जैन शासन के प्रभावक आचार्य' एक ही शृ खला की कड़ियाँ है।

भगवान् के निर्वाण महोत्सव के अवसर पर डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर और डॉ. कस्तूरचन्द्र कासलीवाल के कृतित्व से सम्बद्ध होकर, उसे प्रकाश मे लाकर भारतीय ज्ञानपीठ अपने को गौरवान्वित अनुभव करती है।

भारतीय ज्ञानपीठ की मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला के सम्पादक-द्वय, डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये तथा सिद्धान्ताचार्य पं कैलाशचन्द्रजी शास्त्री ने निर्वाण महोत्सव की

प्रकाशन योजनाओं में जो योगदान दिया है, वह उनकी विद्वत्ता के अनुरूप है। भारतीय ज्ञानपीठ उनके प्रति कृतज्ञ है। भारतीय ज्ञानपीठ के संस्थापक तथा प्रेरणा-स्रोत श्री साहूजी और भारतीय ज्ञानपीठ के संचालन-कार्य को अपने मार्गदर्शन से सुगम बनाने-वाली, ज्ञानपीठ की अध्यक्षा श्रीमती रमा जैन के सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि निर्वाण-महोत्सव के अवसर पर यह सारा प्रकाशन कार्यक्रम उनकी श्रद्धा का प्रतीक है। श्रद्धा का यह सुख अपरिमित है।

लक्ष्मीचन्द्र जैन
सम्पादक एवं नियामक
लोकोदय ग्रन्थमाला

नयी दिल्ली
१० अप्रैल, १९७५

अनुक्रम

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

प्रथम खण्ड

प्राक्कथन

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव ।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ।।

—श्री अमृतचन्द्र-पुरुषार्थसिद्धयुपाय

रत्नत्रय—शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र—के तेज से स्वयं को निरन्तर प्रभावित करना चाहिए तथा—इस आत्मसाधना के लिए अनुकूल वातावरण समाज में बना रहे इसलिए दान, तपस्या, जिनपूजा तथा विद्याभ्यास के उत्कर्ष द्वारा जिनधर्म का प्रभाव बढाना चाहिए। आचार्यों के इस उपदेश मे व्यक्ति और समाज के हितो का सुन्दर समन्वय किया गया है।

किसी व्यक्ति की आत्मसाधना का सीधा परिचय भावी पीढियों को नही हो सकता। किन्तु धर्मप्रभावना के लिए किये गये कार्यों से—विशेषकर साहित्य और शिल्प-कृतियो से—भावी पीढियाँ दीर्घकाल तक प्रेरणा प्राप्त करती है। प्रत्येक प्रबुद्ध समाज अपने अतीत के इन गौरव-चिह्नों से परिचित होने का प्रयत्न करता है और यथासम्भव उनकी रक्षा मे सावधान रहता है।

जैन साहित्य और शिल्पकृतियो तथा शिलालेखों का अध्ययन पिछली दो शताब्दियो मे अनेक विद्वानो द्वारा किया गया है। किन्तु अभी कोई ऐसा ग्रन्थ उपलब्ध नही है जिसमें जैन संघ के सभी प्रमुख प्रभावशाली आचार्यों का प्रमाणाधारित विवरण कालक्रम से दिया गया हो। वीर निर्वाण संवत् की पचीसवी शताब्दी के पूर्ण होने के सुअवसर पर ऐसा इतिहास-सकलन औचित्यपूर्ण होगा इस दृष्टि से यह ग्रन्थ लिखा जा रहा है।

प्राचीन भारत के इतिहास के साधन सीमित है। कितने ही प्राचीन आचार्यों के समय, सम्प्रदाय तथा कार्यों के विषय में निश्चित जानकारी प्राप्त नही है। इसलिए विद्वानो मे इन विषयो पर काफी विवाद होते रहे हैं। हमने यथासम्भव इन विवादो से दूर रहकर आचार्यों के कृतित्व के उज्ज्वल पक्ष तक सीमित रहने का प्रयत्न किया है। इन आचार्यों के कार्य का गौरव समग्र जैन समाज का गौरव है—उसे अमुक एक सम्प्रदाय मे सीमित मानना उचित नही होगा। उनमें से अनेक आचार्य तो समग्र भारतीय समाज के लिए गौरव के विषय हैं। अनेक जैनेतर विद्वानों ने भी इस दृष्टि से उनके कार्य का सम्मान सहित अध्ययन किया है।

यह संकलित विवरण के आधार-ग्रन्थों का यथास्थान उल्लेख किया है। उन सबके विद्वान् लेखकों के प्रति हम कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

प्राचीनता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण समझकर हमने वीर निर्वाण संवत् के प्रथम सहस्र वर्षों के सभी ज्ञात आचार्यों का उल्लेख किया है, यद्यपि इनमें से कई केवल नाम से ही ज्ञात है—अन्य कोई विवरण उनके विषय में प्राप्त नही होता। बाद के आचार्यों का ऐसा उल्लेख सम्भव नही हुआ, फिर भी यथासम्भव प्रयास किया गया है कि किसी महत्त्वपूर्ण आचार्य का नाम अनुल्लिखित न रहे।

इन आचार्यों की जिन बहुमुखी गतिविधियों से जैन समाज के प्रभाव में वृद्धि हुई उनका संक्षिप्त दिग्दर्शन यहाँ उपयोगी होगा।

श्रुताभ्यास

भगवान् महावीर के उपदेशो को शब्दबद्ध कर जिन्होने भावी पीढ़ियों के लिए सुरक्षित रखा वे आचार्य प्रथमतः हमारे श्रद्धाभाजन होते है। इनमें गौतम व सुधर्म (द्वादशाग), शय्यम्भव (दशवैकालिक), भद्रबाहु (छेदसूत्र), श्यामार्य (प्रज्ञापना), पुष्पदन्त-भूतबलि (षट्खण्डागम) तथा गुणधर (कषायप्राभृत) इन आचार्यों का समावेश होता है। इनके साथ विष्णुनन्दि आदि वे आचार्य भी स्मरणीय है जिनके नेतृत्व मे इन आगमो का अध्ययन गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा शताब्दियो तक होता रहा।

आगमों पर आधारित नूतन ग्रन्थों की रचना की दृष्टि से पादलिप्त (तरंगवती), कुन्दकुन्द (समयप्राभृत आदि), विमल (पद्मचरित), उमास्वाति (तत्त्वार्थसूत्र), समन्तभद्र (आप्तमीमासा आदि), सिद्धसेन (द्वात्रिंशिका), वट्टकेर(मूलाचार), सर्वनन्दि(लोकविभाग), यतिवृषभ (तिलोयपण्णत्ती), शिवार्य (आराधना), पूज्यपाद (जैनेन्द्र व्याकरण आदि), पात्रकेसरी (त्रिलक्षणकदर्थन), भद्रबाहु (निर्युक्ति), मल्लवादी (नयचक्र), संघदास (वसुदेवहिंडी), मानतुंग (भक्तामरस्तोत्र), जिनभद्र (विशेषावश्यक आदि), जटा-सिंहनन्दि (वरागचरित), रविषेण (पद्मचरित), जिनदास (चूर्णि), अकलंकदेव (तत्त्वार्थवार्तिक आदि) तथा हरिभद्र (समरादित्यकथा आदि) पथप्रवर्तक सिद्ध हुए हैं। बाद के अनेक आचार्यों ने इस साहित्यिक परम्परा को अपने योगदान द्वारा समृद्ध बनाया। विस्तारभय से यहाँ उनकी पूरी नामावली नही दी है।

तपस्या

जैन मुनियो के लिए निर्धारित न्यूनतम आचार-नियम उद्दिष्टाहारत्याग, अस्नान, केशलोच आदि सामान्य व्यक्ति की दृष्टि से कठोर तपस्या ही कहलायेंगे। इनसे भी अधिक विशिष्ट प्रकारो से तप साधना का वर्णन कुछ आचार्यों की जीवनकथा मे मिलता है। भद्रबाहु ने दीर्घकाल अवमौदर्य की साधना की थी। पूज्यपाद ने बारह वर्ष एकान्तर उपवास किये थे। गुणभद्र पक्षोपवास किया करते थे। चतुर्मुखदेव ने चार बार एक-एक सप्ताह उपवास किये थे। अभयदेव ने आजीवन दही आदि विकृतियो का त्याग किया था। मुनिचन्द्र ने केवल काजी का ही आहार ग्रहण किया था। जगच्चन्द्र ने बारह वर्ष आचाम्ल तप किया था। इस प्रकार की तपःसाधना को आधुनिक समय में देहदण्डन

मात्र समझ लिया जाता है किन्तु यह नही भूलना चाहिए कि ये उदाहरण निरन्तर भोगोपभोगो में आसक्त सामान्य लोगों के लिए एक सर्वथा भिन्न आत्महितकारी मार्ग का दर्शन कराते हैं।

राजसम्मान

जैन आचार्यों की विभिन्न लोकहितकारी प्रवृत्तियो से प्रभावित होकर अनेक राजाओ ने समय-समय पर उनके उपदेश सुने तथा दानो द्वारा उनके ज्ञानप्रसारादि कार्यों में सक्रिय सहयोग दिया। राजा श्रेणिक और अजातशत्रु द्वारा गौतम और सुधर्म के सम्मान की कथाएँ पुराणप्रसिद्ध हैं। चन्द्रगुप्त ने भद्रबाहु से और सम्प्रति ने सुहस्ति से धर्मकार्यों की प्रेरणा प्राप्त की। शक राजाओं ने कालक के अनुरोध पर अत्याचारी गर्दभिल्ल का नाश किया। सातवाहन कुल के राजाओं ने कालक और पादलिप्त का सम्मान किया। विक्रमादित्य सिद्धसेन से और दुर्विनीत पूज्यपाद से प्रभावित थे। गंगवंश-स्थापक माधववर्मा सिंहनन्दि के शिष्य थे। इनके वंशजो ने भी वीरदेव आदि अनेक आचार्यों को दानादि से सम्मानित किया। चालुक्य वश के राजाओ ने जिननन्दि, प्रभाचन्द्र, रविकीर्ति आदि के धर्मकार्यों मे सहयोग दिया। हर्ष राजा की सभा में मानतुग सम्मानित हुए। राष्ट्रकूट वंश के राजाओ की सभाओ मे अकलंकदेव, जिनसेन, उग्रादित्य आदि की वाणी मुखरित हुई। कर्णाटक में होयसल वश तथा गुजरात मे चौलुक्य वश का समय शिल्प और साहित्य की समृद्धि से परिपूर्ण रहा, इस काल के आचार्यों के उल्लेखो की सख्या सैकडो में पहुँचती है।

वादविजय

प्राचीन भारत के विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायो ने अपने-अपने मत के समर्थन और अन्य मतो के खण्डन के लिए तर्कशास्त्र का व्यापक उपयोग किया। ऐसे वादविवाद तब विशेष महत्त्वपूर्ण हुए जब विभिन्न राजाओ की सभाओ मे संस्कृत को प्रतिष्ठा मिली। जैन दर्शन अपने आपमे वाद को महत्त्व नही देता—उसका उद्देश्य तो विभिन्न वादो मे यथार्थ तत्त्वज्ञान द्वारा सवाद स्थापित करना है। किन्तु अन्य सम्प्रदायों द्वारा वाद मे विजय को सामाजिक लाभ का साधन बनाया गया तब समाज-गौरव की रक्षा के लिए आवश्यक होने पर जैन आचार्यों ने भी वादसभाओ में भाग लिया और इसमे उन्हे सफलता भी अच्छी मिली। समन्तभद्र, सिद्धसेन, मल्लवादी, अकलंक, हरिभद्र, विद्यानन्द, वादिराज, प्रभाचन्द्र, शान्तिसूरि, देवसूरि आदि की जीवनकथाओ से यह स्पष्ट होता है।

शिल्पसमृद्धि

वीतराग भाव की साधना जैन परम्परा का लक्ष्य रहा है। सुशिक्षित और अशिक्षित दोनो के लिए इस साधना का एक प्रभावी मार्ग हैं जिनबिम्बो का दर्शन। इसलिए समय-समय पर आचार्यों ने जिनमूर्तियो और मन्दिरो के निर्माण का उपदेश

दिया। यद्यपि इनमें से बहुत-से कालप्रभाव से और आक्रमणकारियों की विध्वंसक प्रवृत्ति से नष्ट हो गये तथापि जो शेष हैं उनसे भी प्राचीन भारत की कला-समृद्धि अच्छी तरह स्पष्ट होती है। मथुरा के माघरक्षित और महाराष्ट्र के इन्द्ररक्षित अबतक ज्ञात जैन कलाकृतियो से सम्बद्ध आचार्यों मे सबसे प्राचीन हैं। मथुरा के भग्नावशेषो से अन्य बीस आचार्यों के नाम ज्ञात हुए हैं। उदयगिरि की पार्श्वतीर्थंकर की मूर्ति से आचार्य गोशर्मा का नाम सम्बद्ध है। मैसूर प्रदेश के वीरदेव आदि आचार्य जिन मन्दिरों से सम्बद्ध थे उनमे से अधिकाश अब नष्ट हो गये हैं किन्तु ऐहोले का रविकीर्ति-निर्मित मन्दिर अभी भी दर्शनीय है। इसी प्रकार उदयदेव आदि आचार्यों से सम्बद्ध लक्ष्मेश्वर का शंखजिनेन्द्रमन्दिर भी विद्यमान है। एलोरा के गुहामन्दिरो से नागनन्दि और तमिल प्रदेश के अनेक गुहामन्दिरो से आर्यनन्दि सम्बद्ध थे—ये मन्दिर भी अभी दर्शनीय स्थिति में है। अजितसेन के उपदेश से प्रतिष्ठित गोम्मटेश्वर महामूर्ति तथा धर्मघोष की प्रेरणा से निर्मित आबू की विमलवसही भारत में ही नही, विदेशी कलासमीक्षको मे भी प्रशंसित हुए है। विस्तारभय से यहाँ केवल प्रमुख शिल्पकृतियो का ही उल्लेख किया है।

ऋद्धिसिद्धि

तपस्या और मन्त्रसाधना के फलस्वरूप भौतिक दृष्टि से असम्भव प्रतीत होनेवाले कार्य करने की शक्ति प्राप्त होती है ऐसा अनेक आचार्यों की जीवनकथाओ में कहा गया है। उन्हे आम तौर पर ऋद्धिसिद्धि कहा जाता है। धर्मभावना के एक प्रमुख साधन के रूप में ऐसे प्रसगो का वर्णन परम्पराभिमानी लेखको की रचनाओ मे मिलता है। इनमे से अधिकाश लेखक वर्णित घटना के कई शताब्दियो पश्चात् हुए है तथा विभिन्न कथाओ मे परस्पर अनुकरण और अतिशयोक्ति की प्रवृत्ति भी पायी जाती है। अत प्रामाणिक इतिहास के रूप मे इन्हे स्वीकृत नही किया जाता। फिर भी इनका दो दृष्टियो से महत्त्व है। एक तो इन कथाओ के अतिशयोक्त वर्णन मे भी कुछ सत्याश तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थिति का बोध करानेवाला होता है। दूसरे, लोककथाओ के रूप मे भी इनका महत्त्व है—इतिहास में प्राचीन घटनाओ का ही लेखाजोखा नही होता, उस समय के लोगो की विचारपद्धति का भी आकलन होता है। अत. ये ऋद्धि-प्रदर्शन की घटनाएँ हुई हो या न हो—कथालेखको की दृष्टि में उनका महत्त्व अवश्य था और उन कथाओ के श्रोता भी प्राय उनपर विश्वास करते थे। इसी दृष्टि से यहाँ सक्षेप मे ऐसी कथाओ का उल्लेख किया गया है। इस दृष्टि से उल्लेखनीय कथाएँ वज्र, पादलिप्त, खपुट, कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, सिद्धसेन, पूज्यपाद, जीवदेव, मानतुग, अकलक, हरिभद्र, अभयदेव, वादिराज आदि की है।

उपर्युक्त विविध दृष्टियों से जैन आचार्यों के कार्यों का संक्षिप्त वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया गया है। हम आशा करते है कि सर्वसाधारण पाठको के लिए यह संकलन उपयोगी प्रतीत होगा।

●

श्रीवीर निर्वाण संवत् की पहली शताब्दी

[ईसवी सन् पूर्व ५२७ से ४२७]

गौतम

नमो जगन्नमस्याय मुनीन्द्रायेन्द्रभूतये ।
यः प्राप्य त्रिपदी कृत्स्नं विश्वं विष्णुरिवानशे ।।

—धनपाल-तिलक मंजरी प्रारम्भ

भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद बारह वर्ष तक गौतम इन्द्रभूति जैन संघ के अग्रणी रहे ।

इनका जन्म मगध प्रदेश (दक्षिण बिहार) की राजधानी राजगृह के समीप स्थित गोर्वर नामक ग्राम में गौतम गोत्र के ब्राह्मण कुल मे हुआ था । उनके व्यक्तिगत नाम इन्द्रभूति की अपेक्षा गोत्र-नाम गौतम ही अधिक प्रचलित हुआ । वेद-वेदागो का ज्ञान, यज्ञादि कार्यों मे निपुणता तथा पाँच सौ शिष्यो का गुरुपद प्राप्त होने से गौतम का गृहस्थ जीवन सफल माना जाता था किन्तु उनके मन में तत्त्वजिज्ञासा अतृप्त रही थी । भगवान् महावीर की दिव्य-वाणी सुनकर जब उनके मन की शंकाएँ मिट गयी तब परम्परा और प्रतिष्ठा के बन्धनो को तोड़कर वे भगवान् के शिष्य हो गये । प्रथम गणधर के रूप में जैन संघ मे उन्हे आदर का स्थान प्राप्त हुआ । भगवान् महावीर के साथ तीस वर्ष विहार करते हुए उन्होने असंख्य श्रोताओं को भगवान् की वाणी का रहस्य समझाया । पउमचरिय आदि बीसों पुराणग्रन्थो में वर्णन आता है कि भगवान् के समवशरण में राजा श्रेणिक प्रश्न करते थे और गौतम उनका उत्तर देते थे ।

'अत्थ भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा णिउणं'—भगवान् के उपदेशो को सूत्रबद्ध करने का कार्य गणधर कुशलता से करते है । प्रथम गणधर होने से गौतम इस कार्य मे प्रमुख रहे । वर्तमान जैन साहित्य का मूल आधार बारह अंग ग्रन्थ है जिनका संकलन गणधरों ने किया था । आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृत्दशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकश्रुत तथा दृष्टिवाद ये इन अंगो के नाम है । ये ग्रन्थ दीर्घकाल तक मौखिक रूप में ही रहे, गुरुशिष्यपरम्परा द्वारा इनका अध्ययन होता रहा । अत इनके मूलरूप में कुछ परिवर्तन होना स्वाभाविक था । वर्तमान समय में प्राप्त इन ग्रन्थों के लिखित रूप में कौन से अंश प्राचीन है और कौन से बाद में जुड़े है इसपर विद्वानों ने काफ़ी विचार विमर्श

किया है।[1]

सूत्रकृत, व्याख्याप्रज्ञप्ति, उपासकदशा तथा विपाकश्रुत इन अंगों के वर्तमान संस्करणों में गौतम के विभिन्न व्यक्तियों से हुए संवादों के अनेक प्रसंग वर्णित हैं। उपांगों और मूलसूत्रो-जैसे अन्य आगमों में भी अनेक स्थानों पर गौतम का वर्णन मिलता है। इनमें उत्तराध्ययनसूत्र का केशीगौतमीय अध्ययन विशेष महत्त्वपूर्ण है। इससे ज्ञात होता है कि तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की परम्परा के आचार्य केशी से श्रावस्ती नगर मे गौतम की भेंट हुई थी तथा वहाँ दोनों ने अपनी परम्पराओं के छोटे-मोटे मतभेदो का समाधान किया था।

बौद्ध ग्रन्थ मज्झिमनिकाय के सामगामसुत्त में वर्णन है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद उनके शिष्यो में तीव्र कलह शुरू हुआ। किन्तु जैन परम्परा में ऐसे किसी प्रसंग का उल्लेख नही मिलता। इससे मालूम होता है कि गौतम के प्रभावी व्यक्तित्व से छोटे-मोटे मतभेद गम्भीर रूप धारण नही कर सके और जैन संघ की एकता सुदृढ़ बनी रही।

मगध प्रदेश की राजधानी राजगृह के समीप विपुल पर्वत पर गौतम का निर्वाण हुआ।

सुधर्म

विदेह प्रदेश (उत्तर बिहार) की राजधानी वैशाली के समीप कोल्लाक नामक ग्राम में सुधर्म का जन्म हुआ था। गौतम के साथ ही वे भी भगवान् महावीर के शिष्य हुए तथा पाँचवें गणधर के रूप में सम्मानित हुए। भगवान् के निर्वाण के बाद गौतम केवलज्ञानी हुए इसलिए संघव्यवस्था से उनका पद ऊपर मानकर कई गुरुक्रम-वर्णनो—पट्टावली आदि में सुधर्म को प्रथम प्रधान आचार्य का स्थान दिया गया है। निरयावली आदि आगमो तथा वसुदेवहिंडी आदि पुराण-ग्रन्थों में सुधर्म द्वारा उनके प्रधान शिष्य जम्बू को आगमों के उपदेश दिये जाने का वर्णन मिलता है। इसी से कभी-कभी अंग ग्रन्थो को सुधर्मरचित भी कहा जाता है।

गौतम के निर्वाण के बाद सुधर्म केवलज्ञानी हुए तथा बारह वर्ष के विहार के बाद विपुल पर्वत पर उनका निर्वाण हुआ।

सुधर्म का गोत्र अग्निवेशायन था। बौद्ध ग्रन्थ दीघनिकाय—सामञ्ञफलसुत्त में निगण्ठ नाटपुत्त (महावीर) का यही गोत्र नाम बताया है जब कि जैन परम्परा में महावीर का गोत्र-नाम काश्यप बतलाया है। इससे ज्ञात होता है कि आरम्भिक बौद्ध आचार्यों को जैन संघ के प्रधान के रूप में सुधर्म का परिचय था यद्यपि वे महावीर और सुधर्म दोनो के व्यक्तिनाम और गोत्रनाम को ठीक तरह से अलग-अलग नही लिख

१. डॉ. 'जैकोबी' ने आचार और सूत्रकृत इन अंगों के अँगरेज़ी अनुवाद सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट ग्रन्थमाला में प्रस्तुत किये थे। डॉ. शूब्रिंग द्वारा संकलित वोर्तेस महावीर मुख्यत: पंचम अग पर आधारित है जिसके महावीरवाणी इस नाम से भारतीय भाषाओं में भी अनुवाद हुए हैं।

पाये—गुरु के नाम के साथ शिष्य का गोत्रनाम जोड़ दिया।

कहीं-कहीं सुधर्म का दूसरा नाम लोहार्य था ऐसा वर्णन भी मिलता है।

जम्बू

सुधर्म के प्रधान शिष्य जम्बू अन्तिम केवलज्ञानी के रूप में प्रसिद्ध है। इनका जीवन पुराण-कथाओं का विषय बन गया है। वसुदेवहिण्डी और उत्तरपुराण में इनकी कथा मिलती है। प्राकृत में गुणपाल का, अपभ्रंश में वीर कवि का तथा संस्कृत मे राजमल्ल का जम्बूस्वामीचरित प्रकाशित हो चुका है।[1]

मगध प्रदेश की राजधानी राजगृह के एक श्रेष्ठिकुल में जम्बू का जन्म हुआ था। अल्प वय में ही सुधर्म का धर्मोपदेश सुनकर वे विरक्त हुए। परिवार के लोगो के आग्रह से उन्होने विवाह तो किया किन्तु शीघ्र ही अपने संकल्प के अनुसार मुनिदीक्षा ली। इस अवसर पर अनुराग और वैराग्य की तुलना उनकी पत्नियों के साथ हुए वार्तालाप के माध्यम से उनके चरित्र-लेखको ने विस्तार से की है। अनेक सुन्दर कथाएँ इस प्रसंग में समाविष्ट हुई है।

सुधर्म के निर्वाण के बाद जम्बू केवलज्ञानी हुए तथा लगभग चालीस वर्ष के बिहार के बाद विपुल पर्वत पर उनका निर्वाण हुआ।

विष्णुनन्दि और प्रभव

जम्बूस्वामी के दो उत्तराधिकारियो का वर्णन मिलता है। तिलोयपण्णत्ती आदि की परम्परानुसार जम्बूस्वामी के बाद विष्णुनन्दि आचार्य हुए। ये श्रुतकेवली अर्थात् बारह अग ग्रन्थो के सम्पूर्ण ज्ञान के धारक थे। जम्बूस्वामी-चरितो में तथा कल्पसूत्र, नन्दीसूत्र आदि मे जम्बूस्वामी के एक और शिष्य प्रभव का परिचय मिलता है। ये विन्ध्यपर्वतीय प्रदेश के एक राजकुल मे उत्पन्न हुए थे किन्तु संयोग से चोरो के गिरोह में शामिल हो गये थे। जम्बूस्वामी का वैराग्य देखकर ये प्रभावित हुए और उन्ही के साथ मुनि हुए। गुरु के निर्वाण के बाद लगभग चालीस वर्ष इन्होने मुनिसंघ का नेतृत्व किया। अपने पाँच सौ सहयोगियो के साथ वे एक बार मथुरा नगर के समीप ठहरे थे। कथा के अनुसार एक व्यन्तर देवी ने उन्हे उस स्थान से चले जाने को कहा किन्तु सूर्यास्त के बाद विहार करना साधुओं के लिए अनुचित है ऐसा सोचकर आचार्य संघसहित वही ध्यान में लीन हो गये। रात में व्यन्तर देवो द्वारा किये गये भयंकर उपसर्ग से उन सबका देहान्त हुआ। उस स्थान पर जैन संघ द्वारा अनेक स्तूपो की स्थापना की गयी थी जिनके अवशेषो से प्राप्त अनेक शिलालेखो का आगे यथास्थान उल्लेख हुआ है।

[हरिषेण के कथाकोश में प्रभव के स्थान पर प्रमुख आचार्य का नाम विद्युच्चर बताया है तथा व्यन्तर-उपसर्ग का स्थान तामलिन्दी बताया है। तामलिन्दी बंगाल के समुद्रतट पर प्रसिद्ध बन्दरगाह था, यह अब तामलुक कहलाता है।]

१. डॉ विमलप्रकाश जैन ने अपभ्रंश जम्बूस्वामीचरित की प्रस्तावना में इस विषय से सम्बन्धित साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत किया है।

श्रीवीर निर्वाण संवत् की दूसरी शताब्दी
[ईसवी सन् पूर्व ४२७ से ३२७]

शय्यम्भव

ये राजगृह के एक ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए थे। एक यज्ञ के अवसर पर आचार्य प्रभव के दो शिष्यो के धर्मवचन सुनकर वे विरक्त हुए तथा मुनि हुए। कुछ ही समय पश्चात् उन्हे आचार्य पद प्राप्त हुआ। उनकी दीक्षा के समय पत्नी गर्भवती थी उसे पुत्र हुआ जिसका नाम मनक रखा गया था। मनक आठ वर्ष की अवस्था मे पिता की खोज मे निकल पडा। चम्पा नगर में पिता-पुत्र मिले तथा मनक ने भी साधु-दीक्षा ली। अपने दिव्य ज्ञान से पुत्र अल्पायु है ऐसा जानकर आचार्य ने उसके लाभार्थ अगग्रन्थो से महत्त्वपूर्ण अशो का सकलन किया जो दशवैकालिक सूत्र इस नाम से प्रसिद्ध हुआ। अगो के बाद आगम के रूप मे जो ग्रन्थ सम्मानित हुए उनमे यह पहला है तथा साधुओ के आचार-विचारो के ज्ञान के लिए बडा महत्त्वपूर्ण है। अगो के समान यह भी दीर्घकाल तक मौखिक परम्परा से पढा जाता रहा। वलभी वाचना के पाठ के अनुसार इसके अनेक सस्करण प्रकाशित हो चुके है।[1]

अन्य आचार्य

शय्यम्भव के बाद यशोभद्र आचार्य हुए तथा यशोभद्र के सम्भूतिविजय और भद्रबाहु ये दो शिष्य हुए।

कल्पसूत्र, नन्दीसूत्र आदि मे वर्णित इन आचार्यों के समकालीन श्रुतकेवलियो के नाम तिलोयपण्णत्ती आदि मे इस प्रकार मिलते हैं—विष्णुनन्दि के बाद क्रमश नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु। अर्थात् दोनो सूचियो में अन्तिम नाम समान है और वह भद्रबाहु का है। इनका वर्णन अगले परिच्छेद मे दिया है।

अगबाह्य आगमो मे दशवैकालिक सूत्र के समान ही प्राचीन और सम्मानित ग्रन्थ उत्तराध्ययन सूत्र और आवश्यक सूत्र है। इनके सकलनकर्ता आचार्यो का कोई विवरण प्राप्त नही है।

---

१ दशवैकालिक का डॉ. ल्यूमन और शूब्रिंग का संस्करण विशेष महत्त्वपूर्ण है। आचार्य तुलसी के मार्गदर्शन में सम्पादित नवीन संस्करण भी उल्लेखनीय है।

श्रीवीर निर्वाण संवत् की तीसरी शताब्दी

[ईसवी सन् पूर्व ३२७-२२७]

भद्रबाहु

वर्ण्यः कथ नु महिमा भण भद्रबाहोः मोहोरुमल्लमदमर्दनवृत्तबाहो. ।
यच्छिष्यताप्तसुकृतेन स चन्द्रगुप्तः शुश्रूष्यते स्म सुचिर वनदेवताभि ॥[1]

दक्षिण भारत में जैन संघ के प्रभाव में उल्लेखनीय वृद्धि का श्रेय अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु को है। उत्तर भारत में दीर्घकालीन दुष्काल के समय तत्कालीन सम्राट् चन्द्रगुप्त ने अपने युवा पुत्र बिन्दुसार को राज्यभार सौंपकर भद्रबाहु से मुनिदीक्षा ली और वे गुरु-शिष्य सघसहित दक्षिण में आये। मैसूर प्रदेश के श्रवणबेलगोल को इन्ही के निवास से तीर्थक्षेत्र होने का गौरव प्राप्त हुआ। यहाँ के चन्द्रगिरि पर्वत पर वह गुहा अब भी पूजास्थान बनी हुई है जहाँ भद्रबाहु के अन्तिम दिन बीते थे। चन्द्रगुप्त-वसति नामक जिनमन्दिर भी इस पर्वत पर है।

दक्षिण के साहित्य मे भी भद्रबाहु की स्मृति सादर सुरक्षित है। कुन्दकुन्द ने बोधप्राभृत की दो गाथाओ मे उनका सादर उल्लेख किया है। शिवार्य की आराधना मे उनकी उग्र अवमौदर्य (-दैनिक आहार की मात्रा से कम आहार ग्रहण करना) तपस्या की प्रशसा मे एक गाथा है।

जैसा कि ऊपर बताया है, कल्पसूत्र में भी भद्रबाहु का उल्लेख है। यहाँ उनके चार शिष्यो के नाम गोदास, अग्निदत्त, यज्ञदत्त और सोमदत्त बताये है। इनमे से गोदास के शिष्यवर्ग की चार शाखाएँ बतायी है—ताम्रलिप्तिका, कोटिवर्षिका, पौण्ड्रवर्धनिका तथा दासीखर्वटिका। ये चारो नाम बंगाल के विभिन्न नगरों से सम्बन्धित हैं। ताम्रलिप्ति का वर्तमान नाम तामलुक है जो मिदनापुर जिले में है, कोटिवर्ष दीनाजपुर जिले के बानगढ का पुराना नाम है, बोगरा जिले का महास्थान पुण्ड्रवर्धन का आधुनिक नाम है तथा खर्वट इसी नाम से मिदनापुर जिले मे है। इससे ज्ञात होता है कि गोदास के शिष्यो का बगाल के विभिन्न भागों मे अच्छा प्रभाव था।

हेमचन्द्र ने परिशिष्टपर्व में भद्रबाहु की नेपालयात्रा का उल्लेख किया है। दृष्टिवाद के अध्ययन के लिए स्थूलभद्र उनकी सेवा में उपस्थित हुए थे यह भी इस कथा मे बताया है।

---

१ जैन शिलालेख सग्रह, भाग १, पृ. १०१—यह श्लोक सन् ११२८ के मल्लिषेणप्रशस्ति के नाम से प्रसिद्ध लेख में है जो चन्द्रगिरि के पार्श्वनाथमन्दिर में स्थापित स्तम्भ पर उत्कीर्ण है।

दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति के अनुसार दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प और व्यवहार ये तीन सूत्रग्रन्थ भद्रबाहुरचित है। तीनो में मुनियो के आचरण और प्रायश्चित्त सम्बन्धी नियमो का विस्तार से वर्णन है। इन्हे छेदसूत्र भी कहा जाता है। अंगव्यतिरिक्त आगमों में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। अन्य आगमो के समान ये भी मौखिक परम्परा से शताब्दियो तक पढे जाते रहे। वलभी-वाचना में निश्चित रूप में इनका प्रकाशन हो चुका है।[1]

परम्परागत वर्णनो मे निर्युक्ति आदि अन्य कई रचनाएँ भी इन्ही भद्रबाहु की मानी गयी है किन्तु आधुनिक समय मे इन दोनो का अन्तर स्पष्ट हुआ है। निर्युक्तिकर्ता भद्रबाहु (द्वितीय) के विषय मे आगे एक परिच्छेद दिया गया है।

[परम्परागत वर्णन में भद्रबाहु का स्वर्गवास वीर संवत् १७० मे बताया है किन्तु चन्द्रगुप्त का इतिहास से ज्ञात राज्यकाल ईसवी सन् पूर्व ३२१-२९७ है अत. वीर सवत् की तीसरी शताब्दी में भद्रबाहु का वर्णन समाविष्ट किया है।]

विशाखादि आचार्य

तिलोयपण्णत्ती आदि के अनुसार भद्रबाहु के बाद १८३ वर्षो मे ग्यारह आचार्य हुए उनके नाम इस प्रकार है—विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नागसेन, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल, गगदेव तथा धर्मसेन। ये सब दशपूर्वधारी थे अर्थात् प्रथम ग्यारह अगो का तो पूर्ण अध्ययन उन्होने किया था, बारहवें अग के अन्तिम चार पूर्वों का अध्ययन नही कर पाये थे। इनमे से प्रथम पाँच वीर सवत् की इस तीसरी शताब्दी के और शेष छह अगली (चौथी) शताब्दी के माने जा सकते है। भद्रबाहु सम्बन्धी कथाओं मे विशाखाचार्य के तमिल देश मे विहार का उल्लेख है। अन्य आचार्यो का कोई विवरण प्राप्त नही है।

स्थूलभद्र

कल्पसूत्र आदि मे सम्भूतिविजय और भद्रबाहु दोनो के शिष्य के रूप मे स्थूलभद्र का नाम मिलता है। हेमचन्द्र ने परिशिष्टपर्व मे इनकी कथा विस्तार से बतायी है। इनके पिता शकटाल नन्द राजा के मन्त्री थे। उनकी मृत्यु के बाद स्थूलभद्र को मन्त्रिपद स्वीकार करने का आग्रह हुआ किन्तु उन्होंने पराधीन जीवन की अपेक्षा मुनिदीक्षा को ही श्रेयस्कर समझा। पूर्ववय मे विलास मे वे जितने मग्न थे उतने ही दृढ वैराग्य मे भी रहे। उत्तम ब्रह्मचर्य के कारण गुरु ने उन्हे दुष्करकारक कहकर सम्मानित किया। दीर्घकालीन दुष्काल के कारण साधुओ के अध्ययन-अध्यापन मे विघ्न हुआ था। अत स्थूलभद्र ने पाटलिपुत्र मे ज्ञानवृद्ध साधुओ का सम्मेलन आयोजित किया और ग्यारह अगो का पाठ निश्चित किया। पूरे जैन सघ मे मान्य न होने पर भी वर्तमान आगमग्रन्थो के इतिहास की दृष्टि से यह सम्मेलन महत्त्वपूर्ण माना गया है। भद्रबाहु से बारहवें अंग

१. डॉ शूब्रिग ने कल्प और व्यवहारसूत्र का सम्पादन किया है। मुनि पुण्यविजय का बृहत् कल्पसूत्र भाष्य का सस्करण भी महत्त्वपूर्ण है।

का ज्ञान भी स्थूलभद्र को मिला था किन्तु इसके अन्तिम चार पूर्वो के अर्थज्ञान से वे वंचित रहे। कल्पसूत्र में उनके ग्यारह गुरुबन्धुओ के नाम इस प्रकार दिये हैं— नन्दनभद्र, उपनन्द, तिष्यभद्र, यशोभद्र, स्वप्नभद्र, गणिभद्र, पूर्णभद्र, ऋजुमति, जम्बू, दीर्घभद्र और पुटभद्र।

महागिरि

स्थूलभद्र के ज्येष्ठ शिष्य महागिरि हुए। इन्हे जिनकल्पी कहा गया है अर्थात् वस्त्रादि का त्याग कर इन्होंने उग्र तपस्या की थी। कल्पसूत्र मे इनके शिष्यो के नाम इस प्रकार दिये है—उत्तर, बलिसह, धनाढ्य, श्रीआढ्य, कौण्डिन्य, नाग, नागमित्र और रोहगुप्त। इनमें उत्तर और बलिसह के शिष्यो की चार शाखाएँ बतायी है—कौशाम्बिका, शुक्तिमतिका, कोटाम्रानी और चन्द्रनगरी। प्रथम दो नामो से ज्ञात होता है कि उत्तर-प्रदेश के यमुनातटवर्ती दक्षिण भाग में इनका अच्छा प्रभाव रहा होगा—कौशाम्बी यमुनातट पर कोसम गाँव के रूप में पहचानी गयी है, यह इलाहाबाद से लगभग ४० मील पश्चिम मे है, शुक्तिमती वर्तमान बाँदा जिले में कही थी। कोटाम्र और चन्द्रनगर की पहचान नही हो पायी है।

सुहस्ति

ये महागिरि के गुरुबन्धु थे। मौर्य सम्राट् सम्प्रति (राज्यकाल ईसवी सन् पूर्व २३६–२२७) की इनपर बडी श्रद्धा थी। जैन साधुओ का विहार अनार्य प्रदेशो में भी हो इसलिए सम्प्रति ने काफी प्रयत्न किये थे। हेमचन्द्र ने परिशिष्टपर्व मे इनकी कथा विस्तार से दी है। गुजरात और राजस्थान के कई जिनमन्दिर सम्प्रति द्वारा निर्मित माने जाते है। जिनप्रभ के विविधतीर्थकल्प मे शत्रुंजय के जीर्णोद्धार का श्रेय सम्प्रति को दिया गया है।

उज्जयिनी मे सुहस्ति के धर्मवचनो को सुनकर अवन्तिसुकुमार नामक श्रेष्ठि-पुत्र ने मुनिदीक्षा ली थी। रात्रि के समय ध्यानमग्न वे मुनि सियारो के उपद्रव से मृत्यु को प्राप्त हुए। उनके देहावसान के स्थान पर उनके पुत्र ने विशाल जिनमन्दिर बनवाया था। राजशेखर के प्रबन्धकोश के अनुसार यही बाद मे महाकाल शिवमन्दिर के रूप मे प्रसिद्ध हुआ था। सुहस्ति के शिष्यों की विभिन्न शाखाओ का विवरण अगले परिच्छेदो मे दिया गया है। इससे उनकी संगठन-कुशलता और सफल नेतृत्व का परिचय मिलता है।

श्रीवीर निर्वाण संवत् की चौथी शताब्दी

(ईसवी सन् पूर्व २२७ से १२७)

सुस्थित

कल्पसूत्र मे सुहस्ति के ज्येष्ठ शिष्य का नाम सुस्थित बताया है। इन्होने सूरि-मन्त्र का एक कोटि बार जप किया था अत ये कोटिक कहलाये। इनके कोटिक गण की चार शाखाएँ थी—उच्चनगरी, विद्याधरी, वज्री और मध्यमा। प्रथम शाखा का नाम उच्चनगर से लिया गया है। यह उत्तरप्रदेश के बुलन्दशहर का प्राचीन नाम था। कोटिक गण के अन्तर्गत बम्भलिज्ज, बत्थलिज्ज, वाणिय और पण्हवाहन ये चार कुल भी बतलाये हैं, इन नामो का स्पष्टीकरण नही हो पाया है। सुस्थित के पाँच शिष्यो के नाम कल्पसूत्र मे बताये है—इन्द्रदिन्न, प्रियग्रन्थ, विद्याधरगोपाल, ऋषिदत्त और अर्हद्दत्त।

सुहस्ति के अन्य शिष्य

कल्पसूत्र मे सुस्थित के ग्यारह गुरुबन्धुओ और उनके शिष्यवर्ग की विस्तृत नामावली दी है। इनमे (१) सुप्रतिबुद्ध काकन्दिक थे—उनका मूल स्थान काकन्दी नगर था, इसकी पहचान बिहार के मुगेर जिले मे स्थित काकन ग्राम से की गयी है। (२) रोहण के शिष्यवर्ग को उद्देह गण कहते थे। इसकी एक शाखा उदुम्बरीया थी। बिहार के सन्थाल परगना जिले को प्राचीन समय मे उदुम्बर कहते थे, वहाँ इस शाखा का प्रभाव रहा होगा। मासपुरिका, मतिपत्तिका और पुण्यपत्तिका ये इस गण की अन्य शाखाएँ थी तथा नागभूतिक, सोमभूतिक, उल्लगच्छ, हत्थलिज्ज, नन्दिज्ज एव पारिहासक ये छह कुल भी इस गण मे थे—इन नामो का स्पष्टीकरण नही हो पाया है। (३) भद्रयश के शिष्यवर्ग को उडुवाडिय गण कहते थे। इसकी चार शाखाएँ थी—चम्पिका, भद्रिका, काकन्दिका और मैथिली। ये चारो नाम बिहार के पुरातन नगरो से लिये गये है। चम्पा और काकन्दी का उल्लेख ऊपर हो चुका है, मिथिला उत्तर बिहार का प्रसिद्ध नगर था जो इस समय जनकपुर कहलाता है, भद्रिका गया से लगभग चालीस मील दूर था, इसके स्थान पर अब दत्तारा नामक ग्राम है। इस प्रकार भद्रयश के शिष्यवर्ग का बिहार के विभिन्न भागो मे अच्छा प्रभाव था ऐसा प्रतीत होता है। इनके तीन कुल भी थे—भद्रयशीय, भद्रगुप्तीय और यशोभद्रीय। (४) कामर्धि के शिष्यवर्ग को वेसवाडिय गण कहते थे। इसकी एक शाखा श्रावस्तिका थी, श्रावस्ती के स्थान पर आज-कल सहेट-

महेट नामक ग्राम है, यह उत्तरप्रदेश के बलरामपुर जिले में है। इस गण की अन्य शाखाओं के नाम राज्यपालिका, अन्तरंजिका और क्षेमलिका थे तथा कुलो के नाम गणिक, मैथिलीय, कार्मधिक और इन्द्रपुरक थे। (५) ऋषिगुप्त के शिष्यवर्ग को माणव गण कहते थे। इसकी एक शाखा का नाम सौराष्ट्रीया था—गुजरात के पश्चिम भाग सौराष्ट्र में इसका प्रभाव रहा होगा। इस गण की अन्य शाखाएँ काश्यपीया, गौतमीया और वासिष्ठीया थी तथा ऋषिगुप्तीय, ऋषिदत्तीय और अभिजयन्त ये तीन कुल भी इस गण मे थे। (६) श्रीगुप्त के शिष्यवर्ग को चारण गण कहते थे। इसकी एक शाखा साकाशिका थी—उत्तरप्रदेश का प्राचीन नगर साकाश्य अब संकिस नामक ग्राम है, वहाँ इस शाखा का प्रभाव था। हारियमालाकारी, गवेधुका और वज्जनगरी ये इस गण की अन्य शाखाएँ थी तथा वत्थलिज्ज, प्रीतिधर्मिक, हालिज्ज, पुष्यमित्रीय, मालिज्ज, अज्जवेडय और कृष्णसह ये सात कुल भी थे। सुस्थित के अन्य गुरुबन्धुओ के नाम मेघगणी, रक्षित, रोहगुप्त, ब्रह्मगणी और सोमगणी बतलाये है।

कल्पसूत्र के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि सम्प्रति के प्रोत्साहन और सुहस्ति के नेतृत्व के फलस्वरूप इस काल मे जैन साधुसंघ के प्रभाव मे काफी वृद्धि हुई थी।[1]

श्यामार्य

सुहस्ति तक के आचार्यों की नामावली कल्पसूत्र और नन्दीसूत्र में समान है। कल्पसूत्र मे उल्लिखित सुहस्ति के उत्तराधिकारियो का ऊपर उल्लेख किया है। नन्दीसूत्र मे इनके समकालीन आचार्यों के नाम बहुल के बन्धु (बलिस्सह), स्वाति और श्यामार्य इस प्रकार दिये है। इनमें अन्तिम–श्यामार्य–प्रज्ञापनासूत्र के कर्ता के रूप मे प्रसिद्ध है। अंगो से सम्बद्ध विविध विषयो और कथाओ का संग्रह उपाग ग्रन्थो मे किया गया है। इनकी सख्या १२ है। प्रज्ञापना पाँचवाँ उपाग है। इसके ३६ प्रकरणो मे जीवो के विभिन्न प्रकारो और गुणो का विवरण है। अन्य उपागो के संकलनकर्ताओ का कोई परिचय उपलब्ध नही होता। ये सब ग्रन्थ वलभी वाचनानुसार प्रकाशित हो चुके है।

[तिलोयपण्णत्ती आदि मे उल्लिखित इस शताब्दी के आचार्यों के नाम ऊपर बताये जा चुके है।]

माघरक्षित और इन्द्ररक्षित

अबतक के आचार्यों का विवरण उत्तरकालीन साहित्य पर आधारित है। इस शताब्दी के दो आचार्यों का परिचय समकालीन शिलालेखो से प्राप्त होता है। दोनो लेखो मे तिथि का उल्लेख नही है फिर भी अक्षरो की बनावट के आधार पर ईसवी सन्

१ इस परिच्छेद में उल्लिखित स्थानों का विवरण डॉ जगदीशचन्द्र जैन के 'भारत के प्राचीन जैन तीर्थ' से लिया गया है।

पूर्व १५० के आसपास विशेषज्ञों ने इनका समय निश्चित किया है। एक लेख मथुरा से प्राप्त हुआ है। इसमे माघरक्षित श्रमण के शिष्य श्रावक उत्तरदासक द्वारा स्थापित मन्दिर के तोरण का उल्लेख है। दूसरा लेख महाराष्ट्र में पूना जिले में पाला ग्राम के समीप वन मे स्थित एक गुहा में है। इसमे पंचनमस्कारमन्त्र की पहली पंक्ति के साथ यह सूचना दी है कि इस गुहा और जलकुण्ड का निर्माण कातुनद के भदन्त इन्द्ररक्षित की प्रेरणा से हुआ था। जैन शिल्पो के इतिहास की दृष्टि से ये दोनो लेख बहुत महत्त्वपूर्ण है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख ४ तथा भाग ५, लेख १]

श्रीवीर निर्वाण संवत् की पाँचवीं शताब्दी

[ईसवी सन् पूर्व १२७ से २७]

कालक

इनका जन्म क्षत्रिय कुल में हुआ था। भरुकच्छ (भड़ौच) के राजा बलमित्र के ये मामा थे। इनके साथ इनकी एक बहन सरस्वती भी साधुसंघ में दीक्षित हुई थी। एक बार उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल ने सरस्वती के सौन्दर्य से मोहित होकर उसका अपहरण किया। कालक ने राजा को इस अन्याय का परिमार्जन करने के लिए बहुत समझाया किन्तु उस उन्मत्त अत्याचारी पर कोई प्रभाव नही पड़ा। तब कालक ने सिन्धु नदी के तट पर स्थित शक राजाओं से सम्पर्क स्थापित किया, उन्हें अपनी विद्वत्ता से प्रभावित किया और उनके द्वारा गर्दभिल्ल का नाश करवाकर बहन को मुक्त किया।

दक्षिण में प्रतिष्ठान[१] के राजा सातवाहन से भी कालक की भेंट हुई थी। पर्युषण के अन्तिम दिन का उत्सव भाद्रपद शुक्ल पंचमी को होता है। उसी दिन प्रतिष्ठान में इन्द्रध्वज उत्सव भी होता था। राजा दोनो उत्सवो में उपस्थित रहना चाहता था अतः उसके आग्रह से आचार्य ने पर्युषण-समाप्ति उत्सव चतुर्थी के दिन मनाना स्वीकार किया। प्रतिष्ठान मे उन्होने निमित्तशास्त्र का अध्ययन किया था। जैन पुराणकथाओ का प्रथमानुयोग नामक सकलन उन्होने किया और पाटलिपुत्र में जैन संघ को यह ग्रन्थ सुनाया। यहाँ से वे सुवर्णभूमि (दक्षिणी बर्मा या इन्डोनेशिया का सुमात्रा द्वीप) गये थे। उनका ज्योतिष शास्त्र पर भी कोई ग्रन्थ था ऐसा तर्क किया गया है।

[नॉर्मन ब्राउन द्वारा सम्पादित दि स्टोरी ऑफ कालक—इस ग्रन्थ में कालक सम्बन्धी कथाओ का संकलन मिलता है। विजयवल्लभसूरि स्मारक ग्रन्थ में डॉ. उमाकान्त शाह ने इस सम्बन्ध के विभिन्न उल्लेखो का विवेचन किया है। पुरातन ग्रन्थो में तिथि सम्बन्धी भिन्न वर्णनो के कारण कुछ विद्वान् कालक नाम के दो, तीन या चार आचार्य भिन्न-भिन्न समय में हुए ऐसा मानते है।]

अन्य आचार्य

तिलोयपण्णत्ती आदि में दशपूर्वधारी आचार्यों के बाद नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन तथा कंस इन पाँच आचार्यों के नाम बताये हैं। ये ग्यारह अंगो के ज्ञाता थे—बारहवें अग के सभी पूर्वों का ज्ञान इनके समय में त्रुटित रूप में ही रह पाया।

१. वर्तमान पैठण, यह महाराष्ट्र के औरंगाबाद जिले में है।

[तिलोयपण्णत्ती आदि के वर्णन में इनका समय २२० वर्ष बताया है, अर्थात् इस (पाँचवी) और अगली (छठी) शताब्दी में मिलकर ये आचार्य हुए, नन्दि-पट्टावली में इनका समय ११७ वर्ष कहा है। इसके अनुसार ये सब इसी शताब्दी में हुए थे।]

कल्पसूत्र में उल्लिखित इन्द्रदिन्न के शिष्य दिन्न तथा दिन्न के शिष्य शान्तिश्रेणिक और सिंहगिरि इस शताब्दी मे हुए थे। शान्तिश्रेणिक के चार शिष्यो के नाम बताये है— श्रेणिक, तापस, कुबेर और ऋषिपालित। इनकी इन्ही नामो की शाखाएँ थी।

नन्दीसूत्र मे उल्लिखित शाण्डिल्य, समुद्र तथा आर्य मंगु ये इस शताब्दी में रखे जाते हैं। इनकी प्रशसा की गाथाओ से इनका कोई विशेष परिचय नही मिलता।

जैन इतिहास की दृष्टि से इस शताब्दी का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शिलालेख उडीसा मे भुवनेश्वर के निकट खण्डगिरि पहाडी की हाथीगुफा मे प्राप्त हुआ है जिसमे सम्राट् खारवेल का विस्तृत जीवनवृत्त अंकित है। इस राजा और उसके परिवार के स्त्री-पुरुषो ने तथा अन्य राज्याधिकारियो ने इस स्थान पर जैन श्रमणो के लिए अनेक गुहाएँ खुदवायी यह भी यहाँ के अनेक लेखो से विदित होता है। इन सब लेखो में किसी विशिष्ट आचार्य का नाम उपलब्ध नही हुआ है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख २ तथा भाग ४, लेख ३ से १४]

श्रीवीर निर्वाण संवत् की छठी शताब्दी

(ईसवी सन् पूर्व २७ से ईसवी सन् ७३)

वज्र

कल्पसूत्र में सिंहगिरि के चार शिष्यों के नाम बताये हैं—धनगिरि, समित, वज्र और अर्हद्दत्त। इनमें से वज्र महान् प्रभावक के रूप में प्रसिद्ध हुए। हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व मे इनकी कथा मिलती है जिसका पल्लवित रूपान्तर प्रभावक-चरित में प्राप्त होता है। बालवय मे ही मुनि होकर वज्र ने आगमों का अध्ययन किया और भद्रगुप्त आचार्य से दस पूर्वों का ज्ञान भी प्राप्त किया। कहा गया है कि आचारांग के लुप्त अंश के अनुसन्धान से इन्हें आकाशगामिनी विद्या प्राप्त हुई थी। एक बार पुरी के राजा ने बौद्ध गुरु के आग्रह से जैनो के उत्सव में विघ्न लाने के लिए नगर के सारे फूल अपने अधिकार मे ले लिये। तब वज्र ने आकाशमार्ग से माहिष्मती नगर से बहुत-से फूल लाकर जैन संघ का उत्सव उत्साह से सम्पन्न कराया। देवो द्वारा उनके शुद्ध आचरण की परीक्षा की कथाएँ भी मिलती है। दुष्काल के समय वज्र दक्षिण प्रदेश में गये। वहाँ जिस पर्वत पर उनका देहावसान हुआ उसे इन्द्र ने रथ में बैठकर प्रदक्षिणा दी और इसलिए वह रथावर्तगिरि कहलाया। इसके वर्तमान स्थान की पहचान नही हो सकी है।

वज्र की कथा किंचित् परिवर्तन के साथ वइरकुमार कथा इस नाम से हरिषेण और प्रभाचन्द्र के कथाकोशो में भी मिलती है। समन्तभद्र के रत्नकरण्ड में प्रभावक पुरुषो के उदाहरण के रूप मे वज्र का नाम उल्लिखित है।

वज्र के मामा समित भी प्रभावशाली आचार्य थे। महाराष्ट्र के पूर्व भाग में स्थित अचलपुर नगर मे इनके उपदेश से कई तापस जैन संघ में सम्मिलित हुए थे। कहा गया है कि ये तापस पैरो में विशिष्ट औषधियों का लेप कर नदी के प्रवाह पर चलकर दिखाते थे। लोग इसे तपस्या का माहात्म्य समझकर बडे प्रभावित होते थे। समित ने वास्तविकता को स्पष्ट किया तथा अपनी तपस्या की शक्ति से नदी के दोनो तटों को एकत्र कर दिखाया। इससे प्रभावित होकर वे सब तापस उनके शिष्य हो गये। उनका निवासस्थान ब्रह्मद्वीप कहलाता था अतः समित का यह शिष्यवर्ग ब्रह्मद्वीपिक शाखा के नाम से जाना गया।

वज्र के तीन शिष्यो के नाम कल्पसूत्र मे बताये है—वज्रसेन, पद्म और रथ।

गुरु की आज्ञा के अनुसार दुष्काल समाप्ति के समय वज्रसेन ने सोप्पार नगर में विहार किया (यह वर्तमान बम्बई के निकट प्रसिद्ध बन्दरगाह था)। वहाँ नागेन्द्र, चन्द्र, निर्वृति और विद्याधर ये चार श्रेष्ठिपुत्र उनके शिष्य हुए। इनको इन्ही नामो की शाखाएँ जैन संघ में दीर्घकाल तक चलती रही।

रक्षित

नन्दीसूत्र में आर्य मंगु के बाद धर्म, भद्रगुप्त और रक्षित की प्रशंसा में गाथाएँ है। इनमें भद्रगुप्त का उल्लेख वज्र के विद्यागुरु के रूप में ऊपर हो चुका है। रक्षित की कथा प्रभावकचरित में विस्तार से दी है। ये दशपुर (वर्तमान मन्दसौर, मध्यप्रदेश) के राजपुरोहित के पुत्र थे। माता की प्रेरणा से वे जैन आगमो के अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए। आचार्य तोसलिपुत्र से दीक्षा लेकर अंगो का अध्ययन करने के बाद उज्जयिनी मे वज्र से नौ पूर्वो का भी अध्ययन उन्होने किया। उनके पिता और बन्धु भी बाद मे मुनि हुए थे। पिता को मुनिचर्या मे स्थिर करने के लिए रक्षित द्वारा अपनाये गये उपायो की कथा बडी रोचक है। उनके प्रधान शिष्य पुष्पमित्र थे। बुद्धिमान् होने पर भी आगमो का पठन करने में उन्हे कठिनाई होते देखकर रक्षित ने आगमो का चार अनुयोगो मे वर्गीकरण किया और पठनपद्धति को सरल बनाया।

अन्य आचार्य

तिलोयपण्णत्ती आदि मे सुभद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु (द्वितीय) और लोहार्य ये चार आचार्य आचाराग के ज्ञाता कहे गये है—शेष अगो और पूर्वो का ज्ञान इनके समय मे त्रुटित रूप मे रहा।

[नन्दिपट्टावली के अनुसार ये आचार्य इस शताब्दी मे रखे गये है, तिलोयपण्णत्ती आदि में इनका समय वीर सवत् ५७३ से ६८३ तक है।]

श्रीवीर निर्वाण संवत् की सातवीं शताब्दी

(ईसवी सन् ७३ से १७३)

धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि

सौराष्ट्र प्रदेश में गिरिनगर (वर्तमान जूनागढ) के समीप चन्द्रगुहा में आचार्य धरसेन का निवास था। वे निमित्तशास्त्र में पारंगत थे। मन्त्रशास्त्र पर उन्होंने जोणिपाहुड नामक ग्रन्थ लिखा था। यह अभी उपलब्ध नही हो सका है। आचार्य-परम्परा से प्राप्त आगमो का ज्ञान दिनोदिन क्षीण होता देखकर वे चिन्तित हुए। उन्होंने दक्षिण प्रदेश के आचार्य-सम्मेलन से दो योग्य शिष्यो को भेजने का आग्रह किया। तदनुसार वेणातट (वर्तमान स्थान अनिश्चित) नगर से पुष्पदन्त और भूतबलि ये दो मुनि गिरिनगर भेजे गये। आचार्य ने उन दोनो को दो मन्त्रो का उपदेश दिया—एक मे एक अक्षर कम रखा और दूसरे मे एक अक्षर अधिक। दोनो ने अपने बुद्धिबल से मन्त्रो को ठीक कर लिया। तब उनकी योग्यता देखकर आचार्य ने उन्हे महाकर्मप्रकृतिप्राभृत का उपदेश दिया। अध्ययन पूर्ण होने पर गुरु की आज्ञा से दोनो ने अंकलेसर (यह अब भी इसी नाम से प्रसिद्ध है) नगर में चातुर्मास किया। तदनन्तर पुष्पदन्त ने वनवासि (कर्णाटक) प्रदेश मे तथा भूतबलि ने तमिल प्रदेश में विहार किया। गुरु से प्राप्त ज्ञान को पुस्तक-निबद्ध करने का विचार कर पुष्पदन्त ने सत्प्ररूपणा नामक प्रकरण की रचना की तथा जिनपालित नामक शिष्य के साथ वह प्रकरण भूतबलि के पास भेजा। उन्होने पुष्पदन्त का अभिप्राय समझकर शेष प्रकरणो की रचना कर ग्रन्थ पूर्ण किया। इस ग्रन्थ में जीवस्थान, क्षुद्रबन्ध, बन्धस्वामित्व, वेदना, वर्गणा और महाबन्ध ये छह खण्ड हैं अत इसे षट्खण्डागम यह नाम दिया गया। प्रथम पाँच खण्डो का विस्तार छह हज़ार श्लोको जितना और अन्तिम खण्ड का विस्तार तीस हज़ार श्लोको जितना है। आगमो को पुस्तक-निबद्ध करने का यह कार्य एक नयी परम्परा का प्रारम्भ था। इसके पूर्व गुरु-शिष्यो की मौखिक परम्परा से ही आगमो का अध्ययन होता था। जैन संघ ने इस उपक्रम का अभिनन्दन किया और इस प्रथम लिखित ग्रन्थ के पूर्ण होने की तिथि ज्येष्ठ शुक्ल पचमी को शास्त्रपूजा के पर्व श्रुतपंचमी के रूप में समारोह का आयोजन प्रारम्भ किया। जीव और कर्मों के स्वरूप और सम्बन्ध का वर्णन विस्तार से प्रस्तुत करनेवाले इस ग्रन्थ पर कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, श्यामकुण्ड, तुम्बुलूर आदि आचार्यों ने टीकाएँ लिखी थी। अब इन टीकाओ में से केवल एक ही—आचार्य वीरसेन की

धवला टीका—उपलब्ध है।

[श्री लक्ष्मीचन्द्र शिताबराय जैन साहित्योद्धारक फण्ड, अमरावती द्वारा षट्खण्डागम के प्रथम पाँच खण्डो की धवला टीका डॉ हीरालाल जैन के सम्पादन में सोलह खण्डो मे प्रकाशित हुई हैं। प्रथम खण्ड की विस्तृत प्रस्तावना मे सम्पादक ने मूल ग्रन्थ और टीका से सम्बद्ध विषयो का विवेचन किया है। अन्तिम खण्ड महाबन्ध भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी द्वारा प सुमेरुचन्द्र तथा पं फूलचन्द्र द्वारा सम्पादित होकर सात खण्डो मे प्रकाशित हुआ है।]

गुणधर

षट्खण्डागम के समकक्ष मान्यता प्राप्त करनेवाला दूसरा सिद्धान्त ग्रन्थ कषाय-प्राभृत है। २२३ गाथाओ के इस सक्षिप्त किन्तु गम्भीर ग्रन्थ में मोहनीय कर्म के बन्ध की दृष्टि से जीवो और कर्मो का निरूपण है। इसके रचयिता गुणधर थे। आर्य मंगु और नागहस्ति द्वारा इस ग्रन्थ का स्पष्टीकरण हुआ जिसे प्राप्त कर यतिवृषभ ने छह हजार श्लोको जितने विस्तार के चूर्णिसूत्र की रचना की। इसपर वीरसेन और जिनसेन ने जयधवला नामक विस्तृत व्याख्या लिखी जिसका प्रमाण साठ हजार श्लोको जितना है।

[चूर्णिसूत्र सहित कषायप्राभृत प हीरालाल शास्त्री के सम्पादन मे प्रकाशित हुआ है, जयधवला सहित कषायप्राभृत प कैलाशचन्द्र शास्त्री आदि विद्वानो द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ है, इसके प्रथम खण्ड की प्रस्तावना में ग्रन्थ और ग्रन्थकर्ताओ के विषय मे विस्तृत विवेचन है।]

पादलिप्त

णिम्मलमणेण गुणगरुयएण परमत्थरयणसारेण।
पालित्तएण हालो हारेण व सहइ गोट्ठीसु॥

—कुवलयमाला–प्रारम्भ

उद्द्योतन की उपर्युक्त गाथा के अनुसार राजा हाल की सभा मे पादलिप्त रत्नहार के समान सुशोभित हुए थे। इनकी जीवनकथा प्रभावकचरित, प्रबन्धकोश, प्रबन्धचिन्तामणि आदि मे विस्तार से वर्णित है।

अयोध्या के एक श्रेष्ठिकुल मे इनका जन्म हुआ था तथा नागहस्ती आचार्य के सघ मे इन्हे शिक्षा-दीक्षा मिली। गुरुकृपा से इन्हे ऐसे लेप का ज्ञान मिला जिसे पैरो में लगाने से आकाशमार्ग से चलने की शक्ति प्राप्त होती थी—यही उनके नाम का स्पष्टीकरण दिया गया है।

पाटलिपुत्र के राजा मुरुण्ड की दीर्घकालीन शिरोवेदना पादलिप्त द्वारा घुटनो पर अँगुली घुमाने से शान्त हो गयी थी। इस प्रसंग का वर्णन करनेवाली गाथा वेदना-शामक मन्त्र के रूप में प्रसिद्ध हो गयी। इस राजा की सभा मे प्रदर्शित पादलिप्त के

बुद्धिचातुर्य की अनेक कथाएँ मिलती हैं।

प्रतिष्ठान के हाल राजा की सभा में पादलिप्त के सम्मान का उल्लेख ऊपर हुआ है। हाल द्वारा सम्पादित गाथासप्तशती की कुछ गाथाओं के कर्ता पादलिप्त (प्राकृत में पालित्त) कहे गये हैं। यही पर उन्होंने तरंगवती नामक विस्तृत प्राकृत कथा की रचना की। यह अब मूल रूप में प्राप्त नहीं है, लगभग एक हज़ार वर्ष बाद नेमिचन्द्र ने इसका जो संक्षिप्त रूपान्तर किया वह प्रकाशित हो गया है। प्रेम और वैराग्य दोनो का सुन्दर वर्णन इसमें मिलता है। प्राकृत भाषा में ललित साहित्य रचना का यह सबसे प्राचीन विस्तृत उदाहरण है। ज्योतिष्करण्डक टीका, निर्वाणकलिका और प्रश्नप्रकाश ये पादलिप्त के अन्य ग्रन्थो के नाम कहे गये हैं।

विख्यात रसायनवेत्ता नागार्जुन ने पादलिप्त की सेवा की तथा गुरु के सम्मान में शत्रुंजय पर्वत की तलहटी मे पालित्ताणय नगर की स्थापना की ऐसी भी कथा है। इस समय निर्मित महावीरमन्दिर मे पादलिप्त द्वारा रचित चार गाथाओ की महावीर-स्तुति सुप्रसिद्ध है।

खपुट

आवश्यकनिर्युक्ति में विद्यासिद्ध के उदाहरण के रूप मे खपुट का उल्लेख हुआ है। इनकी कथा प्रभावकचरित मे पादलिप्त कथा के अन्तर्गत मिलती है। प्रबन्धकोश के एक प्रबन्ध मे भी यह कथा है। इसी का यहाँ सार दिया जाता है।

भृगुकच्छ नगर मे बलमित्र राजा के राज्य में बौद्ध तर्कज्ञ आचार्यों का बडा प्रभाव था। खपुट के शिष्य भुवन ने उन्हें वाद में पराजित किया। उनकी मदद के लिए गुडशस्त्रपुर से आये हुए वृद्धकर नामक वादी की भी पराजय हुई। अपमान से क्षुब्ध होकर उसने अनशन से देहत्याग किया। वह यक्ष हुआ। गुडशस्त्रपुर में वह यक्ष पूर्वजन्म के वैर से जैनो को कष्ट देने लगा। संघ की प्रार्थना से खपुट वहाँ गये और उस यक्ष की मूर्ति के कानो मे पादत्राण बाँधकर सो गये। वहाँ के राजा ने इस अपमान से क्रुद्ध होकर जब उन्हे पीटने का आदेश दिया तब उनके शरीर पर की गयी चोटो का तो कोई असर नही हुआ बल्कि उनसे राजा के अन्तःपुर की स्त्रियाँ ही आहत हुई। तब राजा ने खपुट को महान् सिद्ध समझ कर उनसे क्षमा माँगी और उनका सम्मान किया। उनकी मन्त्रशक्ति से यक्ष का उपद्रव तो दूर हुआ ही, उसकी पाषाण मूर्ति उन्हें विदा करने नगर के द्वार तक आयी जिसे देखकर लोग विस्मयचकित हुए।

उस समय पाटलिपुत्र में दाहड नामक राजा ने जैन मुनियों को आदेश दिया था कि वे ब्राह्मणो को प्रणाम करें। इसे मुनिचर्या के विरुद्ध समझकर वहाँ के संघ ने इस संकट से रक्षा करने हेतु खपुट को सन्देश भेजा। उन्होंने अपने शिष्य महेन्द्र को वहाँ भेजा। महेन्द्र ने लाल और सफेद कणेर की एक-एक शाखा लेकर राजा की सभा में प्रवेश किया। लाल शाखा को घुमाते हुए उन्होने कहा—पहले मैं इन्हें प्रणाम करूँ कि

इन्हें प्रणाम करूँ। ऐसा करते ही वहाँ बैठे हुए ब्राह्मणों के सिर टूटे हुए दिखाई दिये। तब राजा ने प्रभावित होकर महेन्द्र से क्षमा-याचना की। फिर उनके सफेद कणेर की शाखा घुमाते ही ब्राह्मण स्वस्थ हो गये।

मथुरा के शिल्पों से ज्ञात आचार्य

मथुरा के ककाली टीला नामक स्थान से उत्खनन में अनेक जैन स्तूपो और मन्दिरो के भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं। यहाँ की जिनमूर्तियाँ, स्तम्भ तथा सुन्दर नक्काशी से सुशोभित शिलापट्ट शिल्पकला की दृष्टि से बडे महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें से कई पर छोटे-बडे शिलालेख भी हैं। जिनकी तिथि निश्चित है ऐसी जिनमूर्तियों मे मथुरा की ये मूर्तियाँ सबसे प्राचीन है। इन शिलालेखो से इस शताब्दी के जिन आचार्यों का परिचय मिलता है उनके नाम इस प्रकार है—ईसवी सन् ८२ में वज्रनगरी शाखा के आचार्य पुष्यमित्र की शिष्याओ ने एक शिलापट्ट स्थापित किया था। सन् ८५ के एक लेख मे नागभूतिकीय कुल के गणी बुद्धश्री के शिष्य आर्य सन्धिक की भगिनी जया का नाम मिलता है। सन् ९३ मे स्थापित सर्वतोभद्र (चतुर्मुख) जिनमूर्ति के लेख में आर्य जयभूति की शिष्या संगमिका की शिष्या वसुला का निर्मात्री के रूप मे उल्लेख है। सन् ९७ के लेख मे वाचक बलदिन्न के शिष्य मातृदिन्न का प्रतिष्ठापक आचार्य के रूप में नामोल्लेख है। सन् ९८ में स्थापित महावीरमूर्ति के लेख मे कोटिक गण की वज्री शाखा के आचार्य सर्षसिह का नाम है। यह मूर्ति मतिल की पत्नी दिन्ना ने स्थापित की थी। सन् १०३ के लेख में उच्चनगरी शाखा के आचार्य बलत्रात के शिष्य सन्धि का नाम मिलता है। सन् १०८ के लेख मे आचार्य नागदत्त का उल्लेख है। सन् ११० मे स्थापित सर्वतोभद्र जिनमूर्ति की प्रतिष्ठा चारण गण के आर्य नन्दिक ने की थी। सन् ११८ में स्थापित एक स्तम्भ वज्रनगरी शाखा के महानन्दि की शिष्याओ ने बनवाया था। सन् १२२ के लेख में हारितमालाकारी शाखा के आचार्य नागसेन का नाम मिलता है। सन् १२५ मे प्रीतिधर्मिक कुल के वाचक ओघनन्दि के शिष्य सेन ने एक शिल्प स्थापित किया था। सन् १२८ मे आचार्य दिनर की शिष्या जिनदासी की शिष्या विजयश्री का नामोल्लेख मिलता है। सन् १३० के लेख मे वज्रीशाखा के आचार्य हस्तहस्ति के शिष्य मगुहस्ति के शिष्य दिविल का नाम मिलता है। सन् १३२ मे हस्तहस्ति के शिष्य माघहस्ति के शिष्य आर्यदेव ने सरस्वती प्रतिमा स्थापित की थी। सन् १४० के लेख में वाचक कर्कुहस्थ के शिष्य आतपिक ग्रहबल का नाम मिलता है। सन् १५७ मे स्थापित नन्द्यावर्त प्रतिमा के लेख में कोटिक गण की वज्री शाखा के आर्य वृद्धहस्ति का नाम मिलता है। इस लेख से यह भी ज्ञात होता है कि मथुरा का यह स्तूप उस समय देवनिर्मित माना जाता था। सन् १७१ मे गणिनन्दि के उपदेश से महावीरमूर्ति की स्थापना हुई थी। यहाँ के कुछ लेखो में निश्चित तिथि नही है, लिपिविशेषज्ञो ने ऐसे जिन लेखो का समय इस शताब्दी मे निर्धारित किया है उनमे भी

कई आचार्यों के नाम प्राप्त होते हैं। उच्चनगरी शाखा के आर्य ज्येष्ठहस्ति के शिष्य मिहिल का नाम दो मूर्तियों के लेखों में प्राप्त हुआ है। इसी शाखा के आर्य कुमारनन्दि के शिष्य मित्र का नाम एक लेख में मिलता है। मथुरा के इन लेखों से कल्पसूत्र में उल्लिखित गणो, कुलों और शाखाओं की ऐतिहासिकता प्रमाणित करने में सहायता मिली है। इनमें प्राप्त श्रावको, श्राविकाओं तथा आर्यिकाओं के उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण हैं जिनसे जैन संघ की व्यापकता और लोकप्रियता प्रमाणित होती है।

[जैन शिलालेख संग्रह भा. २ में संकलित इन लेखो का विस्तृत विवेचन डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी ने इसी ग्रन्थ के भाग ३ की प्रस्तावना में किया है, यहाँ के शिल्पो का वर्णन डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने मथुरा संग्रहालय के शिल्पों की सूची में प्रस्तुत किया है।]

अन्य आचार्य

जिनसेन के हरिवंशपुराण में अंगज्ञानी आचार्यों के बाद ग्रन्थकर्ता के समय तक २५ आचार्यों के नाम बताये हैं। इनमें से प्रथम चार विनयन्धर, गुप्तऋषि, शिवगुप्त और अर्हद्बलि ये आचार्य इस शताब्दी के धरसेन आदि के समकालीन माने जा सकते हैं।

इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार में अंगज्ञानी आचार्यों के बाद विनयदत्त, श्रीदत्त, शिवदत्त, अर्हद्दत्त, अर्हद्बलि और माघनन्दि इन आचार्यों के नाम प्राप्त होते हैं जिनकी उपर्युक्त नामो से काफी समानता है।

इन दोनो सूचियो में अर्हद्बलि का नाम समान है। श्रवणबेलगोल के शिलालेखो मे इनका वर्णन आता है। दक्षिण के जैन मुनिसंघ के नन्दि, सेन, सिंह और देव इन चार भेदो की व्यवस्था इन्हीं द्वारा स्थापित मानी जाती है। ये पुष्पदन्त और भूतबलि के गुरु थे ऐसा भी वर्णन मिलता है।

नन्दिसंघपट्टावली में भी धरसेन के पूर्व अर्हद्बलि और माघनन्दि का नाम दिया गया है।

कल्पसूत्र मे वज्रस्वामी के शिष्य रथ के बाद बताये गये पुष्यगिरि, फल्गुमित्र, धनगिरि, शिवभूति, भद्र और नक्षत्र ये आचार्य इस शताब्दी के माने जा सकते हैं।

नन्दीसूत्र में आर्य रक्षित के बाद बताये गये नन्दिल और नागहस्ती ये इस शताब्दी के आचार्य माने जाते हैं। नन्दिल की कथा प्रभावकचरित में विस्तार से बतायी है। इनके द्वारा रचित वैरोट्यादेवी की स्तुति के पठन से सर्पभय दूर होता है ऐसा कहा गया है। प्रबन्धकोष में भी यह कथा मिलती है। नागहस्ती का उल्लेख पादलिप्त के गुरु के रूप में ऊपर हो चुका है।

श्रीवीर निर्वाण संवत् की आठवीं शताब्दी

(ईसवी सन् १७३ से २७३)

कुन्दकुन्द

श्रीपद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यशब्दोत्तरकोण्डकुन्द ।
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चारित्रसंजातसुचारणर्द्धि.[1] ॥

दक्षिण भारत के जैन संघ मे असाधारण रूप से सम्मानित आचार्य कुन्दकुन्द का मूल नाम पद्मनन्दि था। कोण्डकुन्द यह उनके मूल स्थान का नाम था जो दक्षिण की परम्परानुसार उनके नाम के रूप मे प्रचलित हुआ तथा संस्कृत मे यही नाम कुन्दकुन्द इस रूप मे प्रसिद्ध हुआ। यह कोण्डकुन्द अब कोनकोण्डल कहलाता है तथा आन्ध्र प्रदेश के अनन्तपुर जिले मे स्थित है। यहाँ कई जैन शिलालेख प्राप्त हुए है। डॉ. देसाई ने जैनिज़्म इन साउथ इण्डिया मे इस स्थान का विस्तृत परिचय दिया है।

इन्द्रनन्दि कृत श्रुतावतार के अनुसार कुन्दकुन्द ने षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डो पर परिकर्म नामक व्याख्या-ग्रन्थ लिखा था। यह अभी उपलब्ध नही हो सका है। उनके उपलब्ध ग्रन्थो मे दशभक्ति तथा अष्टप्राभृत ये प्रारम्भिक रचनाएँ मालूम पड़ती है। दशभक्ति मे चौबीस तीर्थंकर, सिद्ध, श्रुत, चारित्र, पंचपरमेष्ठी, योगी तथा आचार्य इनकी स्तुतियो मे लगभग ८० गाथाएँ है—चैत्य, शान्ति तथा नन्दीश्वर भक्ति उपलब्ध नही है। अष्टप्राभृत में दर्शन, सूत्र, चारित्र, बोध, भाव, मोक्ष, लिंग और शील इन आठ शीर्षको के प्राभृत नामक प्रकरण है, इनमें से पहले छह षट्प्राभृत इस नाम से भी प्रकाशित हुए है। भाव और मोक्ष ये दो प्रकरण अन्य छह की तुलना मे विस्तृत और प्रभावपूर्ण शैलीमे है। इन आठ प्राभृतो मे ५०२ गाथाएँ है। द्वादशानुप्रेक्षा में जगत् की अनित्यता आदि बारह चिन्तन-विषयो का ९० गाथाओ में वर्णन है। इस विषय पर आगे चलकर कई आचार्यों ने रचनाएँ लिखी है। नियमसार में आध्यात्मिक दृष्टि से साधुजीवन के विविध अंगो—ध्यान, प्रत्याख्यान, तपस्या आदि का १८६ गाथाओ मे वर्णन मिलता है। पचास्तिकाय मे दो भागो मे १७३ गाथाएँ है, प्रथम भाग मे छह द्रव्यो का और दूसरे भाग मे नौ पदार्थों का विवरण मिलता है। प्रवचनसार मे ज्ञान, ज्ञेय तथा चारित्र इन तीन प्रकरणो मे २७५ गाथाएँ है। सर्वज्ञ के दिव्य ज्ञान और

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, पृ ३४—यह श्लोक सन् ११७७ के शिलालेख में है। ऐसे ही अर्थ के श्लोक अन्य छह लेखों में हैं।

उनके द्वारा उपदिष्ट द्रव्य-स्वरूप का प्रभावी समर्थन इसमें प्राप्त होता है। कुन्दकुन्द की सबसे महत्त्वपूर्ण रचना समयप्राभृत या समयसार में ४३७ गाथाएँ हैं। निश्चयनय और व्यवहारनय की विभिन्न दृष्टियों से आत्मतत्त्व का मूलग्राही विवेचन इसमें मिलता है। जैन परम्परा में अध्यात्म ग्रन्थों की रचना का यह आदर्श रहा है।

आगमो के पठन-पाठन की पुरानी परम्परा में कुन्दकुन्द के ग्रन्थ युगान्तरकारी प्रतीत होते है। तत्त्वविवेचन की मौलिक गम्भीरता को बनाये रखते हुए सुसंगत, संक्षिप्त और सुबोध शैली में लिखे गये उनके प्राभृत वास्तव में जैन श्रुत के लिए बहुमूल्य प्राभृत (भेंट) सिद्ध हुए।

शीर्षकनिर्दिष्ट श्लोक के अनुसार कुन्दकुन्द को चारण ऋद्धि प्राप्त हुई थी। देवसेन कृत दर्शनसार की एक गाथा मे कहा गया है कि उन्होने सोमन्धर स्वामी से दिव्य ज्ञान प्राप्त किया था।

[रायचन्द्र शास्त्रमाला में प्रकाशित प्रवचनसार के सस्करण में डॉ उपाध्ये ने कुन्दकुन्द का विस्तृत परिचय दिया है।]

विमल

ये नाइल कुल के आचार्य राहु के शिष्य विजय के शिष्य थे। पूर्व ग्रन्थो मे वर्णित नारायणो और बलदेवो के चरितो का अध्ययन करने के बाद उन्होने पउमचरिय (पद्मचरित) नामक विस्तृत ग्रन्थ की रचना की। वाल्मीकिरचित रामायण में रावण आदि राक्षसो का नरभक्षक होना, कुम्भकर्ण का छह महीने सोना, इन्द्र आदि देवो का जीता जाना इत्यादि अद्भुत बातो का वर्णन है जिससे रामकथा कविकल्पना मात्र प्रतीत होती है। इससे व्याप्त लोकभ्रम को दूर करना तथा रामकथा का जैन परम्परा मे मान्य बुद्धिसगत स्वरूप प्रकट करना यह विमल की रचना का उद्देश्य है। किन्तु यह केवल रामायण का रूपान्तर मात्र नही है। प्रथम जैन पुराण ग्रन्थ होने के कारण इसका अपना महत्त्व है। ऋषभदेव, अजित, मुनिसुव्रत एव महावीर इन तीर्थंकरो, भरत, सगर, सनत्कुमार, हरिषेण इन चक्रवर्तियो तथा सजयन्त, कुलभूषण-देशभूषण, अनन्तवीर्य, सुकोशल आदि मुनियो के प्रभावोत्पादक कथानक इसमें उपलब्ध होते हैं। साथ ही ६३ शलाकापुरुषो से सम्बद्ध जो नामावलियाँ इसके पर्व २० में दी है उनसे मालूम होता है कि जैन पुराण कथाओ का तबतक काफी विस्तार हो चुका था। ११८ पर्वों तथा ८६५१ गाथाओ का यह ग्रन्थ प्राकृत भाषा के साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से भी पठनीय है। कहा जाता है कि विमल ने कृष्णकथा का जैन-परम्परागत स्वरूप भी हरिवश नामक ग्रन्थ में निबद्ध किया था। यह उपलब्ध नही हुआ है

[प्राकृत ग्रन्थ परिषद् द्वारा प्रकाशित पउमचरिय के संस्करण में डॉ. कुलकर्णी का विमल के विषय में विस्तृत निबन्ध है।]

अन्य आचार्य

कल्पसूत्र में उल्लिखित आचार्यों में इस शताब्दी के अन्तर्गत रक्ष, नाग, जेहिल, विष्णु, कालक और भद्र इनके नाम रखे जा सकते हैं।

नन्दीसूत्र में उल्लिखित रेवतीनक्षत्र तथा अचलपुर के सिंह ये इस शताब्दी के आचार्य हैं।

हरिवंशपुराण की गुरुपरम्परा में उल्लिखित मन्दर, मित्रवीर, बलदेव तथा बलमित्र इस शताब्दी के आचार्य माने जा सकते हैं।

श्रीवीर निर्वाण संवत् की नौवीं शताब्दी

[ईसवी सन् २७३ से ३७३]

गृध्रपिच्छ उमास्वाति

भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद लगभग आठ शताब्दियो तक जैन साहित्य की भाषा प्राकृत रही। इस दीर्घकाल के अधिकाश राजाओं के लेखों में भी इसी भाषा का प्रयोग मिलता है। किन्तु धीरे-धीरे इस स्थिति मे परिवर्तन हुआ। प्राचीन सस्कृत भाषा का एक नया रूप विकसित हुआ जिसे राजसभाओ, कवियों और पण्डितो की गोष्ठियो में स्थान मिला और उच्च वर्ग की प्रतिष्ठित भाषा का स्तर प्राप्त हुआ। बौद्ध और जैन पण्डितो ने भी इस साहित्यिक सस्कृत को अपनाया और अपने विशाल धार्मिक साहित्य से उसे समृद्ध बनाया। इस भव्य परम्परा का आरम्भ जैन संघ मे उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र से हुआ। ३५७ सूत्रों के इस छोटे-से ग्रन्थ में विशाल आगम साहित्य का सार बडी कुशलता से ग्रथित किया गया है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वो का स्वरूप संक्षिप्त और सुनिश्चित पद्धति से स्पष्ट करनेवाला यह ग्रन्थ समग्र जैन संघ में अत्यन्त सम्मानित हुआ। इसके पठन मात्र को उपवास के समान पुण्यकार्य माना गया। इसके कर्ता श्रुतकेवली के समकक्ष माने गये। अकलक, विद्यानन्द आदि समर्थ विद्वानो ने इसपर विस्तीर्ण व्याख्याग्रन्थ लिखे।

तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम भाष्य के अन्त में उसके कर्ता के विषय में निम्नलिखित बातें कही गयी हैं—वाचकमुख्य शिवश्री के शिष्य ग्यारह अंगों के ज्ञाता घोषनन्दिक्षमण उमास्वाति के गुरु थे। अध्ययन की दृष्टि से महावाचक क्षमण मुण्डपाद के शिष्य वाचकाचार्य मूल उनके गुरु थे। न्यग्रोधिका में उनका जन्म हुआ था। कौभीषणि गोत्र के स्वाति और वात्सी के वे पुत्र थे तथा उच्चैर्नागर शाखा में वाचक पद उन्हे प्राप्त हुआ था। उन्होने कुसुमपुर में विहार करते हुए इस ग्रन्थ को स्पष्ट किया। कुसुमपुर प्राचीन मगध साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) का नामान्तर था। दक्षिण में मद्रास के समीप के कुड्डलोर नगर का पुराना नाम तिरुप्पादिरिप्पुलियूर भी इसी अर्थ का था। इन्ही दो में से किसी एक नगर में यह ग्रन्थ लिखा गया होगा।

वीरसेन और विद्यानन्द ने तत्त्वार्थकर्ता का नाम गृध्रपिच्छ बताया है। श्रवणबेलगोल के अनेक शिलालेखो के अनुसार गृध्रपिच्छ यह उमास्वाति का ही दूसरा नाम था। इन लेखो में उनके शिष्य बलाकपिच्छ की भी प्रशंसा मिलती है। यहाँ के

लेख क्र. १०८ में कहा गया है कि बलाकपिच्छ को तपस्या से महर्षि प्राप्त हुई थी जिससे उनके शरीर से स्पर्श हुई वायु भी विष के प्रभाव को दूर कर देती थी। यह लेख सन् १४३३ का है।

संस्कृत में उमास्वाति का एक और ग्रन्थ प्रशमरति भी सुप्रसिद्ध है। मुनि के आदर्श आचार-विचारो का सुन्दर प्रतिपादन इसमे प्राप्त होता है।

[तत्त्वार्थसूत्र के विभिन्न संस्करणो में ग्रन्थकर्ता के परिचय की दृष्टि से पं सुखलाल व प. फूलचन्द्र की भूमिकाएँ महत्त्वपूर्ण है। पं. प्रेमी ने जैन साहित्य और इतिहास में एक विस्तृत निबन्ध मे इस विषय की चर्चा की है।]

सिंहनन्दि

दक्षिणदेशनिवासी गंगमहीमण्डलिककुलसंधरण.।
श्रीमूलसंघनाथो नाम्ना श्रीसिंहनन्दिमुनि.॥[1]

मैसूर प्रदेश के शिमोगा जिले मे स्थित निदिगि ग्राम से प्राप्त शिलालेख मे यह श्लोक है। इसी आशय का वर्णन अन्य अनेक लेखो मे है। इससे ज्ञात होता है कि इस प्रदेश के पहले ऐतिहासिक राजवश—गंगवंश के संस्थापक माधववर्मा सिंहनन्दि के शिष्य थे। श्रवणबेलगोल के मल्लिषेण प्रशस्ति शिलालेख मे कहा गया है कि सिंहनन्दि ने मानो अपना ध्यानरूपी खड्ग ही शिष्य को दे दिया जिससे वह राज्यलक्ष्मी की प्राप्ति मे विघ्नस्वरूप शिलास्तम्भ को तोड सका। यह एक रूपकात्मक वर्णन है जिसका तात्पर्य यही हो सकता है कि राज्यस्थापना के गुरुतर कार्य मे गुरु के आशीर्वाद और विचार-विमर्श से माधववर्मा को सफलता प्राप्त हुई। माधववर्मा के वशजो ने भी समय-समय पर अनेक जैन आचार्यों का सम्मान किया जिनका आगे यथास्थान उल्लेख होगा। राज्यारम्भ के पूर्व माधववर्मा ने जहाँ गुरु से भेंट की थी वह स्थान आन्ध्र प्रदेश के कडप्पा जिले मे गगपेरूर नाम से जाना जाता है।

[डॉ. देसाई ने जैनिज्म इन साउथ इण्डिया मे इस स्थान का परिचय दिया है।]

स्कन्दिल और नागार्जुन

दीर्घकालीन दुष्काल के कारण आगमो के अध्ययन मे बाधा उपस्थित हुई ऐसा देखकर आचार्य स्कन्दिल ने वीर संवत् ८३० मे मथुरा मे ज्ञानवृद्ध साधुओ का एक सम्मेलन आयोजित किया तथा आगमो के पाठ को व्यवस्थित रूप से सकलित किया। लगभग इसी समय सौराष्ट्र की राजधानी वलभी नगर में (जो इस समय भावनगर के समीप वला 'नामक छोटा-सा गाँव है) नागार्जुन आचार्य ने भी ऐसा ही प्रयास किया। स्कन्दिल द्वारा निश्चित आगमो के पाठ को माथुरी वाचना कहते थे तथा नागार्जुन के पाठ को नागार्जुनी या प्रथम वालभी वाचना कहते थे। इन दोनों पाठो के छोटे-मोटे

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, पृष्ठ ३६३।

अन्तर आगमों की टीकाओं में बताये गये है। नन्दीसूत्र में इन दोनों आचार्यों की भाव-पूर्ण शब्दों में प्रशंसा की गयी है।

अन्य आचार्य

नन्दीसूत्र में स्कन्दिल और नागार्जुन के साथ हिमवन्त आचार्य की भी प्रशंसा मिलती है।

कल्पसूत्र में उल्लिखित वृद्ध, संघपालित, हस्ति, धर्म, सिंह और शाण्डिल्य इस शताब्दी के आचार्य माने जा सकते हैं।

हरिवंशपुराण की गुरु-परम्परा के सिंहबल, वीरवित्, पद्मसेन तथा व्याघ्रहस्ति इस शताब्दी में रखे जा सकते हैं।

राजगृह के वैभारपर्वत के समीप सोनभण्डार गुहा के द्वार पर एक शिलालेख प्राप्त हुआ है जो अक्षरो की बनावट के आधार पर इस शताब्दी का माना गया है। इसमें गुहा के निर्माण का श्रेय आचार्यरत्न वैरदेव को दिया गया है।

[जैनशिलालेख संग्रह, भा. ३, प्रस्तावना, पृष्ठ १४१]

श्रीवीर निर्वाण संवत् की दसवीं शताब्दी

[ईसवी सन् ३७३ से ४७३]

समन्तभद्र

वन्द्यो भस्मकभस्मसात्कृतिपटु. पद्मावतीदेवता-
दत्तोदात्तपदः स्वमन्त्रवचनव्याहूतचन्द्रप्रभ. ।
आचार्यः स समन्तभद्रगणभृद् येनेह काले कलौ
जैन वर्त्म समन्तभद्रमभवद् भद्रं समन्तान्मुहु. ॥[1]

तत्त्वार्थसूत्र से जैन साहित्य में संस्कृत का उपयोग प्रतिष्ठित हुआ। इस परम्परा में दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान समन्तभद्र के ग्रन्थो का है। इसके साथ ही तत्त्वविवेचन मे तर्कशास्त्र के विस्तृत उपयोग का प्रारम्भ उन्ही से हुआ था।

आप्तमीमासा या देवागमस्तोत्र यह समन्तभद्र की कृति युगप्रवर्तक सिद्ध हुई। भगवान् महावीर की श्रेष्ठता उनके निर्दोष उपदेशो के कारण है इस भूमिका से तर्क-दृष्टि का उपयोग करते हुए जैन सिद्धान्तो का प्रतिपादन इस रचना मे किया गया है। स्याद्वाद का विस्तृत विवरण और समर्थन सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ मे प्राप्त होता है।

युक्त्यनुशासन यह समन्तभद्र की कृति भी तर्कसमन्वित वीरस्तुति के स्वरूप मे है। एकान्तवादो के विविध रूपो के दोष स्पष्ट करते हुए इसमे वीरप्रभु के अनेकान्तात्मक सर्वोदय तीर्थ के गुण स्पष्ट किये है।

स्वयम्भूस्तोत्र में सुन्दर अलंकृत भाषा मे चौबीस तीर्थंकरो का गुणगान है। पुराणकथाओ के संक्षिप्त उल्लेखो के साथ इसमे भी तर्कदृष्टि से तीर्थंकरो के उपदेशो का स्पष्टीकरण प्राप्त होता है। भक्ति का निर्दोष स्वरूप और आत्मोन्नति के लिए प्रेरक शक्ति के रूप मे भक्ति का महत्त्व इस स्तोत्र में सुन्दर रीति से स्पष्ट हुआ है।

जिनस्तुतिशतक मे भी चौबीस तीर्थंकरो की स्तुति है। इसकी रचना चित्रकाव्य के रूप मे हुई। चक्र, कमल, मृदग आदि आकृतियो मे इसके श्लोक लिखे जाते है। समग्र सस्कृत साहित्य मे चित्रकाव्य के विस्तृत प्रयोग का यह पहला उदाहरण है।

समन्तभद्र की पांचवी कृति रत्नकरण्ड मे मुक्ति के मार्ग के रूप मे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का सुबोध विवरण मिलता है। चारित्र के विवरण मे गृहस्थो के

---

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, पृ १०२, यह शिलालेख सन् ११२८ का है तथा श्रवणबेलगोल के चन्द्रगिरि पर्वत पर स्थित पार्श्वनाथमन्दिर में है। यह लेख मल्लिषेण प्रशस्ति के नाम से प्रसिद्ध है।

धर्माचरण का आदर्श विस्तार से स्पष्ट किया है। इसी से इसे श्रावकाचार इस नाम से भी प्रसिद्धि मिली है।

इस प्रकार समन्तभद्र के उपलब्ध ग्रन्थों की कुल श्लोक संख्या पाँच सौ से कुछ ही अधिक है किन्तु अपनी मौलिकता के कारण वे सभी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए है। अकलंक, विद्यानन्द, वसुनन्दि, प्रभाचन्द्र आदि समर्थ विद्वानों ने उनपर व्याख्याएँ लिखी हैं। जैन साहित्यिकों ने मुक्तकण्ठ से उनकी प्रशंसा की है।

आप्तमीमासा की एक प्रति में समन्तभद्र को उरगपुर (वर्तमान उरैयूर जो तमिलनाडु में है) के राजकुमार कहा है। जिनस्तुतिशतक के एक श्लोक से उनका मूल नाम शान्तिवर्मा ज्ञात होता है। शीर्षकनिर्दिष्ट श्लोक के अनुसार उन्होने भस्मक व्याधि पर विजय प्राप्त किया तथा पद्मावती देवी से उदात्त पद प्राप्त कर अपने मन्त्रयुक्त वचनों से चन्द्रप्रभ की मूर्ति प्रकट की। इसका विवरण प्रभाचन्द्र के कथाकोश मे मिलता है जिसमें कहा गया है कि भस्मक व्याधि के शमन के लिए वेशपरिवर्तन कर समन्तभद्र ने कई स्थानो में भ्रमण किया था। वाराणसी के शिवमन्दिर में विपुल नैवेद्य से उनका रोग शान्त हुआ। वहाँ के राजा ने जब उन्हें शिव को प्रणाम करने की आज्ञा दी तब उन्होंने स्वयम्भूस्तोत्र की रचना की। उसी में चन्द्रप्रभस्तुति के पठन के समय शिवलिंग से चन्द्रप्रभ की मूर्ति प्रकट हुई थी। बाद मे जैन दर्शन की श्रेष्ठता प्रस्थापित करते हुए समन्तभद्र ने पाटलिपुत्र (पटना), मालव, सिन्धु, ठक्क (पंजाब), काची, विदिशा तथा करहाटक (कर्हाड, महाराष्ट्र) के वादों में विजय प्राप्त किया ऐसा वर्णन भी शीर्षकनिर्दिष्ट श्लोक के बाद श्रवणबेलगोल के उपर्युक्त शिलालेख में दिया गया है।

इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार के अनुसार समन्तभद्र ने षट्खण्डागम के पहले पाँच खण्डो पर विस्तृत संस्कृत व्याख्या लिखी थी। जिनसेन के हरिवंशपुराण में उनके जीवसिद्धि नामक ग्रन्थ की प्रशंसा मिलती है। चामुण्डराय आदि अनेक लेखको ने तत्त्वार्थ पर उनके भाष्य का उल्लेख किया है। ये तीनो रचनाएँ अभी प्राप्त नही हो सकी है। उग्रादित्य ने कल्याणकारक में उनके वैद्यकशास्त्र का उल्लेख किया है। यह भी प्राप्त नही है।

[समन्तभद्र के विभिन्न ग्रन्थो के लिए पं मुख्तार द्वारा लिखी गयी प्रस्तावनाएँ ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।]

सिद्धसेन

समन्तभद्र द्वारा प्रवर्तित तर्कपूर्ण स्तुतियो की परम्परा में दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान सिद्धसेन की द्वात्रिंशिकाओ का है। इनकी संख्या इक्कीस है। इनकी भाषा भी साहित्यिक सुन्दरता और तर्क के प्रभावी प्रयोग से युक्त है। इनमें से पहली पाँच द्वात्रिंशिकाओं मे वीरस्तुति है और इनकी स्वयम्भूस्तोत्र से विशेष समानता है। छठी द्वात्रिंशिका में परम्परावादी स्वपक्ष के आग्रही पण्डितो की आलोचना करते हुए नूतन तर्कपद्धति का

समर्थन है। सातवीं और आठवी द्वात्रिंशिका में वादसभा के स्वरूप और विजय की पद्धति के विषय में मार्मिक विवेचन है। नौवी द्वात्रिंशिका सम्भवत. सिद्धसेन के पूर्वाश्रम की कृति है क्योकि इसमें उपनिषदो की भाषा-शैली में परमात्मा का स्वरूप वर्णित है। दसवी द्वात्रिंशिका मे मुक्तिमार्ग मे साधु की प्रगति का संक्षिप्त वर्णन किया है। ग्यारहवी द्वात्रिंशिका में भावपूर्ण अलकृत भाषा में किसी राजा को प्रशसा है। विद्वानो का अनुमान है कि इसमे वर्णित राजा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य है। बारहवी द्वात्रिंशिका में वाद मे जय-पराजय के कारणो का वर्णन है। तेरहवी द्वात्रिंशिका में साख्य, चौदहवी में वैशेषिक, पन्द्रहवी मे बौद्ध व सोलहवी मे नियतिवादी दर्शन के तत्त्ववर्णन की समीक्षा प्राप्त होती है। सत्रहवी व अठारहवी द्वात्रिंशिका मे ज्ञान और चारित्र की साधना का संक्षिप्त वर्णन है। उन्नीसवी द्वात्रिंशिका में जैन तत्त्वव्यवस्था मे कुछ मौलिक सशोधन सुझाये हैं इसलिए इसके कर्ता यही सिद्धसेन थे इसमे सन्देह होता है। बीसवी द्वात्रिंशिका में जीव के स्वरूप और मुक्तिमार्ग के विषय मे दार्शनिक विचारो की समीक्षा है। इक्कीसवी द्वात्रिंशिका में जिनस्तुति है। शैली बिलकुल भिन्न होने के कारण इसके कर्ता के विषय में भी सन्देह है।

समन्तभद्र की कथा से मिलती-जुलती कथा सिद्धसेन के विषय में भी प्राप्त होती है। प्रभावकचरित, प्रबन्धचिन्तामणि और प्रबन्धकोश में इस कथा के तीन रूप मिलते है। इनके अनुसार सिद्धसेन का जन्म दक्षिण के ब्राह्मण कुल मे हुआ था। वृद्धवादी से वाद मे पराजित होने पर ये उनके शिष्य हो गये। एक बार इन्होंने आगमो का सस्कृत अनुवाद करने की इच्छा प्रकट की। इसके फलस्वरूप इन्हे बारह वर्ष के लिए संघ से निष्कासित किया गया। तब वेश-परिवर्तन कर परिभ्रमण करते हुए वे उज्जयिनी पहुँचे। वहाँ के महाकाल-मन्दिर में राजा विक्रमादित्य ने उन्हे शिव को प्रणाम करने की आज्ञा दी। तब उन्होने जो द्वात्रिंशिका पढी उसके फलस्वरूप शिवलिंग से जिनमूर्ति प्रकट हुई। सिद्धसेन के इस प्रभाव से राजा चमत्कृत हुए और दोनो का सम्बन्ध घनिष्ठ हुआ। एक बार राजा ने उन्हे एक कोटि सुवर्ण मुद्राएँ अर्पित की। आचार्य ने उन्हे मालव प्रदेश के लोगो को ऋणमुक्त करने मे व्यय करने का आदेश दिया। आयु के अन्तिम समय मे सिद्धसेन प्रतिष्ठान गये थे।

सन्मतिसूत्र और न्यायावतार ये दो ग्रन्थ भी सिद्धसेन के नाम से प्रसिद्ध हैं किन्तु इनके कर्ता द्वात्रिंशिकाओ के रचयिता ही है इस विषय मे सन्देह है। फिर भी ये दोनो ग्रन्थ अपना विशेष महत्त्व रखते है। सन्मति में १६७ प्राकृत गाथाओ मे नयवाद का सुन्दर प्रतिपादन है। साख्य और बौद्ध-जैसे परस्पर विरोधी विचारो मे कितना सत्याश है यह देखकर उनका समन्वय करने का सफल प्रयास सन्मति में किया गया है। जीव के गुणो और पर्यायो का इसका विवेचन भी महत्त्वपूर्ण है। न्यायावतार में ३२ संस्कृत श्लोको मे प्रमाणो का सक्षिप्त विवेचन है। जैन साहित्य मे प्रमाण-विवेचन सर्व-प्रथम इसी ग्रन्थ में मिलता है। प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन भेदो मे इस

ग्रन्थ में प्रमाणों का विभाजन किया गया है। द्वात्रिंशिकाओं के बाद कुछ दशकों के अन्तर से इन दोनों ग्रन्थों की रचना हुई थी।

[सिद्धसेन-न्यायावतार एण्ड अदर वर्क्स की भूमिका मे डॉ. उपाध्ये ने इस विषय के संशोधन का नवीनतम विवेचन प्रस्तुत किया है।]

जीवदेव

प्रभावकचरित और प्रबन्धकोश मे विक्रमादित्य से सम्बन्धित सिद्धसेन की कथाएँ मिलती हैं जिनका ऊपर उल्लेख किया है। इन दोनों ग्रन्थों में विक्रमादित्य के समकालीन के रूप मे वर्णित जीवदेव की कथा का सार यहाँ दिया जा रहा है।

जीवदेव का जन्म गुजरात के वायट नगर में हुआ था। महापुरुष-लक्षणो के रूप में सामुद्रिक शास्त्र में वर्णित बत्तीस लक्षणो से वे युक्त थे। एक योगी ने उन्हे देखकर अपनी मन्त्रसाधना के लिए उनके सिर का अस्थिकपाल प्राप्त करना चाहा। वह जब प्रवचनस्थल पर पहुँचा तब आचार्य के एक शिष्य का व्याख्यान चल रहा था। योगी ने मन्त्रशक्ति से उसकी जिह्वा स्तम्भित कर दी। जीवदेव भी सिद्ध मन्त्रज्ञ थे। उन्होने शिष्य की जिह्वा को तो मुक्त किया ही, उस योगी को अपने स्थान पर स्तम्भित कर दिया। बाद मे जब उसने क्षमायाचना की तब उसे छोड दिया। साथ ही अपने शिष्यवर्ग को उससे दूर रहने का आदेश दिया। एक बार दो साध्वियाँ असावधानी से उस योगी के आश्रम के पास गयी तो उसने मन्त्रशक्ति से उन्हे आकृष्ट कर अपने पास रखा। आचार्य को यह ज्ञात होते ही उन्होने दर्भ से योगी की प्रतिकृति बनाकर उसका हाथ तोडा, फलस्वरूप आश्रम मे बैठे योगी का हाथ टूट गया। दुबारा लज्जित होकर उसने आचार्य से क्षमा माँगी और साध्वियो को मुक्त कर दिया। एक बार वायट के ब्राह्मणो ने एक मरती हुई गाय जिनमन्दिर के द्वार पर छोड दी। दूसरे दिन मन्दिर द्वार मे मरी गाय देखकर सब चिन्तित हुए। आचार्य ने मन्त्रशक्ति से उस गाय के शरीर को ब्राह्मणों के मन्दिर में पहुँचा दिया। उन्होने क्षमा माँगी तब पुन उस गाय को बाहर रास्ते पर छोड दिया।

विक्रमादित्य के मन्त्री निम्ब ने वायट के महावीर-मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया तथा जीवदेव के हाथो से उसकी प्रतिष्ठा करायी ऐसा भी इन कथाओ मे वर्णित है। वायट के एक श्रेष्ठी लल्ल द्वारा पिप्पलानक ग्राम में मन्दिर-निर्माण का तथा आचार्य द्वारा उसकी प्रतिष्ठा का भी विस्तृत वर्णन इन कथाओ मे है।

वट्टकेर

कुन्दकुन्द के समान वट्टकेर का नाम भी दक्षिण के किसी स्थान पर आधारित है। किन्तु इस स्थान के वर्तमान स्थान का निश्चय अभी नही हो पाया है। इनका मूलाचार मुनियो के आदर्श आचार-विचारो का वर्णन करनेवाला महत्त्वपूर्ण प्राकृत ग्रन्थ

है। बारह अंगो में से प्रथम आचार अंग का सार इसमें १२ अध्यायों में दिया गया है। व्रत, समिति, आवश्यक, अनुप्रेक्षा, समाधिमरण आदि का विस्तृत विवरण इसमें उपलब्ध होता है। वसुनन्दि की विस्तृत संस्कृत टीका के साथ यह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है।

सर्वनन्दि

प्राचीन भारत की विश्वस्वरूप सम्बन्धी मान्यताओं का वर्णन करनेवाला लोक-विभाग नामक प्राकृत ग्रन्थ सर्वनन्दि आचार्य ने लिखा था। इसकी रचना काची के पल्लववशीय राजा सिंहवर्मा के राज्य में सन् ४५८ मे हुई थी। मद्रास के समीपवर्ती पाटलिग्राम (वर्तमान कुडुलोर) में लिखित यह मूलग्रन्थ उपलब्ध नही है—लगभग एक हजार वर्ष बाद सिहसूर द्वारा किया गया उसका संस्कृत रूपान्तर प्रकाशित हो चुका है।

[प. प्रेमी ने जैन साहित्य और इतिहास में इन दोनों आचार्यों के विषय मे विस्तृत विवेचन किया है।]

देवर्धि

स्थूलभद्र, स्कन्दिल और नागार्जुन द्वारा आगमो के संकलन के लिए किये गये प्रयासो का उल्लेख ऊपर हो चुका है। वीर सवत् ९८० (पाठान्तर के अनुसार ९९३) में इस प्रकार का अन्तिम प्रयत्न देवर्धि के नेतृत्व मे वलभी[1] मे आयोजित सम्मेलन में हुआ। इस समय आचार आदि अग, प्रज्ञापना आदि उपाग, दशवैकालिक आदि मूलसूत्र तथा व्यवहार आदि छेदसूत्र इन आगमो का जो पाठ मिलता है वह देवर्धि द्वारा सम्पादित रूप मे ही है। ज्ञान के विभिन्न स्वरूपो का विवेचन करनेवाला नन्दीसूत्र नामक ग्रन्थ भी इन्ही की रचना है जो कई संस्करणो में प्रकाशित हो चुका है। इसके प्रारम्भ में आगमो की परम्परा जिन वाचकाचार्यों के माध्यम से प्राप्त हुई उनकी प्रशसात्मक गाथाएँ भी है जिनका पहले यथास्थान उल्लेख कर चुके है। ऊपर वर्णित नागार्जुन के बाद इस मे गोविन्द, भूतदिन्न, लोहित्य और दूसगणी इन आचार्यों को वन्दन किया है। कल्पसूत्र मे देवर्धि की प्रशसा मे एक गाथा है। इसके ऊपर उल्लिखित आचार्यों के बाद जम्बू, नन्दिय, देसिगणी, स्थिरगुप्त तथा कुमारधर्म इन आचार्यों के नाम है तथा अन्त में देवर्धि की स्तुति है।

अन्य आचार्य

इस शताब्दी के अन्य आचार्यों मे हरिवशपुराण की गुरुपरम्परा मे उल्लिखित नागहस्ती, नन्दिषेण, दीपसेन तथा धरसेन का समावेश होता है।

शिलालेखो से भी इस शताब्दी के कुछ आचार्यों का परिचय मिलता है। इनमे एक मध्यप्रदेश में विदिशा के निकट उदयगिरि पहाडी की गुहा में प्राप्त हुआ है। इसके

१ यह नगर उस समय सौराष्ट्र के मैत्रक वशीय राजाओं की राजधानी था। वर्तमान भावनगर के समीप वला नामक ग्राम के रूप में यह पहचाना गया है।

अनुसार आचार्य भद्र की परम्परा के गोशर्मा आचार्य के शिष्य शंकर ने सन् ४२६ में पार्श्वतीर्थंकर की प्रतिमा की स्थापना की थी। यह सुन्दर प्रतिमा अब भी उक्त गुहा में विद्यमान है। दूसरा लेख सन् ४३३ का है। यह मथुरा में प्राप्त जिनमूर्ति की स्थापना कोटिक गण की विद्याधरी शाखा के आचार्य दत्तिल के उपदेश से ग्रहमित्रपालित की पत्नी श्यामाढ्या ने की थी।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख ९१-९२]

कर्मप्रकृति और शतक नामक प्राकृत ग्रन्थों के रचयिता शिवशर्मा भी इसी शताब्दी के आचार्य माने जाते हैं। इन दो ग्रन्थो में जीवों के कर्मबन्ध का विवरण दिया गया है।

श्रीदत्त इस शताब्दी के प्रसिद्ध तपस्वी और वादी थे। इनका नाम पूज्यपाद के जैनेन्द्रव्याकरण में उल्लिखित है। जिनसेन के आदिपुराण में इनकी प्रशंसा में एक श्लोक है। विद्यानन्द के तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के अनुसार इन्होंने ६३ वादियों को पराजित किया था। इनका ग्रन्थ जल्पनिर्णय अभी प्राप्त नही हुआ है।

श्रीवीर निर्वाण संवत् की ग्यारहवीं शताब्दी

[ईसवी सन् ४७३ से ५७३]

यतिवृषभ

कषायप्राभृत के चूर्णिसूत्र के कर्ता के रूप में यतिवृषभ का उल्लेख ऊपर हो चुका है। इनका दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ती है। आठ हजार श्लोको जितने विस्तृत इस प्राकृत ग्रन्थ मे स्वर्ग, पृथ्वी और नरक इन तीनो लोको के सम्बन्ध मे प्राचीन मान्यताओ का विस्तृत वर्णन है। यह दो खण्डो मे प्रकाशित हो चुका है। गणित के विषय मे दो हजार श्लोको मे षट्करणस्वरूप यह ग्रन्थ भी यतिवृषभ ने लिखा था जो उपलब्ध नही है। तिलोयपण्णत्ती मे वीर सवत् १००० तक के भारतीय राजवंशो का उल्लेख है—इसके कुछ ही वर्ष बाद इस ग्रन्थ की रचना हुई होगी।

हरिषेण के कथाकोश मे प्राप्त एक कथा के अनुसार यतिवृषभ श्रावस्ती नगर मे राजा जयसेन को धर्मोपदेश देने गये थे। वहा किसी शत्रु द्वारा भेजे गये एक गुप्तचर ने यतिवृषभ के शिष्य का वेश धारण कर राजा की एकान्त मे हत्या कर दी। तब जैन सघ को राजघात के कलक से बचाने के लिए यतिवृषभ ने आत्मबलिदान किया था।

[तिलोयपण्णत्ती की प्रस्तावना मे डॉ हीरालाल जैन व डॉ उपाध्ये ने ग्रन्थकर्ता व ग्रन्थ के बारे मे विस्तृत विवेचन किया है। प प्रेमी का जैन साहित्य और इतिहास मे सकलित निबन्ध भी महत्त्वपूर्ण है।]

शिवार्य

शीतीभूत जगद् यस्य वाचाराध्य चतुष्टयम्।
मोक्षमार्गं स पायान्न शिवकोटिमुनीश्वर ॥

—जिनसेन–महापुराण प्रारम्भ

आराधना नामक महत्त्वपूर्ण प्राकृत ग्रन्थ की रचना शिवार्य ने की थी। ये जिननन्दि, सर्वगुप्त और मित्रनन्दि के शिष्य थे। जिनसेन के उपर्युक्त श्लोक के अनुसार इनका नाम शिवकोटि इस रूप मे भी प्रसिद्ध था।

आराधना—जिसे भगवती आराधना भी कहा जाता है—२१७० गाथाओ का ग्रन्थ है। समाधिमरण के विस्तृत विवेचन से इसका प्रारम्भ होता है। जैन मुनियो की आचारपद्धतियो का—जिनमे नग्नता, केशलोच, अस्नान आदि अभी भी जैनेतर समाज

की दृष्टि में लोकविलक्षण प्रतीत होती हैं—भावपूर्ण समर्थन इस ग्रन्थ की विशेषता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चार आराधनाओं का विस्तृत विवरण इसमें मिलता है। इस सम्बन्ध में अनेक पुरातन कथाओ के उल्लेख भी शिवार्य ने किये है। आगे चलकर आराधना की गाथाओं के दृष्टान्तों के रूप में अनेक कथाकोशों की रचना हुई। आराधना पर अपराजित, आशाधर तथा शिवजीलाल की संस्कृत टीकाएँ मिलती हैं। अमितगति ने इसका संस्कृत में रूपान्तर किया था।

शिवार्य ने संस्कृत में सिद्धिविनिश्चय नामक ग्रन्थ भी लिखा था ऐसा शाकटायन के व्याकरण से ज्ञात होता है, यह अभी प्राप्त नही हुआ है।

[प प्रेमी के जैन साहित्य और इतिहास में आराधना पर विस्तृत निबन्ध है।]

पूज्यपाद

श्रीपूज्यपादमुनिरप्रतिमौषधर्द्धि जीयाद् विदेहजिनदर्शनपूतगात्रः।
यत्पादधौतजलसंस्पर्शप्रभावात् कालायसं किल तदा कनकीचकार॥[1]

इनका मूल नाम देवनन्दि था। उत्कृष्ट बुद्धि के कारण जिनेन्द्रबुद्धि तथा लोकपूजित होने से पूज्यपाद ये उनके अन्य नाम प्रसिद्ध हुए।

पूज्यपाद ने जैन साहित्य में अनेक नये विषयो का प्रारम्भ किया। उनका जैनेन्द्र व्याकरण संस्कृत भाषा के व्याकरण के क्षेत्र में किसी जैन विद्वान् द्वारा किया गया पहला प्रयास है। छन्दो के विषय मे उनकी कोई रचना थी जिसकी जयकीर्ति आदि छन्द शास्त्रज्ञो ने चर्चा की है, यह अभी प्राप्त नही हुई है। इसी प्रकार उनके वैद्यकशास्त्र का उग्रादित्य आदि ने उल्लेख किया है, यह भी अप्राप्त है।

पूज्यपाद की प्रकाशित रचनाओ मे तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि व्याख्या महत्त्वपूर्ण है। आगम, तर्क और व्याकरण सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण स्पष्टीकरण इसमे उपलब्ध होते है।

कुन्दकुन्द के अध्यात्म सम्बन्धी विचारों का संस्कृत में सरस रूपान्तर पूज्यपाद के इष्टोपदेश तथा समाधितन्त्र इन दो छोटे ग्रन्थो मे प्राप्त होता है। आत्मचिन्तन के लिए इनका एक-एक पद्य अमूल्य निधि-जैसा है।

दशभक्ति मे पूज्यपाद ने सिद्ध, श्रुत, चारित्र, योगी, आचार्य, नन्दीश्वर, चैत्य, निर्वाणभूमि, शान्ति और समाधि की भावपूर्ण अलकृत स्तुतियाँ लिखी है। मुनियो के नित्यपठन मे इन्हे स्थान मिला है।

पाणिनीय तथा जैनेन्द्र व्याकरण के न्यास, नयो के विषय से सारसग्रह नामक ग्रन्थ तथा जिनाभिषेकपाठ ये पूज्यपाद की अन्य रचनाएँ अप्राप्त है।

ज्ञानसागर की तीर्थवन्दना के अनुसार पूज्यपाद का नेत्ररोग पाली नगर मे

---

१ जैन शिलालेख सग्रह, भाग १, पृ २११—यह श्लोक सन् १४३३ के लेख में है, यह लेख श्रवणबेलगोल के विन्ध्यगिरि पर्वत पर स्थित सिद्धरबसति के एक स्तम्भ पर है।

शान्तिनाथस्तुति की रचना से शान्त हुआ था। यह शान्त्यष्टक स्तुति कई स्तुतिसंग्रहों में प्रकाशित हुई है। इन्ही के दानवर्णन में कहा गया है कि पूज्यपाद ने बारह वर्ष तक एकान्त उपवास की तपस्या की थी।

शीर्षकनिर्दिष्ट श्लोक के अनुसार पूज्यपाद को औषध ऋद्धि प्राप्त थी, उन्होंने विदेह के तीर्थंकर का दर्शन किया था तथा उनके चरणजल से लोहे का स्वर्ण में रूपान्तर हुआ था।

प्रसिद्ध है कि गंग वंश के राजा दुर्विनीत पूज्यपाद के शिष्य थे। उनके दूसरे शिष्य वज्रनन्दि ने मदुरा में द्राविड संघ की स्थापना की थी। दक्षिण भारत में सामाजिक गतिविधियो के केन्द्रो के रूप में मन्दिरो का विकास हुआ था। मन्दिरो को काफी सम्पत्ति दान दी जाती थी। इसकी व्यवस्था के लिए साधुओं को खेती आदि की देखरेख करना आवश्यक हो गया था। सम्भवत. इसी कारण वज्रनन्दि को द्राविड संघ के रूप में जैन साधुसंघ मे एक नया उपक्रम प्रारम्भ करना पड़ा। इस संघ के अनेक प्रभावी आचार्यों का आगे यथास्थान उल्लेख होगा। एक विद्वान् ग्रन्थकर्ता के रूप मे वज्रनन्दि का सादर स्मरण जिनसेन के हरिवशपुराण में प्राप्त होता है। श्रवणबेलगोल के एक शिलालेख मे इनकी कृति का नाम नवस्तोत्र बताया गया। यह अभी अप्राप्त है।

[समाधितन्त्र की प्रस्तावना में पं मुख्तार ने पूज्यपाद का विस्तृत परिचय दिया है। जैन साहित्य और इतिहास में पं. प्रेमी का निबन्ध भी महत्त्वपूर्ण है।]

पात्रकेसरी

महिमा स पात्रकेसरिगुरो. परं भवति यस्य भक्त्यासीत्।
पद्मावती सहाया त्रिलक्षणकदर्थनं कर्तुम्॥[1]

समन्तभद्र की आप्तमीमासा के पठन से प्रभावित होकर पात्रकेसरी ने जैन धर्म स्वीकार किया। कथा के अनुसार वे अहिच्छत्र नगर के राजपुरोहित थे। इनका जिनेन्द्र-गुणसंस्तुति नामक स्तोत्र समन्तभद्र की रचनाओं के समान ही तर्कदृष्टि से लिखा गया है। तर्कशास्त्र मे किसी पक्ष की सिद्धि करने में हेतु का बड़ा महत्त्व होता है। हेतु का बौद्ध आचार्यों ने जो लक्षण बतलाया था उसका खण्डन करने के लिए पात्रकेसरी ने त्रिलक्षणकदर्थन नामक ग्रन्थ लिखा था। यह उपलब्ध नही है। शीर्षक निर्दिष्ट श्लोक के अनुसार इस ग्रन्थ का आधारभूत सूत्र पद्मावती देवी की कृपा से प्राप्त हुआ था। उग्रादित्य के कल्याणकारक में पात्रकेसरी रचित शल्यतन्त्र (शस्त्रक्रिया सम्बन्धी ग्रन्थ) का उल्लेख है। यह भी अभी नही मिला है।

[प्रभाचन्द्र के कथाकोश मे पात्रकेसरी की कथा है, श्रवणबेलगोल तथा हुम्मच के कई शिलालेखो में इनकी प्रशंसा मिलती है।]

---

१ जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, पृ १०३—यह श्लोक श्रवणबेलगोल के सन् ११२८ के मल्लिषेणप्रशस्ति नामक लेख में है।

भद्रबाहु (द्वितीय)

आगमों के संकलन के साथ ही उनके अध्ययन के लिए सहायक ग्रन्थों का निर्माण भी प्रारम्भ हुआ । इनमें भद्रबाहु की निर्युक्तियों का स्थान पहला है । आचार और सूत्र-कृत ये अंग, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और आवश्यक ये मूलसूत्र, व्यवहार, बृहत् कल्प और दशाश्रुतस्कन्ध ये छेद सूत्र, सूर्यप्रज्ञप्ति उपांग तथा संसक्त और ऋषिभाषित ये प्रकीर्ण इन ११ ग्रन्थों पर निर्युक्तियाँ लिखी गयी थीं । इन ग्रन्थो के विभिन्न प्रकरणों का परस्पर सम्बन्ध, पूर्व-ग्रन्थों से सम्बन्ध, कठिन प्रकरणों का अर्थ समझने के लिए उपयोगी सूचनाएँ, दृष्टान्त रूप में कथाओ के संकेत आदि समझने के लिए ये गाथाएँ बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं ।

टीकाकारों के परम्परागत वर्णनों में तो निर्युक्ति-कर्ता को श्रुतकेवली भद्रबाहु ही कहा है किन्तु आधुनिक विद्वान् इनमें भेद करते हैं । कथाओं में भद्रबाहु को प्रतिष्ठान नगर में प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर—जिनकी ग्रन्थरचना सन् ५०५ के आसपास की है—के बन्धु के रूप में बताया है । पर्युषण में पढ़े जानेवाले भद्रबाहु कृत कल्पसूत्र में देवर्षि गणी की प्रशसा है । इससे भी आगम संकलन के समय ही इन भद्रबाहु का कार्य-काल मालूम होता है । कल्पसूत्र में तीर्थकरों के जीवन सम्बन्धी संक्षिप्त वर्णन, महावीर से देवर्धि तक की परम्परा तथा साधुओं के आचरणसम्बन्धी संक्षिप्त नियम ये तीन भाग हैं । यह ग्रन्थ काफी लोकप्रिय रहा है । पार्श्वतीर्थंकर की प्रशंसा में ५ गाथाओं का उपसर्गहर स्तोत्र भी इन्ही भद्रबाहु ने लिखा है । कहा गया है कि वराहमिहिर मृत्यु के बाद व्यन्तर देव होकर जैन श्रावको को कष्ट पहुँचाने लगा तब उसके उपद्रव से रक्षा के लिए इस स्तोत्र की रचना हुई थी । भद्रबाहुसंहिता नामक एक ज्योतिषग्रन्थ संस्कृत मे है । प्राकृत मे भी भद्रबाहु के नाम से कोई ग्रन्थ इसी विषय पर था । वसुदेवचरित या हरिवंश की रचना का श्रेय भी भद्रबाहु को दिया गया है । यह उपलब्ध नहीं है ।

[आत्मानन्द जन्मशताब्दी स्मारक ग्रन्थ मे मुनि चतुरविजय का भद्रबाहु पर विस्तृत लेख छपा है । कथाएं प्रबन्धकोष, प्रबन्धचिन्तामणि आदि में प्राप्त होती हैं ।]

मल्लवादी

सिद्धसेन के समान मल्लवादी तर्कशास्त्र के प्रमुख ज्ञाता के रूप में प्रसिद्ध हुए थे । प्रभावकचरित, प्रबन्धकोश तथा प्रबन्धचिन्तामणि में इनकी जीवनकथा वर्णित है । इसके अनुसार इनका जन्म गुजरात की राजधानी वलभी में हुआ था । उस समय इनके मामा आचार्य जिनानन्द वाद-विवाद मे एक बौद्ध आचार्य से पराजित हुए थे । इसके फलस्वरूप राजा शिलादित्य ने जैन मुनियो को निर्वासित कर दिया तथा शत्रुंजय के प्रसिद्ध तीर्थ को भी बौद्धों के अधिकार में दे दिया । बालक अवस्था मे ही जैन संघ की यह दुरवस्था देखकर मल्लवादी क्षुब्ध हुए और दृढ निश्चय से अध्ययन में संलग्न हुए । शीघ्र ही उन्होंने तर्कशास्त्र में अद्भुत निपुणता प्राप्त की और बौद्ध आचार्यों को राजा

शिलादित्य की सभा में पराजित कर खोया हुआ गौरव पुन प्राप्त किया। मल्लवादी का द्वादशार नयचक्र नामक ग्रन्थ किसी समय बहुत प्रसिद्ध था, अब यह मूल रूप में नही मिलता किन्तु सिंहसूरि द्वारा उसपर लिखी गयी टीका प्रकाशित हो गयी है। सन्मतिसूत्र की टीका तथा पद्मचरित ये उनके अन्य ग्रन्थ भी अप्राप्त हैं। मल्लवादी के बन्धु अजितयश ने भी तर्कशास्त्र पर कोई ग्रन्थ लिखा था, यह भी अभी नही मिला है।

संघदास और धर्मसेन

प्राकृत कथा साहित्य मे वसुदेवहिण्डी एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसकी रचना सघदास और धर्मसेन आचार्यों ने की थी। सौ अध्यायो के इस ग्रन्थ का विस्तार २८ हजार श्लोको जितना है। यह अधिकतर गद्य मे है। श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव की साहस और रोमाचकारी प्रसंगो से परिपूर्ण यात्राओं का और विवाहों का वर्णन इसका प्रमुख विषय है। प्रसगोपात्त आख्यानो मे ऋषभदेव, शान्तिनाथ, जम्बूस्वामी, त्रिपृष्ठ आदि अनेक जैन पुराणपुरुषों की कथाएँ विस्तार से बतायी है। प्राकृत मे गुणाढ्य की बृहत्कथा एक प्रसिद्ध ग्रन्थ था जो अब नही मिलता। इसके संस्कृत संक्षेपो से मालूम होता है कि संघदास और धर्मसेन ने गुणाढ्य की प्रेमकथाओ को धर्मकथा के अंगो के रूप मे कुशलता से सयोजित किया है। प्राकृत गद्य के साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से यह रचना पठनीय है।

[मुनि चतुरविजय द्वारा सम्पादित इस ग्रन्थ का पूर्वार्ध प्रकाशित हुआ है।]

वीरदेव, विजयकीर्ति और चन्द्रनन्दि

मैसूर प्रदेश के मालूर तालुके मे स्थित नोणमगल ग्राम से प्राप्त दो ताम्रपत्रो से इस प्रदेश के तीन प्राचीन आचार्यों का परिचय मिलता है। गगवंश के महाराज माधववर्मा (द्वितीय) ने अपने राज्य के तेरहवें वर्ष में पेब्बोलल ग्राम के मूलसघ के जिनमन्दिर के लिए कुमारपुर ग्राम और कुछ भूमि का दान दिया था ऐसा प्रथम ताम्र-पत्र मे वर्णन है। यह दान आचार्य वीरदेव के उपदेश से दिया गया था। लेख के वर्णना-नुसार ये आचार्य अपने (जैन) और दूसरों के (जैनेतर) सिद्धान्तो के ज्ञाता थे तथा श्री वीरशासनरूपी आकाश को प्रकाशित करनेवाले सूर्य के समान थे। दूसरे ताम्रपत्र के अनुसार माधववर्मा के पुत्र महाराज कोगुणिवर्मा अविनीत ने अपने राज्य के पहले वर्ष में उरनूर ग्राम के मूलसंघ के जिनमन्दिर के लिए वेन्नैलकरनि ग्राम दान दिया था। इस दान की प्रेरणा महाराज के उपाध्याय विजयकीर्ति ने दी थी—लेख के अनुसार इनकी कीर्ति सभी दिशाओ मे फैली थी। इस समय मूलसंघ में चन्द्रनन्दि आचार्य प्रमुख थे यह भी लेख से ज्ञात होता है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख ९० और ९४]

कुमारदत्त आदि आचार्य

मैसूर प्रदेश के बेलगाँव जिले में स्थित हलसी ग्राम पुरातन समय में पलाशिका नगर के नाम से प्रसिद्ध था तथा कदम्ब वंश के राजाओं का एक प्रमुख स्थान था। यहाँ से प्राप्त सात ताम्रपत्रो से कदम्ब राजाओं द्वारा जिनमन्दिरो को दिये गये दानों का विवरण मिलता है। इनमें से तीन ताम्रपत्रो में पाँच आचार्यों के नाम मिलते है, शेष ताम्रपत्रों में सामान्य रूप से मुनिसघों का उल्लेख है। प्रथम ताम्रपत्र के लेख के अनुसार राजा रविवर्मा के प्रसाद से प्रतीहार जयकीर्ति ने अष्टाह्निका महापर्व में जिनपूजा के लिए पुरुखेटक ग्राम दान दिया था। जयकीर्ति के कुल की प्रतिष्ठा का श्रेय निमित्तज्ञान मे पारंगत आचार्य बन्धुषेण को दिया गया है। इसी लेख में यापनीय संघ के प्रमुख आचार्य कुमारदत्त का वर्णन है—वे परिश्रमपूर्वक अनेक शास्त्रों का अध्ययन करते थे तथा उत्तम तपस्यारूपी धन से सम्पन्न थे। दूसरे लेख में राजा हरिवर्मा ने सेनापति सिंह के पुत्र मृगेश द्वारा निर्मित जिनमन्दिर को वसन्तवाटक ग्राम दान दिया ऐसा वर्णन है। यह दान कूर्चक संघ के प्रमुख चन्द्रक्षान्त आचार्य को दिया था। इस संघ के पूर्वाचार्य के रूप मे वारिषेण का नाम भी उल्लिखित है। तीसरे लेख में राजा हरिवर्मा ने अहरिष्टि सघ के जिनमन्दिर को मरदे ग्राम दान दिया ऐसा वर्णन है। इस मन्दिर के अधिष्ठाता आचार्य का नाम धर्मनन्दि बताया है। कदम्ब राजाओ के तीन दानलेख धारवाड जिले के देवगिरि नामक ग्राम से भी प्राप्त हुए है, इनमें मुनिसंघो का सामान्य उल्लेख है, किसी विशिष्ट आचार्य का नामोल्लेख नही है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख १००, १०३, १०४]

जिननन्दि

महाराष्ट्र मे कोल्हापुर के समीप अलते ग्राम से प्राप्त एक ताम्रपत्र से जिननन्दि का परिचय प्राप्त हुआ है। ये कनकोपलसंभूतवृक्षमूल गण के आचार्य थे। लेख मे इनकी गुरुपरम्परा इस प्रकार बतायी है—समस्त सिद्धान्त के ज्ञाता सिद्धनन्दि के शिष्य चितकाचार्य हुए जिन्हे देव भी प्रणाम करते थे, उनके पाँच सौ शिष्यो मे प्रमुख नागदेव हुए तथा नागदेव के शिष्य जिननन्दि हुए। ये अनेक राजाओ द्वारा सम्मानित महान् तपस्वी और शास्त्रो के ज्ञाता थे। चालुक्य वश के महाराज पुलकेशी (प्रथम) ने इन्हें त्रिभुवनतिलक जिनमन्दिर के लिए भूमिदान दिया था।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १०६]

गुहनन्दि

बंगाल मे राजशाही जिले के पहाड़पुर से प्राप्त ताम्रपत्र से इस प्रदेश के एक पुरातन जैन मठ का परिचय मिलता है। वटगोहाली ग्राम (वर्तमान गोआलभिटा)

मे स्थित यह मठ काशी के पंचस्तूपनिकाय के आचार्य गुहनन्दि के शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा संचालित था। ब्राह्मण नाथशर्मा ने सन् ४७९ में इस मठ को कुछ भूमि दान दी थी।
[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेख १९]

अन्य आचार्य

इस शताब्दी के अन्य आचार्यों मे हरिवंशपुराण की गुरुपरम्परा में उल्लिखित धर्मसेन, सिंहसेन, नन्दिषेण और ईश्वरसेन का समावेश होता है।

उद्द्योतन की कुवलयमाला कथा की प्रशस्ति से भी इस शताब्दी के कुछ आचार्यों का परिचय मिलता है। इसमें कहा गया है कि चन्द्रभागा नदी (वर्तमान चिनाब) के तीर पर पव्वइया नगर मे राजा तोरमाण ने गुप्तवंशीय जैन आचार्य हरिगुप्त का उपदेश सुना था। हरिगुप्त के शिष्य देवगुप्त का त्रिपुरुषचरित्र नामक ग्रन्थ उद्द्योतन के समय प्रसिद्ध था। यह अभी प्राप्त नही हुआ है।

पचसंग्रह नामक प्राकृत ग्रन्थ के रचयिता चन्द्रर्षि भी इस शताब्दी के माने जाते हैं। इस ग्रन्थ मे जीवो के कर्मबन्ध का विवरण दिया गया है।

श्रीवीर निर्वाण संवत् की बारहवीं शताब्दी

[ईसवी सन् ५७३ से ६७३]

मानतुंग

इनका भक्तामरस्तोत्र समग्र जैन समाज में बहुत लोकप्रिय रहा है। उत्कट भक्ति और अलंकारों से विभूषित साहित्यिक संस्कृत भाषा का सुन्दर समन्वय इस स्तोत्र में मिलता है। प्राकृत में इनका भयहरस्तोत्र भी सुप्रसिद्ध है। भक्तामरस्तोत्र की टीकाओं में तथा प्रभावकचरित आदि की कथाओं में मानतुंग को कवि बाण और मयूर का समकालीन माना है। कथा है कि मयूर का कुष्ठरोग सूर्यशतक के प्रभाव से दूर हुआ तथा बाण के कटे हुए हाथ-पैर चण्डीशतक के प्रभाव से ठीक हो गये। राजा हर्ष ने ऐसा ही कोई चमत्कार जैन आचार्य से भी देखने की इच्छा प्रकट की तब मानतुंग को कारागृह मे बन्द किया गया जहाँ भक्तामरस्तोत्र की रचना के प्रभाव से वे बन्धनमुक्त हो गये।

[प्रबन्धचिन्तामणि में हर्ष के स्थान पर भोज राजा का नाम मिलता है]

जिनभद्र

आगमों के व्याख्याकारो मे भद्रबाहु के बाद जिनभद्र का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इनका विशेषावश्यक भाष्य सन् ६०६ मे पूर्ण हुआ था। आवश्यकसूत्र की इस व्याख्या में लगभग ३६०० गाथाएँ हैं। ज्ञान, नय, निक्षेप, परमेष्ठी, गणधर आदि का विस्तृत विवेचन इसमे प्राप्त होता है। इनका दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ जीतकल्प (सूत्र और भाष्य) है जिसमें मुनियो के प्रायश्चित्त सम्बन्धी नियमों का वर्णन है। बृहत् संग्रहणी और बृहत् क्षेत्रसमास इन ग्रन्थों मे जिनभद्र ने चार गतियों और तीन लोको के विषय मे प्राचीन मान्यताओ का विस्तृत वर्णन किया है। विशेषणवती इनकी एक और रचना है।

[डॉ जगदीशचन्द्र जैन के प्राकृत साहित्य का इतिहास के विभिन्न प्रकरणो से संकलित।]

प्रभाचन्द्र और रविकीर्ति

मैसूर प्रदेश के धारवाड ज़िले में आडूर ग्राम से प्राप्त एक शिलालेख से परलूरगण के आचार्य प्रभाचन्द्र का परिचय मिलता है। ये विनयनन्दि के शिष्य वासुदेव के शिष्य

थे। इन्हे चालुक्य वंश के महाराज कीर्तिवर्मा (प्रथम) के राज्यकाल में दोण, एक आदि ग्रामपतियो ने एक जिनमन्दिर के लिए भूमिदान दिया था। इस लेख की स्थापना धर्मगामुण्ड के पुत्र श्रीपाल ने की थी जो प्रभाचन्द्र का शिष्य था।

इसी प्रदेश के विजापूर ज़िले मे ऐहोले ग्राम मे एक भव्य जिनमन्दिर से एक विस्तृत शिलालेख प्राप्त हुआ है। कीर्तिवर्मा के पुत्र पुलकेशी (द्वितीय) के दिग्विजय का सुन्दर वर्णन इस लेख मे प्राप्त होता है। इस राजा के प्रसाद से इस मन्दिर का निर्माण रविकीर्ति ने सन् ६३४ मे करवाया था। उत्तम कविता के कारण वे कालिदास और भारवि के समकक्ष माने जाते थे ऐसा लेख के अन्त में कहा गया है। इस प्रकार इन दोनो महाकवियो के समयनिर्णय का एक महत्त्वपूर्ण आधार इस लेख मे प्राप्त होता है। मैसूर प्रदेश के उपलब्ध जिनमन्दिरो मे ऐहोले का यह मन्दिर सबसे प्राचीन समझा जाता है। इसी समय के लगभग चालुक्यो की राजधानी वातापि (वर्तमान बदामी) मे उत्कीर्ण गुहाओ मे भी कुछ सुन्दर जिनमूर्तियाँ प्राप्त होती है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख १०७-१०८]

अन्य आचार्य

इस शताब्दी के अन्य आचार्यों में हरिवंशपुराण की गुरुपरम्परा मे उल्लिखित नन्दिषेण, अभयसेन, सिद्धसेन और भीमसेन का समावेश होता है।

उद्द्योतन की कुवलयमाला कथा की प्रशस्ति मे उल्लिखित देवगुप्त के शिष्य शिवचन्द्र और उनके शिष्य यक्षदत्त इस शताब्दी में हुए थे। शिवचन्द्र के विषय मे कहा गया है कि वे जिनदर्शन के लिए भिल्लमाल नगर मे रहे थे। अब यह नगर भिनमाल नामक छोटा गाँव है। राजस्थान में स्थित इस नगर को उस समय राजधानी का गौरव प्राप्त हुआ था।

विशेषावश्यक टीका के कर्ता कोट्याचार्य तथा उपदेशमाला के कर्ता धर्मदास भी इसी शताब्दी के माने जाते है। उपदेशमाला पर अनेक टीकाएँ प्राप्त हुई हैं जिनमें कथाओ द्वारा धर्मोपदेश दिया गया है।

श्रवणबेलगोल के शिलालेख में लिपि के स्वरूप को देखकर सन् ६५० के आस-पास के माने गये कुछ लेख है। इनमे बलदेव, शान्तिसेन और अरिष्टनेमि इन आचार्यों के समाधिमरण का उल्लेख है। शान्तिसेन के विषय में कहा गया है कि भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त द्वारा समृद्धि को प्राप्त हुए जिनधर्म का तेज क्षीण होने पर शान्तिसेन के प्रभाव से उसका पुनरुत्थान हुआ। अरिष्टनेमि के विषय मे कहा गया है कि इनके अनेक शिष्य थे तथा इनके समाधिमरण के समय दिण्डिकराज उपस्थित थे। जैन शिलालेख सग्रह भाग १ मे ये लेख सम्पादित हुए है।

श्रीवीर निर्वाण संवत् की तेरहवीं शताब्दी

[ईसवी सन् ६७३ से ७७३]

जटासिंहनन्दि

जैन आचार्यों द्वारा संस्कृत में लिखित ललित साहित्य में जटासिंहनन्दि के वरांगचरित का स्थान प्रथम और उत्तम है। उद्द्योतन, दोनों जिनसेन, धवल, चामुण्डराय आदि समर्थ कवियों ने उनकी प्रशंसा की है। वरांग एक वीर राजकुमार था जिसे सौतेली माँ और विश्वासघाती मन्त्री के षड्यन्त्रों से निर्वासित होना पडा, उसने अपनी वीरता और साहस से प्रतिकूल स्थिति पर विजय पायी और एक नये राज्य की स्थापना की। अन्त में तीर्थंकर नेमिनाथ के गणधर वरदत्त से दीक्षा लेकर उसने तपस्या की और निर्वाण प्राप्त किया। विविध रसो के परिपोष सहित इस कथा के माध्यम से आचार्य ने जैनधर्म के सिद्धान्तों का सुन्दर वर्णन किया है। बौद्ध साहित्य में अश्वघोष की कृतियो का जो महत्त्व है वही जैन साहित्य में जटासिंहनन्दि की इस कृति का है।

मैसूर प्रदेश के रायचूर जिले में स्थित कोप्पल नगर पुरातन समय में कोप्पल कहलाता था तथा एक पवित्र तीर्थ के रूप मे प्रसिद्ध था। इसके समीप की पहाडी पर आचार्य जटासिंहनन्दि के चरणचिह्न है जिन्हे चावय्य नामक श्रावक ने उत्कीर्ण कराया था, सम्भवत यही उनके समाधिमरण का स्थान है। इनकी प्रशंसा जटिल या जटाचार्य इस संक्षिप्त नाम से भी की गयी है।

[डॉ आ. ने उपाध्ये द्वारा सम्पादित वरांगचरित माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई से प्रकाशित हुआ है। इसकी प्रस्तावना मे सम्पादक ने लेखक और कृति से सम्बद्ध विषयो का विस्तृत विवेचन किया है।]

रविषेण

इनका पद्मचरित पद्मपुराण के नाम से प्रसिद्ध है। इसका हिन्दी अनुवादो के माध्यम से काफी प्रचार रहा है। १२३ अध्यायो के और लगभग १८ हजार श्लोको के इस ग्रन्थ की समाप्ति वीर संवत् १२०३ = सन् ६७६ में हुई थी। ग्रन्थकर्ता ने अपनी परम्परा के चार पूर्वाचार्यों के नाम बताये है—इन्द्रगुरु–दिवाकरयति–अर्हन्मुनि–लक्ष्मणसेन (ग्रन्थकर्ता के गुरु)। विमल के प्राकृत पद्मचरित का संस्कृत-भाषी विद्वानो के लिए किया गया पल्लवित रूपान्तर होने पर भी काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से यह ग्रन्थ

पठनीय है। इसीलिए उद्द्योतन ने कुवलयमाला में तथा जिनसेन ने हरिवंशपुराण में रविषेण का सादर स्मरण किया है। स्वयम्भूदेव का अपभ्रंश पउमचरिउ रविषेण के ही ग्रन्थ पर आधारित है।

[पं. प्रेमी के जैन साहित्य और इतिहास में रविषेण पर एक निबन्ध है।]

जिनदास

निर्युक्ति और भाष्यो के बाद आगमों के अध्ययन में सहायक ग्रन्थो में जिनदास की चूर्णियो का स्थान महत्त्वपूर्ण है। आचाराग, सूत्रकृताग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति, आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, निशीथ, दशाश्रुतस्कन्ध, नन्दी और अनुयोगद्वार इन ग्यारह ग्रन्थो पर चूर्णियाँ प्राप्त है। इनमें से निशीथसूत्र की चूर्णि सन् ६७६ मे पूर्ण हुई थी तथा विस्तार में सबसे बडी है। प्राचीन प्राकृत शब्दो के स्पष्टीकरण के साथ ही इन चूर्णियो मे कई मनोरजक, उपदेशात्मक और ऐतिहासिक कथाएँ भी मिलती हैं इसलिए साहित्यिक दृष्टि से भी इनका विशेष महत्त्व है।

[डॉ. जगदीशचन्द्र जैन के प्राकृत साहित्य का इतिहास से संकलित।]

उदयदेव आदि आचार्य

मैसूर प्रदेश के धारवाड जिले में लक्ष्मेश्वर नगर है। इसका पुरातन समय में पुरिकर, पुलिगेरे या हुलिगेरे यह नाम था। यहाँ नेमिनाथ का एक भव्य मन्दिर है जिसे शंखजिनेन्द्र मन्दिर या शंखतीर्थवसति कहा जाता था। यहाँ ८७ पंक्तियो का एक विस्तृत शिलालेख है। इससे ज्ञात होता है कि मूलसघ के अन्तर्गत देवगण के आचार्य इस तीर्थ की देखभाल करते थे। बदामी के चालुक्य वंश के महाराज विनयादित्य ने सन् ६८६ मे इस गण के एक आचार्य (जिनका नाम अस्पष्ट है) को कुछ दान दिया था। इनके पुत्र महाराज विजयादित्य ने सन् ७२९ मे पण्डित उदयदेव को कर्दम नामक गाँव दान दिया था। उदयदेव पूज्यपाद के शिष्य थे तथा महाराज विनयादित्य के उपाध्याय रहे थे। विजयादित्य के पुत्र विक्रमादित्य (द्वितीय) ने सन् ७३४ में मन्दिर के एक भाग धवलजिनालय का जीर्णोद्धार कराया था तथा आगामी समय में जीर्णोद्धार कराने के लिए ५० निवर्तन भूमि पण्डित विजयदेव को अर्पित की थी। विजयदेव तथा उनके गुरु जयदेव ने अनेक वादो में विजय प्राप्त किया था तथा जयदेव के गुरु रामदेव उत्तम तपस्या एवं विद्वत्ता के कारण प्रसिद्ध हुए थे यह भी इस शिलालेख से ज्ञात होता है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख १११, ११३, ११४]

आर्यनन्दि आदि आचार्य

तमिलनाडु में जैन आचार्यों के विहार का उल्लेख भद्रबाहु के शिष्य विशाखाचार्य तथा धरसेन के शिष्य भूतबलि की जीवनकथा में आ चुका है। इस प्रदेश की प्राचीन

तमिल भाषा में कुरल, नालदियार आदि महत्त्वपूर्ण जैन ग्रन्थ भी मिलते हैं। इनके कर्ता और समय आदि के विषय में पर्याप्त सामग्री प्राप्त न होने से ऊपर इनका विवरण नही दिया जा सका। तमिल प्रदेश में जैन समाज की इस महत्त्वपूर्ण स्थिति को सन् ६०० के आसपास शिवभक्ति आन्दोलन से बडा आघात पहुँचा। उस समय अनेक जैन मुनियो को विरोधी साम्प्रदायिक गतिविधियो के कारण आत्मबलिदान करना पड़ा जिसके दृश्य मदुरा के मीनाक्षी मन्दिर मे अभी भी दिखाये जाते हैं। इस दुरवस्था के समय मे जैन समाज के पुनः संगठन में जिन आचार्यों ने भाग लिया उनमें आर्यनन्दि प्रमुख थे। मदुरा के समीपवर्ती आनैमलै, अलगरमलै, उत्तमपालैयम्, कीलक्कुडि, कोंगरपुलियंगुलम् आदि अनेक स्थानो की पहाडियो में उत्कीर्ण जिनमूर्तियो के शिलालेखो मे आर्यनन्दि का नाम मिलता है। इनमें तिथि का उल्लेख नही है फिर भी अक्षरो की बनावट से विशेषज्ञों ने इनका समय सन् ७०० के आसपास निश्चित किया है। कीलक्कुडि के लेख मे आर्यनन्दि की माता का नाम गुणमति बताया है। यहाँ गुणसेन-वर्धमान-गुणसेन (द्वितीय) तथा कनकनन्दि-अभिनन्दन-अभिमण्डल-अभिनन्दन (द्वितीय) इन दो आचार्यपरम्पराओ के उल्लेख भी है। मुत्तुप्पट्टि ग्राम के लेख मे अष्टोप-वासी-गुणसेन-कनकवीर यह परम्परा उल्लिखित है। यही के एक अन्य लेख में अष्टोप-वासी गुरु के शिष्य माघनन्दि का नाम मिलता है।

[जैनिज्म इन साउथ इण्डिया मे डॉ. देसाई ने इन लेखो का विस्तृत परिचय दिया है।]

अकलंकदेव

जैन तर्कशास्त्र के परिपक्व रूप का दर्शन अकलकदेव के ग्रन्थो मे होता है। बौद्ध पण्डितो के आक्षेपो का समुचित विस्तृत उत्तर उन्ही के ग्रन्थो मे मिलता है। इनके जीवन के विषय मे प्रभाचन्द्र के कथाकोश मे कुछ वर्णन है तथा श्रवणबेलगोल के मल्लिषेणप्रशस्ति शिलालेख मे भी इस विषय के कुछ श्लोक है। कथानुसार अकलकदेव राजा शुभतुग (राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्णराज प्रथम) के मन्त्री पुरुषोत्तम के पुत्र थे। बाल वय मे ही अपने भाई निष्कलक के साथ इन्होने ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार किया। प्रारम्भिक अध्ययन पूर्ण होने पर बौद्ध तर्कशास्त्र के विशिष्ट अभ्यास के लिए ये गुप्त रूप से एक बौद्ध मठ मे रहने लगे। वहाँ इनके जैन होने का पता लगने पर अकलंक तो किसी प्रकार बच निकले किन्तु निष्कलंक उस मठ के समर्थक सैनिको द्वारा मारे गये। बाद मे आचार्य पद प्राप्त होने पर अकलक ने कलिंगनरेश हिमशीतल की सभा मे बौद्धो से वादविवाद किया। कहा गया है कि विरोधी पक्ष के पण्डित एक घडे मे तारादेवी की स्थापना करते थे और उसकी कृपा से वाद मे अजेय होते थे। अकलकदेव ने शासनदेवता की कृपा प्राप्त कर वह घडा फोड दिया और वाद मे विजय प्राप्त किया।

अकलंक की कृतियो मे तत्त्वार्थसूत्र की टीका तत्त्वार्थवार्तिक—जिसे राजवार्तिक

भी कहा जाता है—सबसे विस्तृत है। लगभग १६ हज़ार श्लोकों जितना इसका विस्तार है। इसके प्रथम और चतुर्थ अध्याय विशेष महत्त्वपूर्ण हैं—इनमें मोक्ष और जीवस्वरूप सम्बन्धी विभिन्न विचारो का परीक्षण प्राप्त होता है। अष्टशती समन्तभद्र कृत आप्त-मीमासा की व्याख्या है—नाम के अनुसार इसका विस्तार आठ सौ श्लोको जितना है। लघीयस्त्रय मे प्रमाण, नय और प्रवचन ये तीन प्रकरण है। न्यायविनिश्चय में भी तीन प्रकरण है, इनमें प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणों का विवेचन है। प्रमाणसंग्रह मे ९ प्रकरण हैं, इनमे प्रमाण सम्बन्धी विभिन्न विषयो की चर्चा है। सिद्धि-विनिश्चय मे १२ प्रकरण है, इनमे प्रमाण, नय, जीव, सर्वज्ञ आदि विषयो का विवेचन है। इन चार ग्रन्थो मे मूल श्लोको के साथ गद्य स्पष्टीकरणात्मक अंश भी अकलकदेव ने जोडा है।

जैन पण्डितो मे अकलक के ग्रन्थो का बडा आदर हुआ। अष्टशती पर विद्यानन्द ने, लघीयस्त्रय पर अभयचन्द्र और प्रभाचन्द्र ने, न्यायविनिश्चय पर वादिराज ने तथा प्रमाणसंग्रह और सिद्धिविनिश्चय पर अनन्तवीर्य ने विस्तृत व्याख्याएँ लिखी है। माणिक्य-नन्दि का परीक्षामुख अकलकदेव के ही विचारो का सूत्रबद्ध रूप प्रस्तुत करता है।

[आधुनिक समय मे प महेन्द्रकुमार द्वारा अकलक के ग्रन्थो के लिए लिखी गयी प्रस्तावनाएँ महत्त्वपूर्ण है, इनमे सिद्धिविनिश्चय की प्रस्तावना विशेष विस्तृत है।]

हरिभद्र

इनका जन्म चित्तौड के एक ब्राह्मण परिवार मे हुआ था। कुलक्रमागत वेदादि ग्रन्थो का अध्ययन पूर्ण होने पर ज्ञान के गर्व से इन्होंने प्रतिज्ञा की कि जिसका वचन मैं न समझ सकूँ उसका शिष्यत्व स्वीकार करूँगा। एक बार याकिनी महत्तरा नामक जैन साध्वी आगमो का पठन कर रही थी। उनकी प्राकृत गाथा का अर्थ हरिभद्र नही समझ सके और प्रतिज्ञानुसार उनकी सेवा मे शिष्य-रूप मे उपस्थित हुए। साध्वी ने अपने गुरु जिनभटसूरि से उनकी भेंट करायी। उनसे मुनिदीक्षा ग्रहण कर आगमो का विधिवत् अध्ययन होने पर हरिभद्र को आचार्य पद दिया गया।

हरिभद्र के दो शिष्यो—हंस और परमहंस की कथा—जो प्रभावकचरित, प्रबन्धकोश आदि मे उपलब्ध है—अकलंक-निष्कलक के समान है—अर्थात् बौद्ध सिद्धान्तो का अध्ययन करने के लिए वे किसी बौद्ध मठ मे गुप्त रूप से रहे और वास्तविकता प्रकट होने पर बौद्धो ने उनकी हत्या कर दी ऐसा कहा गया है। इससे क्षुब्ध होकर हरिभद्र ने भी बौद्धो को वाद मे पराजित कर मृत्युदण्ड देने का संकल्प किया किन्तु गुरु द्वारा समझाये जाने पर वह सकल्प छोड दिया। हरिभद्र की अनेक रचनाओ के अन्तिम श्लोक मे भवविरह यह शब्द मिलता है जो इसी शिष्य-विरह का सूचक माना गया है।

विस्तार, विविधता और गुणवत्ता इन तीनों दृष्टियो से हरिभद्र की रचनाएँ जैन साहित्य में महत्त्वपूर्ण है। परम्परानुसार इनके कुल ग्रन्थो की संख्या १४४४ कही गयी है। इसमे कुछ अतिशयोक्ति हो सकती है। तत्त्वार्थ के अपवाद को छोड़कर आगमो का अध्ययन प्राकृत भाषा तक सीमित था। हरिभद्र ने आवश्यक, प्रज्ञापना, नन्दी, अनुयोग-द्वार, ओघनिर्युक्ति, दशवैकालिक, जीवाभिगम, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि आगम-ग्रन्थो पर संस्कृत टीकाओ की रचना की जिससे संस्कृतभाषी विद्वानो के लिए इन आगमो का अध्ययन सुकर हुआ। पुराने प्राकृत व्याख्या साहित्य में आयी हुई अनेक कथाओ से ये टीकाएँ सुशोभित है।

अनेकान्तजयपताका, अनेकान्तवादप्रवेश, शास्त्रवार्तासमुच्चय आदि ग्रन्थो में विभिन्न भारतीय दर्शनो के तत्त्वो का जैन दृष्टि से परीक्षण कर हरिभद्र ने जैन तत्त्वो को तर्कशास्त्र के अनुकूल सिद्ध किया है। षड्दर्शनसमुच्चय नामक संक्षिप्त ग्रन्थ में उन्होने जीव, जगत् और धर्म सम्बन्धी भारतीय दर्शनो की मान्यताएँ प्रामाणिक रूप में संकलित की है।

समरादित्यकथा और धूर्ताख्यान ये उनके ग्रन्थ प्राकृत के साहित्यिक सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध है। समरादित्यकथा मे क्रोध कषाय की भयंकरता गुणसेन और अग्निशर्मा के दस जन्मो की कहानी बताकर स्पष्ट की है। इस विस्तृत कथाग्रन्थ मे भारतीय जीवन की विविध छटाओ का मनोहर, सूक्ष्म व अलकृत चित्रण उपलब्ध होता है। धूर्ताख्यान मे ब्राह्मणो की पुराणकथाओ की अविश्वसनीयता व्यंग्य कथाओ के माध्यम से स्पष्ट की है।

योगबिन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय, योगविंशिका आदि मे लोकप्रसिद्ध पातजल योग की प्रक्रियाओ का जैन परम्परा से समन्वय स्थापित करने का सफल प्रयत्न हरिभद्र ने किया है। इस विषय का उनका विवेचन जैन साहित्य में एक नयी विचारसरणी का प्रारम्भ बिन्दु सिद्ध हुआ।

सावयपण्णत्ती, दसणसत्तरी, पचवस्तुक आदि में गृहस्थो और मुनियो के आचार-विचारो का विस्तृत प्रतिपादन हरिभद्र ने किया है।

धर्मबिन्दु, उपदेशपद, सम्बोधप्रकरण, अष्टकप्रकरण, षोडशक, विंशिका आदि छोटे-छोटे प्रकरणो में विविध दार्शनिक और धार्मिक विषयो का सक्षिप्त किन्तु प्रभावी वर्णन उपलब्ध होता है। अपने समय के समाज मे यथोचित सुधार के लिए अनेक सूचनाएँ इनमे प्राप्त होती है। हरिभद्र ने अपने अनेक ग्रन्थो पर स्वयं छोटे-बड़े विवरण भी लिखे है।

[हरिभद्र-विषयक साहित्य विशाल है। अनेकान्तजयपताका की श्री कापडिया लिखित प्रस्तावना तथा धूर्ताख्यान की डॉ. उपाध्ये लिखित प्रस्तावना विशेष महत्त्वपूर्ण है।]

संघदास (द्वितीय)

आवश्यक सूत्र के जिनभद्र कृत भाष्य का उल्लेख ऊपर हुआ है। इसके लगभग एक शताब्दी बाद सघदास ने निशीथ, बृहत्कल्प और व्यवहार इन सूत्र ग्रन्थो पर विस्तृत भाष्य लिखे। प्राकृत भाषा में लिखित इन भाष्यो से साधु-जीवन और तत्कालीन समाज के विषय मे महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। दृष्टान्तो के रूप मे कई मनोरंजक कथाएँ भी भाष्यो में प्राप्त होती है। उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति पर भी भाष्य प्राप्त है किन्तु इनके कर्ता के विषय में कुछ ज्ञात नही है।

[डॉ. जगदीशचन्द्र जैन के प्राकृत साहित्य का इतिहास से संकलित]

शीलगुण

गुजरात के चावडा वश के संस्थापक वनराज का प्रारम्भिक जीवन साधारण अवस्था मे बीता था। बाल वय में उसका विद्याध्ययन शीलगुण सूरि के पास हुआ था। सन् ७४५ मे अणहिलपुर राजधानी की स्थापना करते समय वनराज ने आदरपूर्वक गुरु को वहाँ आमन्त्रित किया और उनके उपदेश के अनुसार पार्श्वनाथ मन्दिर का निर्माण कराया। यह मन्दिर पचासर पार्श्वनाथ के नाम से अभी भी प्रसिद्ध है तथा इसमे पूजक रूप मे वनराज की मूर्ति भी स्थापित है। शीलगुण से प्रारम्भ हुई जैन गुरुओ के सम्मान की परम्परा गुजरात मे पाँच शताब्दियो तक चलती रही। यहाँ के राजाओ के कुल-क्रमागत शैव सम्प्रदाय मे जैनो के सम्बन्ध प्रायः स्वस्थ प्रतिस्पर्धा के रहे।

[प्रबन्धचिन्तामणि, प्र. १, प्र. ४]

अन्य आचार्य

इस शताब्दी के अन्य आचार्यो मे हरिवंशपुराण की गुरु-परम्परा मे उल्लिखित जिनसेन, शान्तिषेण, जयसेन और अमितसेन का समावेश होता है। जयसेन के विषय मे कहा गया है कि उन्होने षट्खण्डसिद्धान्त का अध्ययन किया था तथा व्याकरणशास्त्र के वे प्रभावी विद्वान् थे। अमितसेन के विषय मे कहा गया है कि वे सौ वर्ष से अधिक आयु प्राप्त कर चुके थे तथा शास्त्रदान के लिए प्रसिद्ध थे। इनके गुरुबन्धु कीर्तिषेण ही हरिवंशपुराणकर्ता जिनसेन के गुरु थे।

उद्द्योतन की कुवलयमालाकथा की प्रशस्ति में उल्लिखित आचार्य यक्षदत्त के शिष्य इस शताब्दी मे हुए थे। नाग, विन्द, मम्मट, दुर्ग, अग्निशर्मा और वटेश्वर ये इनके नाम बताये है। इनके उपदेश से गुर्जर देश में अनेक जिनमन्दिर बनवाये गये थे। इनके शिष्य तत्त्वाचार्य ही उद्द्योतन के गुरु थे।

हरिवंशपुराण मे प्रशसित सुलोचना कथा के कर्ता महासेन, उत्प्रेक्षा अलंकार के लिए प्रसिद्ध शान्त (शान्तिषेण), गद्य-पद्य मे विशेष योग्यता के लिए प्रसिद्ध विशेषवादी तथा वर्धमानपुराण के कर्ता आदित्य इसी शताब्दी के प्रतीत होते है। इन चारो के ग्रन्थ

अभी प्राप्त नही हुए हैं। इसी प्रकार कुवलयमाला में प्रशंसित राजर्षि प्रभंजन का यशोधरचरित भी अभी प्राप्त नहीं हुआ है।

प्रभावकचरित में वर्णित मानदेव सूरि का वृत्तान्त भी इसी शताब्दी का प्रतीत होता है। इनकी शान्तिनाथस्तुति के प्रभाव से तक्षशिला नगर में फैले हुए संक्रामक रोग शान्त हुए थे ऐसा इस कथा में कहा गया है।

श्रवणबेलगोल के शिलालेखों में लिपि के प्राचीन रूप को देखकर सन् ७०० के आसपास जिनका समय निर्धारित किया गया है ऐसे कई लेख हैं। इनमे उल्लिखित आचार्यों मे मौनिगुरु के शिष्य गुणसेन और वृषभनन्दि, धर्मसेन के शिष्य बलदेव, पट्टिनिगुरु के शिष्य उग्रसेन, ऋषभसेन के शिष्य नागसेन आदि के नाम पाये जाते है। इनकी कुल संख्या तीस है। जैन शिलालेख संग्रह भाग १ मे इनका पूरा विवरण दिया गया है। ये सब लेख समाधिमरण के स्मारक हैं।

इसी प्रकार जैन शिलालेख संग्रह भाग ४ मे उल्लिखित कुछ आचार्य भी सन् ७०० के आसपास के है। इनमे से आर्यनन्दि आचार्य को सेन्द्रक वंश के राजा इन्द्रणन्द ने भूमिदान दिया था। यह लेख मैसूर प्रदेश के गोकाक नगर से प्राप्त हुआ है। इसी प्रदेश के कुलगाण नगर से प्राप्त लेख के अनुसार गंगवश के राजा श्रीवल्लभ पृथ्वीकोगणि के समय केल्लिपुसूर ग्राम के जिनमन्दिर के लिए चन्द्रसेन आचार्य को भूमिदान दिया गया था।

श्रवणबेलगोल के मल्लिषेण प्रशस्ति नामक शिलालेख मे उल्लिखित श्रीवर्धदेव और महेश्वर भी इसी शताब्दी के प्रतीत होते है। श्रीवर्धदेव के विषय मे कहा गया है कि महाकवि दण्डी ने इनकी प्रशसा की थी। महेश्वर के विषय मे बताया है कि इन्होने सत्तर वादो मे विजय पाया था तथा ब्रह्मराक्षस ने इनकी पूजा की थी।

श्रीवीर निर्वाण संवत् की चौदहवीं शताब्दी

[ईसवी सन् ७७३ से ८७३]

विमलचन्द्र

मैसूर प्रदेश के नागमंगल तालुके में देवरहल्लि ग्राम से प्राप्त ताम्रशासन से इनका परिचय मिलता है। ये नन्दिसघ के पुलिकल गच्छ के आचार्य थे। इनकी गुरुपरम्परा चन्द्रनन्दि—कुमारनन्दि—कीर्तिनन्दि—विमलचन्द्र इस प्रकार बतलायी है। गगवश के महाराज श्रीपुरुष के सामन्त बाणवंशीय पृथिवीनिर्गुन्दराज की पत्नी कुन्दाच्चि ने श्रीपुर के समीप लोकतिलक नामक जिनमन्दिर इन आचार्य के उपदेश से बनवाया था तथा उसके लिए सन् ७७६ मे एक ग्रामदान दिया था। श्रवणबेलगोल के मल्लिषेण प्रशस्ति शिलालेख मे प्रसिद्ध वादी के रूप मे विमलचन्द्र की प्रशसा की गयी है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख १२१।]

अपराजित

इनका दूसरा नाम श्रीविजय था। शिवार्य की आराधना पर इनकी श्रीविजयोदया नामक विस्तृत सस्कृत टीका प्रकाशित हुई है। ये चन्द्रनन्दि के शिष्य बलदेव के शिष्य थे। नागनन्दि आचार्य से इन्होंने आगमो का ज्ञान प्राप्त किया और श्रीनन्दि गणि के आग्रह से इन्होंने आराधना टीका की रचना की थी। इनकी दशवैकालिक सूत्र पर भी टीका थी किन्तु यह अभी प्राप्त नही हुई है।

[प प्रेमीजी ने जैन साहित्य और इतिहास में इनका विस्तृत परिचय दिया है।]

उद्द्योतन

ये तत्त्वाचार्य के शिष्य थे। इन्होने वीरभद्र से सिद्धान्त और हरिभद्र से तर्क का अध्ययन किया था। सन् ७७९ मे जाबालिपुर (जालोर, राजस्थान) में रणहस्ती वत्सराज के राज्य मे इन्होंने कुवलयमाला नामक गद्य-पद्य मिश्रित कथा की रचना की। विभिन्न प्राकृतो, देशी भाषाओ तथा अलकारो के प्रयोग से यह सुशोभित है। प्रारम्भ मे आचार्य ने कई पूर्ववर्ती कवियो की प्रशंसा में सुन्दर गाथाएँ लिखी है जो ऐतिहासिक दृष्टि से बडे महत्त्व की है। प्रशस्ति में भी कवि ने अपनी गुरुपरम्परा का विस्तृत वर्णन किया है। क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह के वशीभूत पाँच पुरुषो की कथाओ को आधार बनाकर प्रत्येक के पाच-पाँच जन्मो की कथाएँ कुशलता से एक सूत्र मे पिरोकर

यह महाकथा निष्पन्न हुई है। साहित्यिक सौन्दर्य के साथ ही राजनीति, ज्योतिष, मन्त्र, धातुवाद, शकुन, चित्र, भूगोल आदि विविध विषयों के विस्तृत समावेश के कारण यह कथा प्राचीन भारत के अध्ययन के लिए अमूल्य निधि बन गयी है। ह्री देवी की कृपा से प्रहर-भर में सौ श्लोकों की रचना की शक्ति प्राप्त होने का कवि ने उल्लेख किया है। पूरी कथा लगभग तेरह हजार श्लोकों जितने विस्तार की है। इसका संस्कृत में संक्षिप्त रूपान्तर रत्नप्रभ ने छह सौ वर्ष बाद किया था।

[मूल कथा और रूपान्तर दोनों प्रकाशित हो चुके हैं जिनका सम्पादन डॉ. उपाध्ये ने किया है।]

जिनसेन

ये पुन्नाट संघ के आचार्य कीर्तिषेण के शिष्य थे। इनका हरिवंशपुराण सन् ७८३ में वर्धमानपुर (वढवाण, गुजरात) में नन्नराज द्वारा निर्मित जिनमन्दिर में पूर्ण हुआ था। इसमें ६६ सर्ग और लगभग दस हजार श्लोक हैं। तीर्थंकर नेमिनाथ, श्रीकृष्ण-बलदेव तथा कौरव-पाण्डवों की कथा इसका मुख्य विषय है। प्रसंगोपात्त तीर्थंकर ऋषभदेव, मुनिसुव्रत व महावीर, चक्रवर्ती हरिषेण, मुनि विष्णुकुमार आदि की कथाएँ भी आयी हैं। वसुदेवहिण्डी के समान वसुदेव के प्रवास और विवाहों की कथाएँ भी हैं। प्रारम्भ में पुरातन आचार्यों की प्रशंसा तथा अन्त में विस्तृत गुरुपरम्परा के वर्णन के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से यह ग्रन्थ बहुत महत्त्व का है। प्रशस्ति में ऊर्जयन्त (गिरनार) की देवी सिंहवाहिनी की कृपा का आचार्य ने उल्लेख किया है। यह ग्रन्थ दो बार प्रकाशित हो चुका है।

[पं. प्रेमीजी के जैन साहित्य और इतिहास में जिनसेन पर एक निबन्ध है।]

प्रभाचन्द्र (द्वितीय)

मैसूर प्रदेश के नेलमंगल तालुके में स्थित मण्णे ग्राम से प्राप्त दो ताम्रशासनों से इस प्रदेश के एक प्रभावशाली आचार्य प्रभाचन्द्र का परिचय मिलता है। ये कोण्डकुन्दान्वय के तोरणाचार्य के शिष्य पुष्पनन्दि के शिष्य थे। गंग वंश के राजकुमार मारसिंह के महासामन्त श्रीविजय ने राजधानी मान्यपुर (वर्तमान मण्णे) में प्रभाचन्द्र के लिए एक भव्य जिनमन्दिर बनवाया था तथा सन् ७९७ में उन्हें एक ग्राम दान दिया था। पाँच वर्ष बाद राष्ट्रकूट सम्राट् गोविन्दराज (तृतीय) के ज्येष्ठ बन्धु स्तम्भराज इस प्रदेश पर शासन कर रहे थे। उन्होंने अपने पुत्र बप्पय्य के निवेदन पर प्रभाचन्द्र को उपर्युक्त श्रीविजय-जिनमन्दिर के लिए एक ग्राम दान दिया था।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १२२-१२३]

वर्धमान

कोण्डकुन्दान्वय के एक अन्य आचार्य वर्धमान का परिचय मैसूर प्रदेश के बदनगुप्पे ग्राम से प्राप्त ताम्रशासन से मिलता है। ये कुमारनन्दि के शिष्य एलवाचार्य के शिष्य थे। स्तम्भराज ने अपने पुत्र शंकरगण की प्रार्थना पर इन्हे सन् ८०८ में तलवन नगर की श्रीविजयवसति के लिए एक ग्राम दान दिया था। ताम्रशासन में वर्धमान को सब प्राणियो के लिए हितकर, सिद्धान्तो के अध्ययन मे तत्पर तथा सर्वज्ञ के समान गुणो से उन्नत कहा गया है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग ४, लेख ५४]

अर्ककीर्ति

ये यापनीय नन्दिसंघ के पुन्नागवृक्षमूलगण के आचार्य थे। कीर्त्याचार्य की परम्परा मे कूविलाचार्य के शिष्य विजयकीर्ति हुए। अर्ककीर्ति इन्ही के शिष्य थे। राष्ट्रकूट सम्राट् गोविन्दराज (तृतीय) के सामन्त विमलादित्य शनिग्रह की बाधा से पीडित थे। इससे मुक्ति पाने के लिए उन्होने सम्राट् से निवेदन कर जालमंगल नामक ग्राम सन् ८१२ मे अर्ककीर्ति को अर्पित किया था। यह विवरण मैसूर प्रदेश के कडब ग्राम मे प्राप्त ताम्रशासन से प्राप्त हुआ है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १२४]

अपराजित

ये सेनसघ के आचार्य थे। इन्हे राष्ट्रकूट वंश के राजा कर्कराज ने नवसारी (गुजरात) के जिनमन्दिर के लिए सन् ८२१ मे कुछ भूमि दान दी थी। इसका वर्णन करनेवाला ताम्रशासन सूरत से प्राप्त हुआ है। अपराजित के प्रगुरु का नाम मल्लवादी और गुरु का नाम सुमति कहा गया है। इतिहासज्ञो का अनुमान है कि इन्ही मल्लवादी ने प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थ न्यायबिन्दुटीका (धर्मोत्तर कृत) पर टिप्पण लिखे थे। श्रवणबेलगोल के मल्लिषेणप्रशस्ति शिलालेख मे सुमतिदेव के सुमतिसप्तक नामक ग्रन्थ का उल्लेख है। यह अभी प्राप्त नही हुआ है। सिद्धसेन कृत सन्मति प्रकरण पर इनकी टीका की चर्चा वादिराज के पार्श्वचरित में की गयी है। यह भी अप्राप्त है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग ४, लेख ५५)

बप्पभट्टि

ये सिद्धसेन के शिष्य थे। बाल वय मे ही दीक्षा लेकर इन्होने शास्त्राध्ययन किया। अध्ययनकाल मे इनका राजकुमार आम (जो इतिहास मे प्रतिहार कुल के राजा नागभट के रूप मे प्रसिद्ध है) से दृढ स्नेह हुआ जो जीवन-भर कायम रहा। आम ने बप्पभट्टि के उपदेश से गोपगिरि (वर्तमान ग्वालियर, मध्यप्रदेश) दुर्ग में भव्य जिनमन्दिर

बनवाया था। इनके साथ शत्रुंजय, गिरनार आदि तीर्थों का दर्शन भी आम ने किया था। बप्पभट्टि की काव्यप्रतिभा और दृढ़ व्रतनिष्ठा की कई मनोरंजक कथाएँ मिलती है। बंगाल के राजा धर्मपाल ने भी इनका सम्मान किया था। गोविन्दसूरि और नन्नसूरि इनके गुरुबन्धु थे। बप्पभट्टि रचित शान्तो वेषः इत्यादि जिनस्तुति प्रसिद्ध है। सन् ८३८ में इनका स्वर्गवास हुआ था।

[प्रभावकचरित, प्र. ११; प्रबन्धकोश, प्र. ९]

वीरसेन

प्रथम सिद्धान्त-ग्रन्थ षट्खण्डागम की एकमात्र उपलब्ध व्याख्या धवला की रचना वीरसेन ने की थी। ये चन्द्रसेन के शिष्य आर्यनन्दि के शिष्य थे। इनका विद्याभ्यास चित्रकूट (चित्तौड) में एलाचार्य के पास हुआ था तथा धवला की रचना वाटग्राम (यह विदर्भ में था, इसकी निश्चित पहचान अभी नही हो सकी है) में हुई थी। धवला का विस्तार ७२ हजार श्लोकों जितना है तथा यह अधिकतर प्राकृत में है—कही-कही संस्कृत अंश है। यह ग्रन्थ व्याख्या कैसी होनी चाहिए इसका आदर्श उदाहरण है। मूल ग्रन्थ की अनेक पोथियो के पाठों की तुलना, विषय के पूर्वापर सम्बन्ध का स्पष्टीकरण, प्रत्येक वाक्य के अर्थ की साधक-बाधक चर्चा, पुराने आचार्यों के ग्रन्थो से समर्थन, अन्य प्रामाणिक ग्रन्थो से विरोध की आशकाओ का परिहार आदि से यह ग्रन्थ सर्वांग परिपूर्ण बन गया है। सिद्धान्त, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण, तर्क आदि विषयो में वीरसेन की निपुणता इस एक ही व्याख्या से स्पष्ट है। उनके शिष्य जिनसेन के कथनानुसार उनका सब शास्त्रो का ज्ञान देखकर सर्वज्ञ के अस्तित्व के विषय में लोगो की शकाएँ नष्ट हो गयी थी। दूसरे सिद्धान्त ग्रन्थ कषायप्राभृत पर जयधवला नामक व्याख्या का प्रारम्भ भी वीरसेन ने किया था किन्तु लगभग एक तिहाई रचना होने के बाद उनका स्वर्गवास हो गया। तब जिनसेन ने वह व्याख्या पूर्ण की। इसकी प्रशस्ति मे श्रीपाल द्वारा सम्पादन का भी उल्लेख है।

[डॉ हीरालाल जैन ने षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड की प्रस्तावना मे तथा प. प्रेमी ने जैन साहित्य और इतिहास के एक निबन्ध में वीरसेन के कृतित्व के विषय में विस्तृत विवेचन किया है। प. परमानन्द ने जैनग्रन्थप्रशस्ति सग्रह, भा. २ मे नयनन्दि के सकलविधिविधान काव्य के उद्धरण दिये हैं जिनसे ज्ञात होता है कि धवला—जयधवला का रचनास्थान वाटग्राम विदर्भ मे था तथा यही महाकवि धनजय और स्वयम्भूदेव भी हुए थे।]

जिनसेन (द्वितीय)

जयधवला की रचना में इनके योगदान की चर्चा ऊपर आ चुकी है। यह कार्य सन् ८३७ में पूर्ण हुआ था। इसके कई वर्ष पूर्व ही पार्श्वाभ्युदय काव्य की रचना से

जिनसेन प्रसिद्ध हो चुके थे। कालिदास के मेघदूत की एक-एक दो-दो पंक्तियों में अपनी दो या तीन पक्तियाँ मिलाकर जिनसेन ने मूल प्रेमकाव्य को वैराग्य-काव्य में परिवर्तित कर दिया है। उनके ज्येष्ठ गुरुबन्धु विनयसेन के आग्रह से यह रचना हुई थी।

महापुराण उनकी महान् कृति है। समग्र जैन पुराणकथाओ का यह विशाल संग्रह कई दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है। वज्रजंघ-श्रीमती उपाख्यान में साहित्यिक सौन्दर्य उत्कृष्ट है तो महाबल-उपाख्यान मे तर्कचर्चा पठनीय है। प्रारम्भ में लोकस्वरूप का विस्तृत वर्णन है। भरत के राज्य के वर्णन मे आदर्श राजनीति का उपदेश है। जैन समाज में विवाहादि विधियो के लिए मन्त्रो का विधान सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ मे मिलता है। इसके श्रावकधर्म सम्बन्धी विवरण से स्पष्ट होता है कि उस समय कई ब्राह्मणो ने जैनधर्म को स्वीकार किया था और जैन समाज में उनकी एकात्मता के लिए जिनसेन ने काफी विचार किया था। प्रथम तीर्थंकर और उनके समय के महापुरुषो का वर्णन जिनसेन ने लगभग दस हज़ार श्लोको मे पूर्ण किया। दुर्भाग्य से तभी उनका देहान्त हुआ। तब शेष कथाओ का सक्षिप्त वर्णन उनके शिष्य गुणभद्र ने पूर्ण किया। राष्ट्रकूट सम्राट् अमोघवर्ष की जिनसेन पर बडी श्रद्धा थी ऐसा उत्तरपुराण की प्रशस्ति से ज्ञात होता है।

[पं. प्रेमी ने जैन साहित्य और इतिहास मे जिनसेन पर विस्तृत निबन्ध लिखा है।]

गुणभद्र

ये जिनसेन के शिष्य थे। दशरथ गुरु का भी इन्होने सादर स्मरण किया है। गुरु के देहावसान से अपूर्ण रहे महापुराण को इन्होने लगभग दस हजार श्लोको की रचना कर पूर्ण किया। इनका यह अंश उत्तरपुराण कहलाता है। सभी जैन पुराण-कथाओ का यह प्रथम विस्तृत संकलन है। गुणभद्र ने आत्मानुशासन नामक सुन्दर सुभाषित ग्रन्थ की भी रचना की है। आत्मचिन्तन के लिए उपयोगी २७२ श्लोक इसमे है। जिनदत्तचरित नामक एक छोटा-सा काव्यग्रन्थ भी इनके नाम से प्रसिद्ध है। उत्तरपुराण की प्रशस्ति मे इनके प्रधान शिष्य लोकसेन की सविनय सेवा का उल्लेख है। देवसेन ने दर्शनसार मे गुणभद्र की प्रशंसा में एक गाथा दी है। इसके अनुसार वे पक्षोपवासी महातपस्वी थे। उत्तरपुराणप्रशस्ति मे सन् ८९८ मे राजा लोकादित्य की राजधानी बंकापुर में इस पुराण की पूजा का उल्लेख किया गया है।

[प प्रेमीजी के जैन साहित्य और इतिहास मे गुणभद्र के विषय में विस्तृत चर्चा मिलती है, आत्मानुशासन को पं बालचन्द्र शास्त्री लिखित प्रस्तावना भी महत्त्व-पूर्ण है।]

कुमारसेन

देवसेन के दर्शनसार में वर्णन है कि जिनसेन के गुरुबन्धु विनयसेन के शिष्य कुमारसेन थे। इन्होने नन्दियड ग्राम (वर्तमान नान्देड, महाराष्ट्र) में सन् ८३१ में काष्ठासंघ की स्थापना की थी। देवसेन के वर्णनानुसार कुमारसेन ने संन्यास (सम्भवत. सल्लेखना) ग्रहण कर उसका भंग किया और फिर प्रायश्चित्त नही लिया। जो भी हो, इसमें सन्देह नही कि इनका काष्ठासंघ आगे चलकर खूब विस्तृत हुआ और इसमें अनेक यशस्वी आचार्य हुए।

शीलांक

जिनसेन और गुणभद्र के महापुराण के समान लगभग इन्ही के समय मे एक प्राकृत ग्रन्थ चउपन्नमहापुरिसचरिय की रचना शीलाक आचार्य ने की। आगमो की परम्परा से प्राप्त तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव और नारायणो की कथाओ का इसमें वर्णन है। इसका आदिनाथ और महावीर सम्बन्धी अंश विशेष विस्तृत है। प्राकृत में सब शलाका पुरुषो की कथाओ का यह पहला ग्रन्थ है।

[प्राकृत ग्रन्थ परिषद् द्वारा प्रकाशित सस्करण की प्रस्तावना में शीलाक का परिचय मिलता है।]

महावीर

प्राचीन धार्मिक साहित्य में, भूगोल-ग्रन्थो मे और ज्योतिष ग्रन्थों में गणित का विस्तृत उपयोग होता था। किन्तु गणित को स्वतन्त्र विषय का महत्त्व देकर ग्रन्थ लिखने का श्रेय सर्वप्रथम आचार्य महावीर ने प्राप्त किया। इनके गणितसारसंग्रह में ८ अध्यायो मे लगभग १२०० श्लोक है। प्रारम्भिक श्लोको मे आचार्य ने नृपतुग (सम्राट् अमोघवर्ष) की विस्तृत प्रशंसा लिखी है। इस ग्रन्थ पर वल्लभ ने कन्नड़ में और मल्लण ने तेलुगु में टीकाएँ लिखी है। दक्षिण भारत में किसी समय इसका व्यापक उपयोग होता रहा है। यह दो बार प्रकाशित हो चुका है।

[डॉ लक्ष्मीचन्द्र जैन ने अपनी प्रस्तावना में महावीर के गणितशास्त्र में योगदान का विस्तृत विवेचन किया है।]

शाकटायन

इनका मूल नाम पाल्यकीर्ति था। व्याकरण मे निपुणता के कारण शाकटायन यह नाम भी उन्हे मिला (शाकटायन प्राचीन समय का एक प्रसिद्ध व्याकरणकर्ता था जो पाणिनि के पूर्व हुआ था)। इनकी प्रसिद्ध रचना शब्दानुशासन है जिसपर इन्ही की अमोघवृत्ति नामक व्याख्या भी है। संस्कृत के इस व्याकरण का किसी समय जैन समाज में अच्छा प्रचार था। व्याख्या के नाम से और कुछ नियमो के उदाहरणो से मालूम

होता है कि यह ग्रन्थ सम्राट् अमोघवर्ष के राज्यकाल में लिखा गया था। स्त्रीमुक्ति-केवलिभुक्ति प्रकरण मे आचार्य ने तर्कदृष्टि से स्त्रियों की मुक्ति और केवलज्ञानियो के आहारग्रहण का समर्थन किया है।

[प. प्रेमी के जैन साहित्य और इतिहास मे शाकटायन का विस्तृत परिचय देने-वाला निबन्ध है।]

उग्रादित्य

ये श्रीनन्दि के शिष्य थे। आन्ध्र प्रदेश में रामगिरि (वर्तमान रामकोण्ड, विजय-नगरम् के पास) पर्वत पर निवास करते हुए इन्होंने कल्याणकारक नामक वैद्यकग्रन्थ की रचना की। आन्ध्र के राजा विष्णुवर्धन ने श्रीनन्दि गुरु का सम्मान किया था। तथा उग्रादित्य ने राजा अमोघवर्ष की सभा मे कल्याणकारक के अन्तिम अध्याय का व्याख्यान किया था। लगभग पचीस सौ श्लोको के इस ग्रन्थ में आयुर्वेद के सभी अंगो पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

[प वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री द्वारा सम्पादित कल्याणकारक की प्रस्तावना मे ग्रन्थ और कर्ता के विषय मे चर्चा की गयी है।]

जयसिंह

इनका धर्मोपदेशमालाविवरण नामक विस्तृत ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। इसकी रचना सन् ८५८ मे राजस्थान के नागौर नगर मे प्रतीहारवशीय भोज राजा के राज्य मे पूर्ण हुई थी। इसकी प्रशस्ति के अनुसार ग्रन्थकर्ता की गुरुपरम्परा इस प्रकार थी—वटेश्वर–तत्त्वाचार्य–यक्षमदहर–कृष्णमुनि–जयसिंह। यक्षमदहर ने खट्टउय नगर में और कृष्णमुनि ने नागौर आदि अनेक स्थानो मे जिनमन्दिर बनवाये थे ऐसा प्रशस्ति में कहा गया है। ग्रन्थ में धर्मोपदेश की प्राकृत गाथाओ के विवरण के रूप मे प्राकृत व सस्कृत मे लगभग सौ कथाएँ दी गयी है। जयसिंह ने सन् ८५६ मे धर्मदासकृत उपदेशमाला का विवरण भी लिखा था जो अभी अप्राप्त है। इनके शिष्य जयकीर्ति का शीलोपदेश-माला नामक ग्रन्थ प्राप्त है।

[धर्मोपदेश मालाविवरण के सम्पादक प लालचन्द गान्धी ने प्रस्तावना मे जयसिंह का परिचय दिया है।]

नागनन्दि

मैसूर प्रदेश के धारवाड जिले मे स्थित राणिबेण्णूर ग्राम से प्राप्त लेख में इनका परिचय मिलता है। ये सिंहवूर गण के आचार्य थे। सम्राट् अमोघवर्ष ने नागुलबसदि नामक जिनमन्दिर के लिए सन् ८६० मे इन्हे कुछ भूमि प्रदान की थी।

महाराष्ट्र के औरंगाबाद जिले में स्थित एलोरा के प्रसिद्ध गुहामन्दिरो मे जगन्नाथ-सभा नामक जैन गुहा भी हैं। इसमें प्राप्त एक लेख में भी नागनन्दि का नामोल्लेख है। इनके साथ दीपनन्दि तथा कुछ श्रावको के नाम भी दिये हैं। सम्भवतः इनके द्वारा उक्त गुहा में उत्कीर्ण जिनमूर्तियो की प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई थी।

तमिलनाडु में अर्काट जिले में स्थित पंचपाण्डवमलै पहाड़ी पर एक लेख मे भी नागनन्दि का नाम मिलता है। वहाँ इनके शिष्य नारण द्वारा पोन्नियक्कियार् (स्वर्ण-यक्षी) मूर्ति की प्रतिष्ठापना हुई थी।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेख ५६; भाग ५, लेख १२ तथा भाग २, लेख ११५]

वर्धमानचरित और शान्तिनाथपुराण नामक संस्कृत महाकाव्यो के रचयिता असग नागनन्दि के शिष्य थे। इनमें से प्रथम काव्य सन् ८५३ में पूर्ण हुआ था। कवि ने भावकीर्ति और आर्यनन्दि का भी गुरु-रूप मे उल्लेख किया है। इस काव्य का रचना-स्थान मौद्गल्य पर्वत बताया है। बाद मे चोड देश की वरला नगरी मे इन्होने आठ ग्रन्थों की रचना की थी ऐसा प्रशस्ति मे उल्लेख है। इन स्थानो की पहचान अभी नही हो सकी है।

[जैन ग्रन्थ प्रशस्ति सग्रह, भाग १, प्रशस्ति ७९-८०]

देवेन्द्र

मैसूर प्रदेश के धारवाड जिले मे स्थित कोन्नूर ग्राम से प्राप्त शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। ये देशी गण के त्रैकालयोगी के शिष्य थे। इन्हे लेख मे सैद्धान्तिकाग्रणी कहा गया है। कोलनूर मे सम्राट् अमोघवर्ष के सामन्त बकेयराज ने एक जिन-मन्दिर बनवाया था तथा उसके लिए सम्राट् से निवेदन कर एक ग्राम सन् ८६० मे देवेन्द्र को अर्पित किया था।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १२७]

कमलदेव

उत्तर प्रदेश के झाँसी जिले में बेतवा नदी के तीर पर स्थित देवगढ एक प्राचीन तीर्थक्षेत्र है। यहाँ प्राप्त शिलालेखो में सबसे पुराना लेख एक स्तम्भ पर है। सन् ८६२ मे इस स्तम्भ की स्थापना आचार्य कमलदेव के शिष्य श्रीदेव ने की थी। उस समय वहाँ प्रतीहार वश के सम्राट् भोजदेव का शासन चल रहा था। कमलदेव के मार्गदर्शन में प्रवर्तित देवगढ की शिल्पपरम्परा आगे चलकर काफी समृद्ध हुई। पचास से अधिक मन्दिर एव सैकडो मूर्तियो और स्तम्भो के अवशेष यहाँ प्राप्त होते है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १२८]

शान्तिवीर

तमिलनाडु में मदुरा के समीप ऐवरमलै पहाडी पर स्थित जिनमूर्तियों के पास प्राप्त शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। ये गुणवीर के शिष्य थे। पाण्ड्य वंश के राजा वरगुण के समय सन् ८७० में इन्होने पार्श्वनाथ और यक्षी मूर्तियो का जीर्णोद्धार करवाया था। इस कार्य के लिए प्राप्त सुवर्णमुद्राओ के दान का लेख मे वर्णन है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेख ५८]

श्रीवीर निर्वाण संवत् की पन्द्रहवीं शताब्दी

[ईसवी सन् ८७३ से ९७३]

विद्यानन्द व माणिक्यनन्दि

मैसूर प्रदेश के धारवाड जिले में स्थित अण्णिगेरि तथा गावरवाड इन दो ग्रामो में एक बृहत् शिलालेख प्राप्त हुआ है। इसमें गंग वंश के राजा बूतुग तथा उनकी रानी रेवकनिर्मडि द्वारा निर्मित जिनमन्दिर का वर्णन है। इस मन्दिर के लिए बलगार गण के आचार्य गुणकीर्ति को चार गाँव दान दिये गये थे। लेख में गुणकीर्ति के गुरु के रूप में महावादी विद्यानन्द तथा तार्किकार्क माणिक्यनन्दि का प्रशंसात्मक उल्लेख है। इन दोनो के गुरु वर्धमान थे जो तपस्या और उत्तम ज्ञान के कारण प्रसिद्ध हुए थे तथा गग वश के राजाओ के गुरु थे।[१]

विद्यानन्द जैन तर्कशास्त्र के प्रौढ लेखकों मे प्रमुख है। इनके नौ ग्रन्थ ज्ञात है। तत्त्वार्थसूत्र की व्याख्या श्लोकवार्तिक का विस्तार १८००० श्लोको जितना है। इसका पूर्वार्ध—जो प्रथम सूत्र की भूमिका के रूप मे है—तर्कदृष्टि से जीव और मोक्ष का विशद विवेचन प्रस्तुत करता है। अद्वैतवाद के विभिन्न रूपो का विस्तृत निरसन इसमें उपलब्ध होता है। अष्टसहस्री मे विद्यानन्द ने समन्तभद्र की आप्तमीमासा का विस्तृत विवरण और समर्थन प्रस्तुत किया है। नाम के अनुसार इसका विस्तार आठ हज़ार श्लोकों जितना है। इसकी रचना में कुमारसेन के सहयोग का आचार्य ने प्रशस्ति में उल्लेख किया है। समन्तभद्र की दूसरी कृति युक्त्यनुशासन पर भी विद्यानन्द की व्याख्या प्राप्त है।

इन तीन व्याख्याग्रन्थो के अतिरिक्त छह स्वतन्त्र ग्रन्थो की भी रचना विद्यानन्द ने की। आप्तपरीक्षा में मोक्षमार्ग के उपदेशक सर्वज्ञ के स्वरूप का विवेचन है। जगत्-कर्ता ईश्वर की मान्यता का खण्डन इसमे विस्तार से प्राप्त होता है। प्रमाणपरीक्षा में प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान के विभिन्न प्रकारो का विवेचन है। पत्रपरीक्षा मे वादविवादो मे प्रयुक्त होनेवाले पत्र (= कूट श्लोक) का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। सत्यशासन-परीक्षा में दस जैनेतर मतो के निरसन के साथ अनेकान्तवाद का समर्थन प्राप्त होता है। श्रीपुर के पार्श्वनाथ की स्तुति मे भी इन विभिन्न मतो का संक्षिप्त खण्डन किया गया

१ जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेख ५४—इस शिलालेख की उपलब्धि से विद्यानन्द की तिथि के विषय में पुरानी मान्यता बदली है।

है। तर्कशास्त्र सम्बन्धी विविध विषयों का विचार करते हुए विद्यानन्दमहोदय नामक विस्तृत ग्रन्थ विद्यानन्द ने लिखा था। यह अभी प्राप्त नहीं हुआ है।

आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा तथा युक्त्यनुशासनटीका के अन्त में विद्यानन्द ने सत्यवाक्य शब्द का प्रयोग किया है। इससे तर्क किया गया है कि गंग वंश के राजा सत्यवाक्य राजमल्ल के शासनकाल में—उनके सहयोग से—ये ग्रन्थ लिखे गये थे। विद्यानन्द के गुरु वर्धमान गंगराजगुरु कहे गये है यह ऊपर बताया जा चुका है।

विद्यानन्द के गुरुबन्धु माणिक्यनन्दि भी तर्कशास्त्र के प्रमुख लेखको मे से एक हैं। इनका परीक्षामुख नामक सूत्रग्रन्थ प्रमाणो के मूलभूत ज्ञान के लिए बहुत उपयोगी है। अकलक के गम्भीर और दुर्गम ग्रन्थो के विचार सरल सूत्र शैली मे निबद्ध कर यह ग्रन्थ लिखा गया है। इसपर अनेक छोटी-बडी व्याख्याएँ प्राप्त होती है। आधुनिक समय मे जैन तर्कशास्त्र की पाठ्यपुस्तक के रूप मे यह समादृत हुआ है।

[आप्तपरीक्षा की प्रस्तावना मे पं. दरबारीलाल ने विद्यानन्द के विषय में विस्तृत विवरण दिया है।]

इन्द्रकीर्ति

मैसूर प्रदेश के धारवाड जिले में स्थित सौन्दत्ती नगर के जिनमन्दिर से प्राप्त शिलालेख में इनका परिचय मिलता है। ये कारेय गण के आचार्य मूलभट्टारक के शिष्य गुणकीर्ति के शिष्य थे। इनके उपदेश से राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्णराज (द्वितीय) के सामन्त रट्टवंशीय पृथ्वीराम ने सौन्दत्ती का यह जिनमन्दिर बनवाया तथा उसके लिए गुरु को सन् ८७५ में भूमिदान दिया था।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख १३०]

सर्वनन्दि

मैसूर प्रदेश के कूडगु जिले के विलियूर ग्राम से प्राप्त शिलालेख में इनका परिचय मिलता है। ये शिवनन्दि सिद्धान्त भट्टारक के शिष्य थे। पेण्णेगडग नगर के सत्यवाक्य जिनालय के लिए राजा सत्यवाक्य कोगुणिवर्मा (राजमल्ल द्वितीय) ने सन् ८८७ मे इन्हे विलियूर आदि १२ ग्राम अर्पित किये थे। जिनमन्दिर के नाम से स्पष्ट होता है कि उसका निर्माण राजा सत्यवाक्य के द्वारा ही हुआ था।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख १३१]

इस समय से कुछ ही वर्ष पूर्व—सन् ८८१ मे दिवंगत हुए एक अन्य आचार्य का नाम भी सर्वनन्दि था। ये एकचट्टुगद भट्टारक के शिष्य थे। इनका समाधिलेख मैसूर प्रदेश के तीर्थस्थल कोप्पल की एक पहाडी चट्टान पर उत्कीर्ण है। लेख में इनके निरन्तर विद्यादान की प्रशसा की गयी है।

[जैनिज्म इन साउथ इण्डिया, पृ. ३४०]

कनकसेन

तमिलनाडु प्रदेश के सेलम जिले में स्थित धर्मपुरी ग्राम से प्राप्त शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। ये सेनगण के आचार्य विनयसेन के शिष्य थे। इनके उपदेश से निधियण्ण और चण्डियण्ण नामक श्रावकों ने धर्मपुरी में जिनमन्दिर बनवाया था। इस मन्दिर की देखभाल के लिए वहाँ के नोलम्ब वंशीय राजा महेन्द्र ने सन् ८९३ में मूलपल्ली नामक ग्राम कनकसेन को अर्पित किया था। कुछ वर्ष बाद महेन्द्र के पुत्र अय्यपदेव ने भी इस मन्दिर के लिए एक ग्राम दान दिया था।

[जैनिज्म इन साउथ इण्डिया, पृ १६२]

मौनि भट्टारक व माधवचन्द्र

इनका परिचय मैसूर प्रदेश के शिवमोग्गा जिले में स्थित तीर्थस्थान हुम्मच में प्राप्त दो शिलालेखों से मिलता है। पहला लेख सन् ८९७ का है। हुम्मच के सान्तर वंशीय राजा तोलापुरुष विक्रमादित्य ने मौनि सिद्धान्त भट्टारक के लिए एक जिनमन्दिर बनवाया तथा उसके लिए उन्हें भूमिदान दिया ऐसा इस लेख में वर्णन है।

दूसरे लेख में वर्णन है कि तोलापुरुष की पत्नी पालियक्क द्वारा अपनी माता की स्मृति में एक जिनमन्दिर बनवाया गया। माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव के शिष्य नागचन्द्र के पुत्र मादेय द्वारा इसकी पुनः प्रतिष्ठा की गयी थी। इस लेख की तिथि सन् ९५० के आसपास अनुमानित है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १३२ तथा १४५]

कुमारसेन (द्वितीय)

मैसूर प्रदेश के क्यातनहल्लि ग्राम से प्राप्त एक लेख के अनुसार राजा सत्यवाक्य ने वहाँ के जिनमन्दिर के लिए आचार्य कुमारसेन को कुछ दान दिया था। इसी प्रदेश के कूलगेरी ग्राम के सन् ९०९ के लेख के अनुसार राजा नीतिमार्ग ने कनकगिरि तीर्थ के जिनमन्दिर के लिए कनकसेन को कुछ करो की आय समर्पित की थी। कनकसेन कुमारसेन के शिष्य वीरसेन के शिष्य थे ऐसा मैसूर प्रदेश के ही मुलगुन्द नगर से प्राप्त लेख से ज्ञात होता है। सन् ९०३ के इस लेख के अनुसार अरसार्य नामक श्रावक ने अपने पिता द्वारा निर्मित जिनमन्दिर के लिए कनकसेन को कुछ भूमि प्रदान की थी।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १३७-१३९]

सिद्धर्षि

ये दुर्गस्वामी के शिष्य थे। सन् ९०६ में इन्होंने उपमितिभवप्रपंचा नामक विस्तृत कथा की रचना की। संसारचक्र से जीव की मुक्ति का तात्त्विक वर्णन इसमें उपन्यास की तरह साहित्यिक रूप में प्रस्तुत किया है। भारतीय साहित्य में रूपक कथा

का यह पहला विस्तृत ग्रन्थ है। सिद्धसेन के न्यायावतार की व्याख्या, उपदेशमाला विवरण तथा चन्द्रकेवलीचरित ये सिद्धर्षि के अन्य ग्रन्थ हैं। हरिभद्र विरचित ललितविस्तरा नामक चैत्यवन्दनवृत्ति के अध्ययन से जैन मार्ग में दृढ़ श्रद्धा हुई ऐसा सिद्धर्षि ने कहा है।

वर्धमान (द्वितीय)

ये द्राविड संघ के आचार्य लोकभद्र के शिष्य थे। महाराष्ट्र में नासिक के समीप चन्दनपुरी में अमोघवसति नामक जिनमन्दिर के लिए राष्ट्रकूट सम्राट् इन्द्रराज (तृतीय) ने सन् ९१५ में इन्हें दो गाँव प्रदान किये थे। समीपवर्ती वडनेर ग्राम की उरिअम्मवसति के लिए भी इन्हे छह गाँव प्रदान किये गये थे। द्राविड संघ के आचार्यों का प्रभावक्षेत्र मुख्यत. तमिलनाडु और मैसूर प्रदेश में पाया गया है। महाराष्ट्र में इस संघ का यह एक ही उल्लेख प्राप्त हुआ है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ५, लेख १४-१५]

वासुदेव-शान्तिभद्र

राजस्थान में उदयपुर के समीप बिजापुर से प्राप्त एक विस्तृत शिलालेख में इस प्रदेश के ईसवी सन् की दसवीं शताब्दी के कई आचार्यों का परिचय मिलता है। हस्तिकुण्डी नगर के राष्ट्रकूट वंश के राजा विदग्धराज ने आचार्य वासुदेव के उपदेश से विशाल जिनमन्दिर बनवाया था तथा अपनी सुवर्णतुला कराकर वह धन उन्हें अर्पित किया था। इस मन्दिर के लिए विदग्धराज ने सन् ९१६ में कई करो की आय बलभद्रगुरु को अर्पित की थी। विदग्धराज के पुत्र मम्मटराज ने सन् ९३९ में उपर्युक्त दान को अपनी सहमति प्रदान की थी। इस दान के वर्णन के अन्त मे केशवसूरि की परम्परा के लिए इसका उपयोग होता रहे ऐसी शुभकामना प्रकट की है। पुन. हस्तिकुण्डी के व्यापारी वर्ग ने सन् ९९७ में उपर्युक्त जिनमन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया तथा आचार्य वासुदेव के उत्तराधिकारी शान्तिभद्र द्वारा प्रतिष्ठा करवायी। इस अवसर पर सूर्याचार्य ने ४० श्लोकों की सुन्दर प्रशस्ति की रचना की जो इस शिलालेख मे खुदी है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग ४, लेख ८१]

पद्मनन्दि

मैसूर प्रदेश के बेल्लारी ज़िले में स्थित हलहर्रवि ग्राम से प्राप्त शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। सन् ९३२ के इस लेख के अनुसार राष्ट्रकूट राजा कृष्णराज की रानी चन्दियब्वे ने नन्दवर ग्राम में एक जिनमन्दिर बनवाया था तथा उसकी देखभाल के लिए पद्मनन्दि को कुछ करों की आय प्रदान की थी।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेख ७९]

देवसेन

ये विमलसेन के शिष्य थे। इन्होंने धारा नगर में संवत् ९९० में दर्शनसार नामक ग्रन्थ लिखा। जैनधर्म के विभिन्न सम्प्रदायों और कुछ जैनेतर सम्प्रदायों की स्थापना के विषय में परम्परागत कथाएँ इसमें संक्षेप से दी गयी हैं। नयचक्र नामक प्राकृत गाथाबद्ध ग्रन्थ में इन्होंने निश्चय और व्यवहार नयों के विभिन्न उपभेदों का वर्णन किया है। इसी विषय को संस्कृत में आलापपद्धति नामक ग्रन्थ में दिया गया है। यह भी देवसेन की ही रचना है। तत्त्वसार और आराधनासार ये इनके प्राकृत ग्रन्थ आत्मचिन्तन के लिए उपयोगी हैं। इनका एक और ग्रन्थ भावसंग्रह भी प्राकृत में है। जीव के विभिन्न भावों का इसमें विस्तार से वर्णन है। देवसेन के नाम से एक अपभ्रंश ग्रन्थ सुलोचना-चरित भी मिला है जो अभी अप्रकाशित है, शेष सब ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। इनके एक शिष्य माइल्लधवल ने द्रव्यस्वभाव प्रकाश नाम से नयचक्र का विस्तृत संस्करण लिखा है। यह भी छप चुका है। अपभ्रंश में देवसेन का एक ग्रन्थ सावयधम्म दोहा भी प्रकाशित हुआ है। इसमें श्रावकों के धर्माचरण का वर्णन है।

[पं प्रेमीजी के जैन साहित्य और इतिहास में देवसेन पर विस्तृत निबन्ध है।]

हरिषेण

पुन्नाट संघ के आचार्य हरिषेण ने सन् ९३२ में कथाकोश नामक बृहद् ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ वर्धमानपुर (वढवाण) में लिखा गया था जहाँ लगभग १५० वर्ष पूर्व इसी पुन्नाट संघ के आचार्य जिनसेन ने हरिवंशपुराण लिखा था। हरिषेण ने अपनी गुरुपरम्परा इस प्रकार बतलायी है—मौनि भट्टारक—हरिषेण (प्रथम)—भरतसेन—हरिषेण (ग्रन्थकर्ता)। १२ हजार से अधिक श्लोकों के इस ग्रन्थ में १५७ कथाएँ हैं जिनमें आराधना की गाथाओ के उदाहरणस्वरूप पुरातन आख्यान दिये गये है। इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण चाणक्य, भद्रबाहु, धरसेन आदि की कई कथाएँ इसमें मिलती हैं।

[डॉ. उपाध्ये ने कथाकोश की प्रस्तावना में ग्रन्थ और ग्रन्थकर्ता के विषय में विस्तृत विवेचन किया है।]

नागदेव

मैसूर प्रदेश के धारवाड जिले में स्थित सूदी ग्राम से प्राप्त ताम्रशासन से इनका परिचय मिलता है। ये वडियूर गण के प्रमुख थे। गंग वंश के राजा बूतुग की रानी दीवलाम्बा ने सूदी में एक भव्य जिनमन्दिर बनवाया और उसके लिए नागदेव को सन् ९३८ में भूमिदान दिया था।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख १४२]

उद्द्योतन-सर्वदेव

तपागच्छ पट्टावली के अनुसार उद्द्योतन सूरि ने सन् ९३८ में सर्वदेव को सूरिपद प्रदान किया था। आबू के यात्रा के लिए जाते हुए टेली ग्राम के समीप एक विशाल वटवृक्ष की छाया में यह कार्य सम्पन्न हुआ जिसकी स्मृति में सर्वदेव का शिष्य परिवार वडगच्छ (जिसका संस्कृत रूपान्तर बृहद् गच्छ हुआ) कहलाया।

हेलाचार्य व इन्द्रनन्दि

दक्षिण भारत में मलयपर्वत के समीप हेमग्राम में द्रविड गण के प्रमुख हेलाचार्य का निवास था। एक बार उनकी शिष्या कमलश्री किसी ब्रह्मराक्षस द्वारा पीड़ित हुई। उसके उपचारार्थ आचार्य ने ज्वालामालिनी देवी की आराधना की। देवी द्वारा दिये गये मन्त्र के प्रभाव से कमलश्री का कष्ट दूर हुआ। देवी के कथनानुसार मन्त्रो की साधना के विषय में आचार्य ने ज्वालिनीमत नामक ग्रन्थ लिखा। गंगमुनि-नीलग्रीव-विजाव-आर्या क्षान्तिरसब्वा-क्षुल्लक विरुवट्ट इस परम्परा से आता हुआ यह शास्त्र पढ़कर इन्द्रनन्दि ने सुन्दर संस्कृत छन्दो में ज्वालिनीमत ग्रन्थ की रचना की। हेलाचार्य का मूल ग्रन्थ तो अब प्राप्त नही है, इन्द्रनन्दि का ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है। राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्णराज (तृतीय) के राज्यकाल में उनकी राजधानी मान्यखेट मे सन् ९३९ में इसकी रचना हुई थी। अन्त मे ग्रन्थकर्ता ने अपनी गुरुपरम्परा इन्द्रनन्दि—वासवनन्दि—बप्पनन्दि—इन्द्रनन्दि (द्वितीय) इस प्रकार बतायी है।

[जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, भाग १, प्रशस्ति ९१]

पद्मकीर्ति

ये माथुर गच्छ के आचार्य थे। इनकी गुरुपरम्परा चन्द्रसेन—माधवसेन—जिनसेन—पद्मकीर्ति इस प्रकार बतलायी है। अपभ्रंश भाषा में रचित पार्श्वपुराण इनकी एकमात्र कृति है जो सन् ९४३ में पूर्ण हुई थी। यह १८ सन्धियों का सुन्दर काव्य है जिसमे तेईसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ की कथा का विस्तृत और अलकृत वर्णन है।

[डॉ. प्रफुल्लकुमार मोदी द्वारा सम्पादित यह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है।]

गुणचन्द्र

मैसूर प्रदेश के धारवाड जिले में नरेगल ग्राम से प्राप्त शिलालेख में इनका परिचय मिलता है। ये देशी गण के महेन्द्र पण्डित के शिष्य वीरनन्दि के शिष्य थे। गग वश के राजा बूतुग की रानी पद्मब्बरसि द्वारा निर्मित जिनमन्दिर मे दानशाला के लिए मारसिघय्य ने एक तालाब अर्पित किया था। सन् ९५० में यह दान गुणचन्द्र को अर्पित किया गया था।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग ४, लेख ८३]

वासवचन्द्र

मध्य प्रदेश के छतरपुर जिले में स्थित खजुराहो नगर के शान्तिनाथ मन्दिर के स्थापना लेख (सन् ९५५) में इनका नाम उपलब्ध होता है। इन्हे महाराजगुरु कहा गया है। चन्देल वंश के राजा धंग द्वारा सम्मानित पाहिल नामक श्रावक ने यह मन्दिर बनवाया था। मध्ययुग की भारतीय कलाकृतियों में खजुराहो के इस जैन मन्दिर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी के अहाते में आदिनाथ मन्दिर और पार्श्वनाथ मन्दिर भी है जिनकी भित्तियों पर उत्कीर्ण दिव्यागना मूर्तियाँ विश्वविख्यात हुई हैं।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १४७]

सोमदेव

देवसंघ के आचार्य यशोदेव के शिष्य नेमिदेव थे। इनके शिष्य सोमदेव महान् ग्रन्थकर्ता थे। इन्होने सन् ९५९ में यशस्तिलक चम्पू (गद्यपद्यमिश्र काव्य) की रचना की। अहिंसा का महत्त्व प्रतिपादन करनेवाली राजा यशोधर की कथा इसमें काव्यमय रूप मे ग्रथित है। प्राचीन भारत की संस्कृति का बड़ी सूक्ष्मता से चित्रण इस कृति मे किया है। राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्णराज के सामन्त चालुक्य राजा बद्दिग की राजधानी गंगधारा मे यह रचना पूर्ण हुई थी। कथावर्णन के साथ ही श्रावक के आदर्श आचरण का विस्तृत उपदेश भी इस ग्रन्थ मे है। दक्षिण भारत मे जैन समाज मे प्रचलित जिनपूजा का विस्तृत विधान सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ मे मिलता है। सोमदेव का नीतिवाक्यामृत जैन साहित्य मे अपने ढंग का अकेला ग्रन्थ है। इसमें राजनीति का सरस विवेचन किया है। टीकाकार के कथनानुसार कन्नौज के राजा महेन्द्रपाल के आग्रह से यह ग्रन्थ लिखा गया था। सोमदेव का अध्यात्मतरंगिणी नामक आत्मचिन्तन पर ग्रन्थ भी प्राप्त है। इसके अतिरिक्त युक्तिचिन्तामणि, महेन्द्रमातलिसंजल्प, षण्णवतिप्रकरण तथा स्याद्वादोपनिषत् ये इनके ग्रन्थ अभी अप्राप्त है। सोमदेव ने अनेक वादो में विजय पायी थी। उनके गुरु नेमिदेव और गुरुबन्धु महेन्द्रदेव भी अनेक वादो में विजयी हुए थे ऐसा सोमदेव के वर्णन से मालूम होता है। लौकिक विषयो में जैनेतर साहित्य का भी निःसंकोच उपयोग करना चाहिए ऐसा उनका मत था और इस उदारता का उन्होने अपने साहित्य में भी प्रयोग किया है। आन्ध्र प्रदेश के करीमनगर जिले में स्थित वेमुलवाड से प्राप्त एक शिलालेख के अनुसार राजा बद्दिग ने सोमदेव के लिए एक जिनमन्दिर का निर्माण कराया था।

[डॉ. हन्दिकी ने यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर नामक ग्रन्थ मे सोमदेव की कृति का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है, इसका श्रावकाचार सम्बन्धी अंश पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री ने हिन्दी विवेचन के साथ सम्पादित किया है।]

एलाचार्य

मैसूर प्रदेश के धारवाड नगर से प्राप्त ताम्रशासन से इनका परिचय मिलता है। ये सूरस्थ गण के आचार्य थे। इनकी गुरुपरम्परा इस प्रकार बतलायी है—प्रभाचन्द्र—कल्लेलेदेव—रविचन्द्र—रविनन्दि—एलाचार्य। गंग वंश के राजा मारसिंह ने उसकी माता कल्लब्बे द्वारा निर्मित जिनमन्दिर के लिए इन्हें सन् ९६२ में कादलूर नामक ग्राम दान दिया था।

[जैन शिलालेख संग्रह, भा. ४, लेख ८५]

नागनन्दि (द्वितीय)

मैसूर प्रदेश के रायचूर ज़िले में स्थित उप्पिनबेटगेरी ग्राम से प्राप्त एक शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। ये सूरस्थ गण के श्रीनन्दि के शिष्य विनयनन्दि के शिष्य थे। राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्णराज (तृतीय) के राज्यकाल में महासामन्त शंकरगण्ड ने कोप्पण तीर्थ में जयधीर जिनालय नामक मन्दिर बनवाया था उसके लिए महासामन्त राट्टय्य ने सन् ९६४ में नागनन्दि को भूमिदान दिया था।

[जैनिज़्म इन साउथ इण्डिया, शिलालेख क्र. ४६]

जयदेव

मैसूर प्रदेश के धारवाड ज़िले मे स्थित प्राचीन तीर्थ लक्ष्मेश्वर से प्राप्त एक विस्तृत शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। ये देवगण के प्रधान देवेन्द्र के शिष्य एकदेव के शिष्य थे। गंग वंश के राजा मारसिंह ने गगकन्दर्पजिन मन्दिर के लिए इन्हे सन् ९६८ मे भूमिदान दिया था।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख १४९]

अभयनन्दि

मैसूर प्रदेश के कडूर नगर से प्राप्त एक समाधिलेख से इनका परिचय मिलता है। ये देशी गण के आचार्य थे। देवेन्द्र—चान्द्रायण—गुणचन्द्र—अभयनन्दि ऐसी इनकी परम्परा बतायी है। इनकी शिष्या नाणब्बे की शिष्या पाम्बब्वे ने सन् ९७१ में सल्लेखना द्वारा देहत्याग किया था।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १५०]

वीरदेव, अर्हनन्दि और नाथसेन

आन्ध्र प्रदेश के पूर्व भाग के चालुक्य वंश के राजा अम्मराज (द्वितीय) विजयादित्य के तीन दानपत्रो से इन आचार्यों का परिचय मिलता है। इस राजा का राज्य सन् ९४५ से ९७० तक रहा था।

श्रीरदेव यापनीय संघ के कोटिमडुव गण के प्रधान थे। अर्हनन्दि की परम्परा के जिननन्दि के शिष्य दिवाकर इनके गुरु थे। अम्मराज के सेनापति दुर्गराज ने धर्मपुरी के दक्षिण में कटकाभरण नामक जिनमन्दिर बनवाया था। उसके लिए राजा ने एक ग्राम श्रीरदेव को अर्पित किया था।

अर्हनन्दि बलहारिगण—अड्डकलि गच्छ के आचार्य थे। सकलचन्द्र के शिष्य अय्यपोटि इनके गुरु थे। पट्टवर्धिक कुल की श्राविका ने अम्मराज से निवेदन कर सर्व-लोकाश्रय नामक जिनमन्दिर के लिए अर्हनन्दि को एक ग्राम अर्पित किया था।

अम्मराज के सामन्त भीम और नरवाहन ने विजयवाटिका (आधुनिक विजय-वाडा) में दो जिनमन्दिर बनवाये थे। इनके लिए राजा ने इन सामन्तो के गुरु चन्द्र-सेन के शिष्य नाथसेन को एक ग्राम अर्पित किया था।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १४३-४४ तथा भाग ४, लेख १००]

अमृतचन्द्र

कुन्दकुन्द के समयसार पर अमृतचन्द्र ने आत्मख्याति नामक संस्कृत व्याख्या लिखी है। संस्कृत के अध्यात्म-ग्रन्थो में इसका स्थान बहुत ऊँचा है। जीव और कर्म के सम्बन्ध को संसाररूपी रंगभूमि पर अभिनीत नाटक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ज्ञानस्वरूप आत्मा की आनन्दमय अनुभूति का सुन्दर सस्कृत श्लोको में वर्णन इस टीका की विशेषता है। ये श्लोक समयसार-कलश नाम से पृथक् ग्रन्थ के रूप में भी संकलित हुए है। हिन्दी में इन्ही का रूपान्तर बनारसीदास विरचित नाटकसमयसार में प्राप्त होता है। प्रवचनसार और पंचास्तिकाय पर भी अमृतचन्द्र की व्याख्याएँ उपलब्ध है। तत्त्वार्थसार मे इन्होने तत्त्वार्थसूत्र के विषयों का पद्यबद्ध विवरण दिया है। पुरुषार्थ-सिद्धयुपाय यह अमृतचन्द्र की ही सुन्दर रचना है। अध्यात्म और व्यवहार का सुन्दर समन्वय करते हुए इसमें श्रावको के कर्तव्यो का विवेचन किया गया है। इसमें अहिंसा का जैसा सूक्ष्म तात्त्विक और व्यावहारिक विश्लेषण मिलता है वैसा अन्य किसी ग्रन्थ में प्राप्त नही होता। इनका शक्तिमणिकोष नामक एक और ग्रन्थ कुछ वर्ष पूर्व मिला है। यह अभी अप्रकाशित है। पं. आशाधर ने अमृतचन्द्र का उल्लेख ठक्कुर इस विशेषण के साथ किया है। इससे ज्ञात होता है कि पूर्व वय में ये किसी गाँव के जमीदार रहे होंगे।

[प प्रेमी के जैन साहित्य और इतिहास में अमृतचन्द्र के समय आदि के विषय में चर्चा की गयी है।]

योगीन्दु

अध्यात्मपर ग्रन्थों में योगीन्दु के परमात्मप्रकाश और योगसार का स्थान बहुत ऊँचा है। अपभ्रंश दोहों में रचित इन ग्रन्थों में मार्मिक शब्दावली में आत्मसाधना के मार्ग का उपदेश दिया गया है। हिन्दी के निर्गुणवादी कवियो की शब्दावली का पूर्वरूप

इन दोहों में उपलब्ध है। ग्रन्थ-रचना में प्रेरक के रूप में योगीन्दु ने भट्टप्रभाकर का उल्लेख किया है। संस्कृत में अमृताशीति और प्राकृत में निजात्माष्टक ये इनकी अन्य दो रचनाएँ भी प्रकाशित हुई हैं।

[परमात्मप्रकाश की प्रस्तावना में डॉ उपाध्ये ने योगीन्दु के विषय में विस्तृत विवेचन किया है।]

अन्य आचार्य

इस शताब्दी के अन्य आचार्यों में आचारांग तथा सूत्रकृतांग की संस्कृत टीकाओं के रचयिता शीलाक (द्वितीय), भुवनसुन्दरी कथा नामक विस्तृत प्राकृत काव्य के प्रणेता विजयसिंह तथा संयममंजरी नामक अपभ्रंश काव्य के लेखक महेश्वर प्रमुख हैं। लघुसर्वज्ञसिद्धि तथा बृहत् सर्वज्ञसिद्धि इन प्रकरणो के रचयिता अनन्तकीर्ति भी इसी शताब्दी में हुए थे।

कन्नड भाषा के प्रारम्भिक साहित्य से भी इस शताब्दी के कुछ जैन आचार्यों का परिचय मिलता है। कन्नड आदिपुराण के रचयिता पम्प ने गुणनन्दि के शिष्य देवेन्द्र का गुरु-रूप में स्मरण किया है, यह रचना सन् ९४१ की है। कन्नड शान्तिनाथपुराण के प्रणेता पोन्न भी इसी काल के है, इन्होने इन्द्रनन्दि और जिनचन्द्र का गुरु-रूप में स्मरण किया है।

श्रीवीर निर्वाण संवत् की सोलहवीं शताब्दी

[ईसवी सन् ९७३ से १०७३]

अजितसेन

ये सेनगण के आचार्य आर्यसेन के शिष्य थे। इनके तीन महत्त्वपूर्ण शिष्यो का वृत्तान्त श्रवणबेलगोल के शिलालेखों से तथा उनके साहित्य से ज्ञात होता है।

श्रवणबेलगोल के चन्द्रगिरि पर्वत पर स्थित एक स्तम्भ पर गग वंश के राजा मारसिंह के समाधिमरण का स्मारक लेख है। मारसिंह के राजनीतिक जीवन की सफलताओ का—विभिन्न युद्धों में प्राप्त विजयों का तथा प्रशंसात्मक विरुदो का उल्लेख करने के बाद कहा गया है कि उन्होने बकापुर में अजितसेन गुरु के सान्निध्य मे समाधिमरण स्वीकार किया। यह घटना सन् ९७४ की है।

मारसिंह के उत्तराधिकारी राजमल्ल के सेनापति चामुण्डराय भी अजितसेन के शिष्य थे। इन्होने संस्कृत में चारित्रसार तथा कन्नड में त्रिषष्टिशलाकापुरुषपुराण (सन् ९७८) की रचना की है। ये दोनो ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके है। दोनो मे ग्रन्थकर्ता के गुरु के रूप मे अजितसेन का उल्लेख है। श्रवणबेलगोल के विन्ध्यगिरि पर्वत पर स्थित विश्वविख्यात गोम्मटेश्वर बाहुबली की महामूर्ति का निर्माण भी चामुण्डराय द्वारा ही किया गया था। यही के चन्द्रगिरि पर्वत पर भी चामुण्डरायवसति नामक मन्दिर है। इसमें चामुण्डराय के पुत्र जिनदेव द्वारा स्थापित जिनमूर्ति है।

कन्नड के महाकवि रन्न के अजितनाथ पुराण मे भी अजितसेन का गुरु रूप मे उल्लेख है। यह ग्रन्थ सन् ९९३ में पूर्ण हुआ था।

नेमिचन्द्र के गोम्मटसार में अजितसेन को गुण-समूह के धारक तथा भुवनगुरु कहा गया है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भा. १ की प्रस्तावना मे डॉ. हीरालाल जैन ने तथा जैन साहित्य और इतिहास में पं. प्रेमी ने अजितसेन का परिचय दिया है।]

वीरनन्दि

ये गुणनन्दि के शिष्य अभयनन्दि के शिष्य थे। इनका चन्द्रप्रभचरित महाकाव्य सुप्रसिद्ध है। इसमें आठवें तीर्थंकर की जीवनकथा पाँच पूर्वजन्मो के साथ विस्तार से वर्णित है। संस्कृत भाषा के साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से यह रचना उच्च कोटि की

है। वादिराज ने पार्श्वचरित में इनकी प्रशंसा में एक श्लोक लिखा है। नेमिचन्द ने गुरु-रूप में इनका स्मरण किया है।

इन्द्रनन्दि

इनकी श्रुतावतार नामक रचना संक्षिप्त होते हुए भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व-पूर्ण है। षट्खण्डागम तथा कषायप्राभृत इन सिद्धान्त ग्रन्थो तथा उनकी टीकाओ के विषय में महत्त्वपूर्ण विवरण इन्द्रनन्दि ने दिया है। जैन आचार्यों के कालक्रम को निश्चित करने में श्रुतावतार से बहुत सहायता मिली है। नेमिचन्द्र ने इनका भी गुरुरूप मे स्मरण किया है।

[पं. प्रेमी ने जैन साहित्य और इतिहास मे इन दोनो आचार्यों का परिचय दिया है।]

नेमिचन्द्र

ये सिद्धान्तचक्रवर्ती के विरुद से प्रसिद्ध हैं। उन्ही के कथनानुसार जिस प्रकार चक्रवर्ती अपने चक्र से भरत क्षेत्र के छह खण्डो को जीतता है उसी प्रकार बुद्धिरूपी चक्र से नेमिचन्द्र ने आगम के छह खण्डोको जीत लिया था। उनके इस गहन अध्ययन का सार गोम्मटसार नामक ग्रन्थ मे निबद्ध है। जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड इन दो भागो मे इस ग्रन्थ की रचना हुई है। लब्धिसार ग्रन्थ भी नेमिचन्द्र ने लिखा जो गोम्मटसार के परिशिष्ट के समान है। इनके त्रिलोकसार मे लगभग एक हजार गाथाओ मे विश्व-स्वरूप सम्बन्धी प्राचीन मान्यताएँ संकलित है। गोम्मटसार के विभिन्न प्रकरणो में आचार्य ने अभयनन्दि, इन्द्रनन्दि, वीरनन्दि (इन तीनो का ऊपर उल्लेख हो चुका है), कनकनन्दि तथा अजितसेन का गुरुरूप मे उल्लेख किया है। चामुण्डराय द्वारा गोमटेश्वर-मूर्ति के निर्माण का तथा वीरमार्तण्डी नामक देशी (कन्नड) व्याख्या का भी उल्लेख हुआ है। चामुण्डराय के आग्रह से संकलित होने के कारण ही गोम्मटसार यह नाम इस ग्रन्थ को दिया गया था। पहले द्रव्यसंग्रह यह छोटा-सा ग्रन्थ भी इन्ही नेमिचन्द्र का माना गया था किन्तु अब यह भ्रम दूर हो चुका है।

[पुरातन जैन वाक्य सूची की प्रस्तावना मे पं मुख्तार ने नेमिचन्द्र के विषय में विस्तृत चर्चा की है।]

अमितगति

ये माथुर संघ के आचार्य थे। इन्होंने अपनी गुरुपरम्परा इस प्रकार बतलायी है—वीरसेन—देवसेन—अमितगति (प्रथम, जिनका योगसार नामक संस्कृत ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है)—नेमिषेण—माधवसेन—अमितगति (द्वितीय, प्रस्तुत ग्रन्थकर्ता)। इनकी सात संस्कृत रचनाएँ प्रकाशित हुई है। सुभाषितरत्नसन्दोह मे लगभग ९०० श्लोको में वैराग्य का उपदेश है। इसकी रचना राजा मुंज के राज्य में सन् ९९३ मे

हुई थी। धर्मपरीक्षा में वैदिक पुराणों की अविश्वसनीयता कथाओं के माध्यम से स्पष्ट की है। यह सन् १०१३ में पूर्ण हुई थी। पंचसंग्रह की रचना सन् १०१६ में धारा के समीप मसूतिका (वर्तमान मसोद ग्राम) में हुई थी। कर्मबन्ध सम्बन्धी विवरण देनेवाला यह ग्रन्थ इसी नाम के प्राकृत ग्रन्थ का संस्कृत रूपान्तर है। शिवार्य की आराधना का संस्कृत रूपान्तर भी अमितगति ने किया है। इनकी तत्त्वभावना में आत्मचिन्तन के विषय में १२० श्लोक हैं। बत्तीस श्लोकों की भावना द्वात्रिंशतिका अमितगति की सबसे अधिक लोकप्रिय रचना है। यह सामायिक पाठ के नाम से भी प्रसिद्ध है। इनके उपासकाचार (या श्रावकाचार) में जैन गृहस्थों के आदर्श आचरण का सुन्दर विवरण है। तत्त्वज्ञान की भी विस्तृत चर्चा इसमें मिलती है। अमितगति के सभी ग्रन्थ सरल भाषा-शैली के कारण समाज में सुप्रचलित रहे है।

[पं. प्रेमी के जैन साहित्य और इतिहास में अमितगति का विस्तृत परिचय देने-वाला निबन्ध है।]

जयसेन

ये लाडबागड संघ के आचार्य थे। इनका धर्मरत्नाकार नामक ग्रन्थ प्राप्त हुआ है। करहाटक (वर्तमान कन्हाड महाराष्ट्र) में सन् ९९९ में इसकी रचना पूर्ण हुई थी। प्रशस्ति के अनुसार जयसेन की गुरुपरम्परा इस प्रकार थी—धर्मसेन—शान्तिषेण—गोपसेन—भावसेन—जयसेन। ग्रन्थ अभी अप्रकाशित है।

[जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, भाग १, प्रशस्ति २]

महासेन

ये जयसेन के शिष्य गुणाकरसेन के शिष्य थे। मुंज राजा ने इनका सम्मान किया था। मुज के उत्तराधिकारी सिन्धुराज के महामन्त्री पर्पट के आग्रह से इन्होंने प्रद्युम्नचरित महाकाव्य की रचना की। यह प्रकाशित हो चुका है। श्रीकृष्ण के पुत्र और कामदेव के रूप में प्रसिद्ध प्रद्युम्नकुमार की रोचक कथा इसमे वर्णित है। शृंगार, वीर, हास्य और शान्त रस का उत्तम परिपोष इसमें प्राप्त होता है।

[पं. प्रेमीजी ने जैन साहित्य और इतिहास मे महासेन का परिचय दिया है।]

अभयदेव

सिद्धसेन के सन्मतिसूत्र पर अभयदेव ने वादमहार्णव नामक टीका लिखी जिसका विस्तार २५००० श्लोको जितना है। आत्मा, ईश्वर, सर्वज्ञ, मुक्ति, वेदप्रामाण्य आदि विविध विषयो का तर्कदृष्टि से विस्तृत परीक्षण इस ग्रन्थ मे मिलता है। अभयदेव चन्द्र-कुल के प्रद्युम्नसूरि के शिष्य थे। इनके शिष्य धनेश्वर राजा मुंज की सभा में सम्मानित हुए थे। इनकी परम्परा को राजगच्छ यह नाम मिला था।

[पं. सुखलालजी और पं बेचरदासजी द्वारा सम्पादित सन्मतिटीका गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर, अहमदाबाद से १९२३–३० में प्रकाशित हुई है ।]

पद्मनन्दि

ये वीरनन्दि के शिष्य बलनन्दि के शिष्य थे । इनका जम्बूदीवपण्णत्तिसंगह नामक प्राकृत ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है । राजस्थान के बारा नगर मे जिनधर्म के प्रति वत्सल शक्ति राजा के राज्य मे यह ग्रन्थ लिखा गया था । तेरह अधिकारो में लगभग २४०० गाथाओ में जम्बूद्वीप सम्बन्धी प्राचीन मान्यताओ का अच्छा विवरण इसमें प्राप्त होता है । माघनन्दि के शिष्य सकलचन्द्र के शिष्य श्रीनन्दि के आग्रह से पद्मनन्दि ने इस ग्रन्थ की रचना की थी ।

[डॉ हीरालाल जैन तथा डॉ उपाध्ये ने ग्रन्थ की प्रस्तावना में कर्ता का परिचय दिया है । जैन साहित्य और इतिहास में पं प्रेमी का इस विषय पर निबन्ध भी उपयुक्त है ।]

वीरभद्र

इनके ग्रन्थ प्रकीर्णक इस नाम मे आगमो मे सम्मिलित किये गये है । चतु शरण मे ६३ गाथाओ मे अरहन्त, सिद्ध, साधु तथा जिनप्रणीत धर्म इन चार को शरण जाने योग्य बताया है । आतुरप्रत्याख्यान मे ७० गाथाओ में समाधिमरण का महत्त्व स्पष्ट किया है । भक्तपरिक्षा मे १७२ गाथाएँ है, इसमे भी समाधिमरण के विषय में विवेचन है तथा चित्त को निराकुल बनाने की आवश्यकता स्पष्ट की है । देवेन्द्रस्तव मे ३०७ गाथाएँ है, इसमे तीर्थकरो की वन्दना के प्रसग मे देवो के इन्द्रो के विषय मे विवरण दिया गया है । आराधनापताका मे ९९० गाथाओ मे ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप का महत्त्व स्पष्ट किया है । इसकी रचना सन् १०२२ में हुई थी ।

[डॉ जगदीशचन्द्र जैन ने प्राकृत साहित्य का इतिहास, अ. २ मे इन ग्रन्थो का विवरण दिया है ।]

जिनेश्वर

इनका जन्म उज्जयिनी के एक ब्राह्मणकुल मे हुआ था । ये चन्द्रकुल के आचार्य उद्द्योतन के शिष्य वर्धमान के शिष्य थे । उनके समय में प्राय. सभी जैन आचार्य स्थायी रूप से किसी जिनमन्दिर मे निवास करते थे और इसलिए चैत्यवासी या मठपति कहलाते थे । वर्धमान ने इस स्थिति मे सुधार कर पुरातन शास्त्रवर्णित मुनिचर्या को पुन. प्रवर्तित करने का प्रयास किया । इस कार्य में जिनेश्वर की विद्वत्ता से काफी सफलता मिली । इन्होने अणहिलपुर मे चौलुक्य राजा दुर्लभराज की सभा में अपना पक्ष स्थापित कर प्रशंसा प्राप्त की । इनकी परम्परा आगे चलकर खरतर गच्छ इस नाम से प्रसिद्ध हुई ।

जालोर में सन् १०२३ में जिनेश्वर ने हरिभद्रकृत अष्टकप्रकरण पर विस्तृत व्याख्या लिखी। इसी वर्ष यहीं पर इनके बन्धु बुद्धिसागर ने संस्कृत व्याकरण की रचना की। इसी स्थान पर सोलह वर्ष बाद जिनेश्वर ने चैत्यवन्दनटीका की रचना की। इसके चार वर्ष पूर्व आशापल्ली में वे निर्वाणलीलावती नामक विस्तृत कथाग्रन्थ की रचना कर चुके थे। उनका कथाकोष प्रकरण सन् १०५२ में पूर्ण हुआ था। इसमें धर्माचरण के दृष्टान्तस्वरूप ४० कथाएँ सुन्दर प्राकृत में लिखी गयी हैं। श्वेताम्बरों के पास अपना कोई विस्तृत प्रमाणशास्त्र नहीं है। इस आक्षेप को दूर करने के लिए इन्होंने न्यायावतार के प्रथम श्लोक को आधार के रूप में लेकर प्रमालक्ष्म नामक वार्तिकग्रन्थ की रचना की। प्रमाण और तर्काधारित वाद की प्रक्रिया के विषय में विस्तृत विवरण इसमें प्राप्त होता है। षट्स्थानकप्रकरण और पंचलिंगीप्रकरण ये इनकी अन्य रचनाएँ हैं। पहली में श्रावकों के छह गुणों का तथा दूसरी में सम्यक्त्व के पाँच लक्षणों का विवेचन है।

जिनेश्वर के तीन शिष्य प्रथितयश ग्रन्थकर्ता हुए। जिनभद्र—जिनका दूसरा नाम धनेश्वर था—ने सन् १०३८ में चड्डावली नगर में सुरसुन्दरी कथा की रचना की। जिनचन्द्र ने सन् १०६८ में संवेगरंगशाला नामक विस्तृत कथाग्रन्थ लिखा। तीसरे शिष्य अभयदेव का परिचय आगे दिया गया है।

[सिंघी ग्रन्थमाला मे प्रकाशित कथाकोष प्रकरण की भूमिका में मुनि जिनविजयजी ने इनका विस्तृत परिचय दिया है।]

अभयदेव (द्वितीय)

धारा नगर के एक श्रेष्ठिकुल मे अभयदेव का जन्म हुआ था। इन्हे खरतर गच्छ के आचार्य जिनेश्वरसूरि से शिक्षा-दीक्षा प्राप्त हुई। एक बार शम्भाणा ग्राम मे विहार करते हुए इन्हे कुष्ठरोग हुआ। रोग असाध्य समझकर उन्होंने सल्लेखना का विचार किया किन्तु शासनदेवता की प्रेरणा से वह विचार छोडकर अनेक श्रावको के साथ स्तम्भन तीर्थ (खम्भात नगर) के समीप सेढी नदी के तट पर पहुँचे। वहाँ पलाश वृक्षो के झुरमुट मे पार्श्वनाथ की एक दिव्य प्रतिमा थी। आचार्य ने जय तिहुअण इन शब्दों से प्रारम्भ कर भक्तिपूर्वक पार्श्वस्तुति की रचना की। इसके प्रभाव से उनका रोग पूर्णत· दूर हो गया। यह स्तुति अब भी सुप्रसिद्ध है। खम्भात का यह पार्श्वनाथ मन्दिर भी तीर्थ के रूप मे प्रसिद्ध है। तदनन्तर अणहिलवाड पाटन की करडिहट्टी बसति में रहते हुए आचार्य ने स्थानाग से विपाकश्रुताग तक नौ अंग ग्रन्थों पर वृत्ति की रचना की, यह कार्य सन् १०६३ से १०७१ तक सम्पन्न हुआ। पाल्हउदा ग्राम में आचार्य के कुछ भक्त श्रावक थे। उनके कुछ जहाज समुद्र मे डूबने की अफवाह सुनकर वे दुखी हुए थे। आचार्य ने उन्हे धैर्य रखने को कहा। बाद में उनके सभी जहाज सकुशल लौटे। तब उन श्रावकों ने प्राप्त धन में से आधा भाग अंगग्रन्थो की प्रतियाँ लिखवाने में खर्च किया। इस प्रकार आचार्य की वृत्तियों का व्यापक प्रसार हुआ। सन् १०७८ में इनका स्वर्गवास हुआ।

इनके शिष्य वर्धमान द्वारा रचित मनोरमा कथा तथा आदिनाथचरित प्राप्त हैं। इनके दूसरे शिष्य जिनवल्लभ का उल्लेख आगे हुआ है।

[प्रभावकचरित, प्र. १९, प्रबन्धचिन्तामणि प्रकाश ५, प्र. २१; खरतरगच्छ बृहद्-गुर्वावलि, पृ ६, ९०; नवांगवृत्तियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं।]

धर्मघोष-वर्धमान

गुजरात के चौलुक्य वंशीय महाराज भीमदेव के मन्त्री विमल चन्द्रावती नगर में शासन कर रहे थे। तब वहाँ धर्मघोष सूरि का विहार हुआ था। उनके उपदेश से प्रभावित होकर विमल ने आबू पर्वत पर नवीन भव्य जिनमन्दिर निर्माण करवाने का संकल्प किया। इस कार्य मे अनेक बाधाएँ आयी किन्तु अन्ततोगत्वा १८ करोड़ सुवर्ण-मुद्राओ का व्यय कर मन्त्रिवर ने प्रारब्ध कार्य पूर्ण किया। विमलवसही के नाम से प्रख्यात इस आदिनाथ मन्दिर की प्रतिष्ठा सन् १०३१ मे वर्धमान सूरि के हाथो सम्पन्न हुई। श्वेत संगमर्मर की सुन्दर कलाकृतियो से सुशोभित यह मन्दिर आज भी देश-विदेश के दर्शको को आश्चर्यचकित कर देता है।

[मुनि जयन्तविजय सम्पादित 'आबू' ग्रन्थ मे इस मन्दिर का विस्तृत परिचय दिया गया है।]

शान्तिसूरि

इनका जन्म अणहिलपुर के समीप के एक ग्राम मे हुआ था। चन्द्रकुल के अन्तर्गत थारापद्र गच्छ के आचार्य विजयसिंह से इन्हे शिक्षा-दीक्षा प्राप्त हुई। अणहिलपुर के राजा भीमदेव की सभा मे कवि और वादी के रूप में इन्हे प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। तदनन्तर महाकवि धनपाल के निमन्त्रण पर वे धारा पहुँचे। राजा भोजदेव की सभा मे अनेक वादियो को पराजित कर ख्याति प्राप्त की जिसके फलस्वरूप राजा ने इन्हे वादिवेताल यह बिरुद प्रदान किया। धनपाल की तिलकमजरी कथा का सशोधन इनके द्वारा हुआ। अणहिलपुर के एक श्रेष्ठिपुत्र पद्म को सर्पदंश हुआ था, वह आचार्य के मन्त्रप्रभाव से स्वस्थ हो गया। उत्तराध्ययनसूत्र पर इनकी विस्तृत व्याख्या सुप्रसिद्ध है। इनके प्रधान शिष्यो के नाम वीर, शालिभद्र और सर्वदेव बताये गये है। सोढ नामक श्रावक के संघ के साथ आचार्य गिरनाथ की वन्दना के लिए गये थे। वही सन् १०४० मे उनका स्वर्गवास हुआ।

[प्रभावकचरित मे इनकी जीवनकथा विस्तार से दी है।]

शान्तिसूरि (द्वितीय)

प्राय उपर्युक्त शान्तिसूरि के ही समय में पूर्णतल गच्छ के आचार्य वर्धमान के शिष्य शान्तिसूरि हुए। इन्होने सिद्धसेन के न्यायावतार पर वार्तिक की रचना की और

स्वयं उसपर टीका भी लिखी। प्रमाण, प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन चार प्रकरणों में इस ग्रन्थ में प्रमाणशास्त्र का अच्छा विवेचन प्राप्त होता है। इन्होंने घटकर्पर, वृन्दावन, मेघाभ्युदय, शिवभद्र, चन्द्रदूत तथा तिलकमंजरी पर स्पष्टीकरणात्मक टीका-टिप्पण भी लिखे।

[पं. दलसुख मालवणिया ने न्यायावतार वार्तिकवृत्ति की प्रस्तावना में इनका परिचय दिया है।]

महेन्द्र

ये चन्द्रकुल के आचार्य थे। धारा नगर में राजा भोज द्वारा सम्मानित महाकवि धनपाल के पिता सर्वदेव से इनकी भेंट हुई। सर्वदेव के घर में कुछ भूमिगत धन था। आचार्य की कृपा से उसकी प्राप्ति हुई। इसके प्रतिफल के रूप में सर्वदेव ने अपने कनिष्ठ पुत्र शोभन को आचार्य को सौंप दिया। आगमो का अध्ययन करने के बाद शोभन ने अपने बडे भाई धनपाल को भी जैन बनाया। शोभन मुनि की चतुर्विशतिजिनस्तुति प्रसिद्ध है। धनपाल की बुद्धिमत्ता, कवित्व शक्ति तथा धर्मप्रियता की अनेक कथाएँ प्राप्त होती हैं। इनकी तिलकमंजरी कथा संस्कृत गद्य साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर चुकी है।

[प्रभावकचरित तथा प्रबन्धचिन्तामणि में धनपाल सम्बन्धी कथाएँ विस्तार से प्राप्त होती हैं।]

सूराचार्य

ये अणहिलपुर के राजा भीमदेव के मामा के पुत्र थे। द्रोणाचार्य के पास इनकी शिक्षा-दीक्षा हुई। इनकी कविप्रतिभा की प्रशंसा सुनकर राजा भोजदेव ने इन्हे आमन्त्रित किया। धारा में इनका सम्मान तो किया गया किन्तु वहाँ के पण्डित इनसे पराजित हुए। अपने सभापण्डितों के अपमान से क्षुब्ध होकर भोज ने इन्हें कैद करना चाहा किन्तु धनपाल को सहायता से ये गुप्त रूप से अणहिलपुर लौट गये। इनका नाभेयनेमिद्विसन्धान नामक महाकाव्य प्राप्त है जिसमें श्लेष अलंकार का विस्तृत उपयोग कर एक ही काव्य में आदिनाथ और नेमिनाथ का चरित वर्णन किया गया है।

[प्रभावकचरित में इनकी कथा विस्तार से दी है।]

वादिराज

ये नन्दिसंघ के अरुंगल अन्वय के आचार्य श्रीपाल के शिष्य मतिसागर के शिष्य थे। इनके गुरुबन्धु दयापाल ने रूपसिद्धि नामक व्याकरण ग्रन्थ लिखा है। वादिराज ने अकलकदेव के न्यायविनिश्चय पर २० हजार श्लोको जितने विस्तार की टीका लिखी है जो प्रकाशित हो चुकी है। इससे जैन-जैनेतर दर्शनो का उनका अध्ययन और तर्कविद्या मे निपुणता प्रकट होती है। तर्कशास्त्र पर प्रमाणनिर्णय

नामक एक छोटा ग्रन्थ भी उन्होने लिखा था। यह भी प्रकाशित हुआ है। सन् १०२५ में राजा जयसिंह के राज्यकाल में इनका पार्श्वचरित पूर्ण हुआ। तीर्थंकर पार्श्वनाथ की नौ पूर्वभवों के साथ काव्यमय रूप में वर्णित कथा इसका विषय है। यह ग्रन्थ कट्टगेरी नामक स्थान में पूर्ण हुआ था। प्रशस्ति में वादिराज ने अपने प्रगुरु श्रीपाल को सिंहपुरैक-मुख्य कहा है जिससे ज्ञात होता है कि इनके मठ के लिए सिंहपुर ग्राम दान मिला होगा। एकीभावस्तोत्र वादिराज की सुप्रसिद्ध रचना है। कथा के अनुसार इस स्तोत्र के प्रभाव से उनका कुष्ठरोग दूर हुआ था। स्तोत्र के चार श्लोको से भी संकेत मिलता है कि इसकी रचना के समय कवि किसी रोग से पीडित थे। दक्षिण के बीसो शिलालेखो में वादिराज की प्रशंसा की गयी है जिससे मालूम होता है कि उन्होने त्रैलोक्यदीपिका नामक ग्रन्थ लिखा था (यह अप्राप्त है) तथा राजा जयसिंह उनका सम्मान करते थे। उनकी एक और रचना यशोधरचरित प्रकाशित हो चुकी है।

[पं. प्रेमी के जैन साहित्य और इतिहास मे वादिराज के विषय में एक निबन्ध है।]

प्रभाचन्द्र

धारा नगर में महाराज भोजदेव के समय में विद्यमान विद्वन्मण्डल में प्रभाचन्द्र का विशिष्ट स्थान था। उनकी बहुमुखी प्रतिभा के प्रमाण चार महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो के रूप में उपलब्ध है। प्रमेयकमलमार्तण्ड माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख की व्याख्या है। इसका विस्तार १२००० श्लोको जितना है। मूल ग्रन्थ मे प्रमाणो का विवेचन है। इस व्याख्या मे प्रमाणो के विषयो के रूप में, विश्व के स्वरूप के विषय में विविध वादविषयो की सूक्ष्म चर्चा उपलब्ध है। इसी प्रकार न्यायकुमुदचन्द्र अकलंकदेव के लघीयस्त्रय की व्याख्या है। इसमे भी मूल ग्रन्थ के प्रमाण-विषयो के साथ प्रमेय-विषयो का विस्तृत विवेचन है। इसका विस्तार १६००० श्लोको जितना है। शब्दाम्भोज भास्कर जैनेन्द्र-व्याकरण की विस्तृत व्याख्या है जो अभी पूर्ण रूप में प्राप्त नही है। इन तीन व्याख्या-ग्रन्थो के समान ही प्रभाचन्द्र की स्वतन्त्र कृति—गद्यकथाकोष—भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। धर्माराधन के उदाहरणो के रूप में इसमे कथाएँ दी गयी है। समन्तभद्र, अकलक और पात्रकेसरी के विषय में इनकी कथाओ का उल्लेख पहले हो चुका है। पुष्पदन्त के अपभ्रंश महापुराण पर प्रभाचन्द्र के टिप्पण सक्षिप्त होते हुए भी अपभ्रंश शब्दो के अर्थज्ञान के लिए महत्त्व के सिद्ध हुए है।

श्रवणबेलगोल के दो शिलालेखो में प्रभाचन्द्र की प्रशसा प्राप्त होती है। इससे ज्ञात होता है कि इनका प्रारम्भिक जीवन दक्षिण में बीता था। पद्मनन्दि और वृषभ-नन्दि उनके गुरु थे। उनके कई गुरुबन्धुओ के नाम भी इन लेखो में मिलते हैं। धारा नगर में उनके गुरुबन्धु नयनन्दि का आगे उल्लेख होगा।

[न्यायकुमुदचन्द्र की प्रस्तावना में पं कैलाशचन्द्र और पं. महेन्द्रकुमार ने प्रभाचन्द्र के विषय में विस्तृत विवेचन किया है।]

नयनन्दि

इनके दो अपभ्रंश ग्रन्थ प्राप्त हैं। सुदर्शनचरित में नमस्कार मन्त्र और ब्रह्मचर्याणुव्रत का महत्त्व प्रकट करते हुए सुदर्शन श्रेष्ठी की कथा का काव्यमय वर्णन है। यह ग्रन्थ महाराज भोज के राज्यकाल में धारा नगर में सन् १०४३ में पूर्ण हुआ था। नयनन्दि के दूसरे ग्रन्थ सकलविधिविधान काव्य में श्रावकों के आचारधर्म का अनेक कथाओं के उदाहरण देते हुए विस्तृत वर्णन दिया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण अनेक उल्लेख इस काव्य में प्राप्त होते हैं। कवि ने अपनी गुरुपरम्परा विस्तार से इस प्रकार बतलायी है—कुन्दकुन्दान्वय के पद्मनन्दि–विष्णुनन्दि—अनेक ग्रन्थों के कर्ता विश्वनन्दि–वृषभनन्दि–आगमों के उपदेशक, तपस्वी और राजाओ द्वारा पूजित रामनन्दि –त्रैलोक्यनन्दि–महापण्डित माणिक्यनन्दि–नयनन्दि।

[जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, भाग २ में पं. परमानन्द शास्त्री ने इन ग्रन्थों का परिचय दिया है।]

मल्लिषेण

इन्होने अपनी गुरुपरम्परा इस प्रकार बतलायी है–अजितसेन (जिनका पहले चामुण्डराय के गुरु के रूप में परिचय आ चुका है) – कनकसेन–जिनसेन–मल्लिषेण। इनके छह सस्कृत ग्रन्थ प्राप्त हैं। महापुराण में लगभग दो हजार श्लोकों में शलाकापुरुषो की कथाओ का वर्णन है। इसकी रचना सन् १०४८ में मुलगुन्द नगर में हुई थी (मैसूर प्रदेश के धारवाड जिले में यह नगर है, यहाँ पुरातन जिनमन्दिर अब भी विद्यमान हैं)। नागकुमारचरित में लगभग ५०० श्लोको में नागकुमार की कथा सुन्दर शैली में बतलायी है। भैरवपद्मावतीकल्प, सरस्वतीकल्प, ज्वालिनीकल्प तथा कामचाण्डालीकल्प ये चार ग्रन्थ मन्त्रशास्त्र के हैं। इन देवताओं की आराधना द्वारा विविध विपत्तियो के परिहार और समृद्धि-प्राप्ति की विधियाँ इन ग्रन्थो में बतलायी हैं। जैन मन्त्रशास्त्र मे इन ग्रन्थो का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है।

[प. प्रेमी के जैन साहित्य और इतिहास में मल्लिषेण पर एक निबन्ध है।]

नरेन्द्रसेन-नयसेन

उपर्युक्त मुलगुन्द नगर से प्राप्त एक विस्तृत शिलालेख से मल्लिषेण की परम्परा के कुछ अन्य आचार्यों का भी परिचय मिलता है। मल्लिषेण के गुरु जिनसेन तथा प्रगुरु कनकसेन थे यह ऊपर बताया है। इस लेख में कनकसेन के दूसरे शिष्य नरेन्द्रसेन और उनके शिष्य नयसेन की प्रशंसा मिलती है। ये दोनों व्याकरणशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् थे ऐसा लेख में कहा गया है। महासामन्त बेलदेव ने अपनी माता गोज्जिकब्बे की स्मृति में सन् १०५३ में नयसेन आचार्य को कुछ भूमि दान दी थी। सिन्द कुल के सामन्त कंचरस की भी नयसेन के प्रति श्रद्धा थी इसका भी लेख में वर्णन है।

वादिराज ने न्यायविनिश्चय विवरण की अन्तिम प्रशस्ति में श्लेष द्वारा कनकसेन और नरेन्द्रसेन का नामोल्लेख कर उनके प्रति अपना आदर प्रकट किया है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेख १३८]

सुदत्त व शान्तिदेव

मैसूर प्रदेश के दक्षिण भाग में लगभग ३५० वर्षों तक शासन करनेवाले होयसल वंश के प्रारम्भिक राजा जैन आचार्यों के शिष्य थे। सोरब ग्राम के लेख में कहा गया है कि इस वंश के प्रथम राजा सल जब सुदत्त मुनि के दर्शन कर रहे थे तब एक चीता उनपर झपटा किन्तु सल ने साहसपूर्वक अपनी और गुरु की रक्षा की थी।

सल के बाद के प्रमुख राजा नृपकाम और उनके बाद विनयादित्य हुए। विनयादित्य द्वारा स्थान-स्थान पर जिनमन्दिर बनवाये गये थे। श्रवणबेलगोल के एक लेख के शब्दो मे—मन्दिरो के लिए ईंटें बनवाने के लिए जहाँ से मिट्टी खोदी गयी वहाँ तालाब बन गये, पत्थरो के लिए जिन पहाडो में खुदाई हुई वे भूमि से समतल हो गये तथा चूने की गाडियाँ जिन रास्तो से गुजरी वहाँ घाटियाँ बन गयी। इसी समय के एक अन्य लेख में विनयादित्य की समृद्धि का श्रेय उनके गुरु शान्तिदेव की उपासना को दिया गया है। मूडगेरे तालुके मे स्थित अंगडि नामक स्थान मे प्राप्त लेख के अनुसार शान्तिदेव सन् १०६२ में दिवंगत हुए थे। उनकी स्मृति मे नागरिको द्वारा स्थापित स्तम्भ पर यह लेख उत्कीर्ण है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ३, लेख ४५७; भाग १, लेख ५३-५४ तथा भाग २ लेख २००]

श्रीचन्द्र

इनकी दो अपभ्रंश रचनाएँ प्राप्त हैं। रयणकरण्ड मे श्रावकों के व्रतो का महत्त्व कथाओ के माध्यम से २१ प्रकरणो में स्पष्ट किया है। इसकी रचना श्रीबालपुर मे राजा कर्णदेव के राज्य में सन् १०६६ में पूर्ण हुई थी। इनका दूसरा ग्रन्थ कथाकोश अणहिलपुर में लिखा गया था। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की साधना के उदाहरण-स्वरूप कथाओं का इसमें सग्रह किया गया है। गुजरात के राजा मूलराज के दरबार मे सम्मानित श्रेष्ठी सज्जन के पुत्र कृष्ण के पुत्रो के आग्रह से इसकी रचना हुई थी। ग्रन्थकर्ता ने अपनी गुरुपरम्परा विस्तार से बतलायी है। देशी गण के आचार्य श्रीकीर्ति के शिष्य श्रुतकीर्ति हुए जो कलचुरि वंश के राजा गागेय तथा मालवा के परमार वश के राजा भोजदेव द्वारा सम्मानित हुए थे। इनके शिष्य सहस्रकीर्ति के पाँच शिष्य थे—देवचन्द्र, वासवमुनि, उदयकीर्ति, शुभचन्द्र तथा वीरचन्द्र। इनमे से अन्तिम वीरचन्द्र ग्रन्थकर्ता के गुरु थे।

[जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, भाग २, प्रशस्ति ७-८; कथाकोश डॉ. हीरालाल जैन द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ है ।]

वादीभसिंह

इनकी तीन महत्त्वपूर्ण रचनाएँ उपलब्ध हैं । गद्यचिन्तामणि एक विस्तृत गद्यकथा है जिसमें जीवन्धर की काव्यपूर्ण कथा का सुन्दर चित्रण प्राप्त होता है । संस्कृत गद्य साहित्य में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है । क्षत्रचूडामणि में जीवन्धर की ही कथा श्लोकबद्ध रूप में प्रस्तुत की है । इसकी विशेषता यह है कि प्राय. प्रत्येक श्लोक में एक सुभाषित ग्रथित है और इस तरह प्रारम्भ से अन्त तक अर्थान्तरन्यास अलंकार का लगातार प्रयोग किया गया है । सरल भाषा के कारण यह काव्य काफी लोकप्रिय रहा है—इसके अनेक अनुवाद विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित हुए हैं । तमिल भाषा का प्राचीन महाकाव्य तिरुतक्कदेव कृत जीवकचिन्तामणि इसी पर आधारित कहा जाता है । वादीभसिंह की तीसरी कृति स्याद्वादसिद्धि तर्कशास्त्र की रचना है जो अभी खण्डित रूप में प्राप्त हुई है । इसके सोलह प्रकरणो मे जीव, सर्वज्ञ, ब्रह्म, ईश्वर आदि के विषय में विद्वत्तापूर्ण विवेचन प्राप्त होता है ।

गद्यचिन्तामणि में वादीभसिंह के गुरु का नाम पुष्पसेन बताया है । इसी की एक प्रति में वादीभसिंह का मूल नाम ओडयदेव बताया गया है ।

[गद्यचिन्तामणि के संस्करण में कुप्पुस्वामी शास्त्री और स्याद्वादसिद्धि के संस्करण में पं. दरबारीलाल ने वादीभसिंह के विषय में विवेचन किया है ।]

शुभचन्द्र

इनका एकमात्र संस्कृत ग्रन्थ ज्ञानार्णव काफी महत्त्वपूर्ण और लोकप्रिय रहा है । ४२ अध्याय और लगभग २१०० श्लोकों के इस ग्रन्थ में ध्यान का सर्वांगीण विवेचन प्रथमत. उपलब्ध होता है । योगसाधना के प्राणायाम आदि अंगों का विस्तृत वर्णन और ध्यान के पिण्डस्थ, पदस्थ आदि प्रकारो का विवेचन इस ग्रन्थ में है । साथ ही मुनि की जीवनचर्या के सम्बन्ध मे आवश्यक विषयों का—महाव्रत, अनुप्रेक्षा आदि का भी सरल भाषा में वर्णन किया गया है । हेमचन्द्र के योगशास्त्र के आधारभूत ग्रन्थ के रूप मे भी ज्ञानार्णव का महत्त्व है । इसके दो संस्करण प्रकाशित हो चुके है ।

[पं. प्रेमीजी के जैन साहित्य और इतिहास में शुभचन्द्र पर एक निबन्ध है ।]

वसुनन्दि

इनका उपासकाध्ययन नामक प्राकृत ग्रन्थ वसुनन्दि श्रावकाचार के नाम से भी प्रसिद्ध है । श्रावको की ग्यारह प्रतिमाओं का विशद वर्णन इसमें प्राप्त होता है । विशेष रूप से जिनपूजा और जिनबिम्बप्रतिष्ठा का महत्त्व इसमें प्रतिपादित हुआ है । इस विषय

पर संस्कृत में वसुनन्दि का प्रतिष्ठापाठ भी प्रकाशित हुआ है। उपासकाध्ययन में इनकी गुरुपरम्परा इस प्रकार दी है—कुन्दकुन्दान्वय में श्रीनन्दि के शिष्य नयनन्दि हुए, उनके शिष्य नेमिचन्द्र वसुनन्दि के गुरु थे। समन्तभद्र कृत आप्तमीमासा तथा जिनशतक एवं वट्टकेर कृत मूलाचार पर वसुनन्दि की विस्तृत संस्कृत टीकाएँ प्रकाशित हुई हैं। इनसे तर्क, काव्य और आगम के उनके विस्तृत अध्ययन का परिचय मिलता है।

[पं. हीरालालजी द्वारा सम्पादित श्रावकाचार की प्रस्तावना में वसुनन्दि के विषय में विवेचन किया गया है।]

कनकामर

ये मंगलदेव के शिष्य थे। आसाइय नगर में लिखित करकण्डुचरित नामक अपभ्रंश काव्य के ये कर्ता हैं। इस काव्य मे पार्श्वनाथ और महावीर के मध्यवर्ती समय में हुए प्रत्येकबुद्ध राजर्षि करकण्डु की रोमाचपूर्ण कथा वर्णित है। विशेष महत्त्व की बात यह है कि इसमे महाराष्ट्र के उस्मानाबाद जिले मे स्थित धाराशिव की गुहाओ का करकण्डु द्वारा निर्मित रूप मे वर्णन है। यहाँ की पार्श्वनाथ-मूर्ति अग्गलदेव के नाम से मध्ययुग में प्रसिद्ध थी। इस काव्य के दो संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

[डॉ हीरालाल जैन ने इस काव्य की प्रस्तावना मे कनकामर और धाराशिव की गुहाओ का विस्तृत परिचय दिया है।]

अन्य आचार्य

इस शताब्दी के साहित्य और शिलालेखो से ज्ञात होनेवाले प्रमुख आचार्यो का परिचय अबतक प्रस्तुत किया। शिलालेखों से ज्ञात होनेवाले इस शताब्दी के अन्य आचार्यों का सक्षिप्त विवरण आगे दिया जा रहा है।

अनन्तवीर्य

मैसूर प्रदेश के कूडगु जिले मे स्थिति पेग्गूर ग्राम के शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। ये बेलगोल के वीरसेन के शिष्य गोणसेन के शिष्य थे। गंग वंश के राजा राजमल्ल के शासनकाल मे सन् ९७७ में इन्हे पेग्गूर के जिनमन्दिर के लिए कुछ दान दिया गया था। इसका शिलालेख चन्द्रनन्दि ने लिखा था।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १५४]

कनकप्रभ

मैसूर प्रदेश के बेलगाँव जिले में स्थित येडरावी ग्राम से प्राप्त शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। सन् ९७९ मे वहाँ के जिनमन्दिर के लिए बारह ग्रामप्रमुखो ने इन्हे कुछ भूमि प्रदान की थी।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ५, लेख १८]

रविचन्द्र

मैसूर प्रदेश के गुब्बि तालुके में स्थित बिदरे ग्राम से प्राप्त समाधिलेख के अनुसार रविचन्द्र का स्वर्गवास सन् ९७९ में हुआ था। वे त्रिलोकचन्द्र के शिष्य थे। इनके स्मृतिलेख की स्थापना भानुकीर्ति ने की थी।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १५८]

बाहुबली

मैसूर प्रदेश के सौन्दत्ती नगर से प्राप्त सन् ९८० के लेख के अनुसार सामन्त शान्तिवर्मा ने वहाँ के जिनमन्दिर के लिए कण्डूर गण के प्रधान आचार्य बाहुबली को भूमिदान दिया था। लेख के अनुसार ये व्याकरण और तर्कशास्त्र के विशिष्ट विद्वान् थे। इसी लेख में रविचन्द्र, अर्हणन्दि, शुभचन्द्र, मौनिदेव तथा प्रभाचन्द्र इन आचार्यों के प्रशंसात्मक श्लोक भी हैं।

[उपर्युक्त, लेख १६०]

गुणवीर

तमिलनाडु प्रदेश के उत्तर अर्काट जिले में स्थित तिरुमलै नामक पहाडी स्थान से प्राप्त शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। चोल वंश के राजा राजराज के शासन काल में उत्कीर्ण इस लेख के अनुसार महामुनि गुणवीर ने गणिशेखर मरुपोर्चुरियन् की स्मृति में एक नहर का निर्माण कराया था। इसी प्रदेश के दक्षिण अर्काट जिले मे स्थित चोलवाण्डिपुरम् ग्राम से प्राप्त शिलालेख में भी गुणवीर का नामोल्लेख है। यहाँ की पहाडी पर उत्कीर्ण महावीर, पार्श्वनाथ, गोम्मटदेव, बाहुबली तथा पद्मावती की मूर्तियो की पूजा के लिए गुणवीर भट्टारक को कुछ दान दिया गया था। इसमे गुणवीर के निवास स्थान का नाम कुरण्डि बताया है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १७१ तथा भाग ४, लेख ८]

कुलचन्द्र-यशोनन्दि

उडीसा के प्रसिद्ध तीर्थस्थान खण्डगिरि के दो शिलालेखो से इनका परिचय मिलता है। समय निश्चित न होने पर भी अक्षरों की बनावट के आधार पर ये लेख सन् १००० के आसपास के माने गये है। देशी गण के आचार्य कुलचन्द्र के शिष्य शुभचन्द का इन लेखो में नामोल्लेख है। इनसे ज्ञात होता है कि खारवेल द्वारा प्रवर्तित जैनधर्म के सम्मान की परम्परा उडीसा में दसवी शताब्दी में भी जीवित थी। यही के एक अन्य लेख में यशोनन्दि द्वारा यहाँ के प्राचीन स्थानों के जीर्णोद्धार का वर्णन है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेख ९३-९५]

अनन्तवीर्य

मैसूर प्रदेश के बिजापुर जिले में स्थित मरोल ग्राम से प्राप्त सन् १०२४ के शिलालेख में इनकी विस्तृत प्रशंसा प्राप्त होती है। चालुक्य सम्राट् सत्याश्रय की कन्या महादेवी द्वारा इस ग्राम के जिनमन्दिर के लिए दिये गये दान के प्रसंग में यह लेख खुदवाया गया था। इसके अनुसार अनन्तवीर्य व्याकरण, कोश, छन्द, गणित, ज्योतिष आदि कई शास्त्रो मे पारंगत थे। इनके बाद के गुणकीर्ति और देवकीर्ति का तथा पूर्व के कई आचार्यो का भी वर्णन लेख में है।

[जैनिज्म इन साउथ इण्डिया, पृ १०५]

कनकनन्दि

मैसूर प्रदेश के रायचूर जिले में स्थित मस्की ग्राम से प्राप्त सन् १०३२ के लेख में इनका वर्णन मिलता है। इस ग्राम को उस समय राजधानी होने का गौरव प्राप्त हुआ था तथा चालुक्य सम्राट् जगदेकमल्ल की कन्या सोमलदेवी वहाँ शासन कर रही थी। सम्राट् के नाम पर वहाँ का मन्दिर जगदेकमल्ल जिनालय कहलाता था। इसके लिए सोमलदेवी ने भूमि दान दी थी। लेख में कनकनन्दि को अष्टोपवासी कहा गया है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेख १२६]

बालचन्द्र

मैसूर प्रदेश के बेलगाँव जिले मे स्थित हूलि ग्राम के सन् १०४४ के लेख में इनका वर्णन है। इस समय वहाँ के शासक की पत्नी लच्छियब्बे ने उक्त ग्राम मे एक जिनमन्दिर का निर्माण कराया था तथा उसके लिए बालचन्द्र को दान दिया था। लेख के अनुसार ये यापनीय संघ के आचार्य थे।

[उपर्युक्त, लेख १३०]

गोवर्धन

मैसूर प्रदेश के धारवाड जिले में स्थित मुगद ग्राम से प्राप्त सन् १०४५ के शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। चावुण्ड नामक ग्रामप्रमुख ने वहाँ सम्यक्त्व-रत्नाकर नामक जिनमन्दिर बनवाया था तथा उसके लिए गोवर्धन को भूमिदान दिया था। गोवर्धन कुमुदि गण के आचार्य थे। इनकी परम्परा के बहुत-से आचार्यों के नाम लेख में मिलते हैं किन्तु बीच-बीच में लेख टूटा होने से इनका परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट नही होता।

[जैनिज्म इन साउथ इण्डिया, पृ १४२]

नागसेन

मैसूर प्रदेश के विजापुर जिले में स्थित अरसिबीडि नगर से प्राप्त सन् १०४७ के शिलालेख में इनका वर्णन है। चालुक्य सम्राट् जयसिंह (द्वितीय) की बहन अक्कादेवी ने उसके नाम पर निर्मित जिनमन्दिर के लिए सेनगण के आचार्य नागसेन को कुछ भूमि प्रदान की थी।

[उपर्युक्त, पृ. १०५]

केशवनन्दि

मैसूर प्रदेश के शिकारपुर तालुके के बेलगामि ग्राम के सन् १०४८ के शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। ये बलगार गण के मेघनन्दि आचार्य के शिष्य थे। इन्हें अष्टोपवासी कहा गया है। उक्त ग्राम के शान्तिनाथ जिनालय के लिए इन्हे महासामन्त चावुण्डराय ने भूमिदान दिया था।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १८१]

महासेन

मैसूर प्रदेश के विजापुर जिले में स्थित होनवाड ग्राम से प्राप्त सन् १०५४ के शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। अनेक राजाओ द्वारा सम्मानित सेनगण के आचार्य ब्रह्मसेन के शिष्य आर्यसेन के ये शिष्य थे। चालुक्य सम्राट् त्रैलोक्यमल्ल के सामन्त चाकिराज ने होनवाड में शान्तिनाथ मन्दिर का निर्माण कराया था तथा उसके लिए अपने गुरु महासेन को भूमि आदि दान दिया था।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १८६]

इन्द्रकीर्ति

मैसूर प्रदेश के बल्लारी जिले में स्थित कोगलि ग्राम के सन् १०५५ के शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। इस स्थान के जिनमन्दिर का निर्माण राजा दुर्विनीत ने किया था। यहाँ के शास्त्राभ्यास की सुविधाएँ बढाने के लिए इन्द्रकीर्ति ने भूमि आदि दान दिया था। ये देशी गण के आचार्य थे। लेख में इन्हें सम्राट् त्रैलोक्यमल्ल की सभा के भूषण, कवियो के गुरु, सब शास्त्रों के ज्ञाता तथा कोकलिपुर के स्वामी कहा गया है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेख १४१]

गुणसेन

मैसूर प्रदेश के कूडगु ज़िले में स्थित मुल्लूर ग्राम से प्राप्त अनेक शिलालेखों से इनका परिचय मिलता है। कोगाल्व वंश के राजा राजेन्द्र ने अपने पिता द्वारा निर्मित जिनमन्दिर के लिए गुणसेन को भूमिदान दिया था। सन् १०५८ के इस लेख में इन्हें द्रविड गण के आचार्य कहा गया है। इस राजा की माता पोचब्बरसि तथा पुत्र ने भी इन्हें दान दिया था। गुणसेन ने उक्त स्थान में नगर के व्यापारी समूह की ओर से एक वापी का निर्माण कराया था ऐसा एक अन्य लेख से ज्ञात होता है। इस स्थान के जिन-मन्दिर के सम्मुख गुणसेन के गुरु पुष्पसेन के चरणचिह्न स्थापित हैं। श्रवणबेलगोल के मल्लिषेण-प्रशस्ति शिलालेख में भी गुणसेन की प्रशंसा मे एक श्लोक है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख १७७, १८८ से १९२]

सकलचन्द्र व माधवसेन

मैसूर प्रदेश के शिवमोग्गा ज़िले में स्थित तीर्थस्थान हुम्मच से प्राप्त सन् १०६२ के लेख से इनका परिचय मिलता है। राजा वीरसान्तर और पट्टणस्वामी नोक्क ने नोक्क द्वारा निर्मित जिनमन्दिर के लिए इन्हे भूमि आदि दान दिया था। इस विस्तृत शिलालेख की रचना सकलचन्द्र के शिष्य मल्लिनाथ ने की थी। लेख में पट्टणस्वामी के गुरु के रूप मे दिवाकरनन्दि का नाम भी उल्लिखित है। पट्टणस्वामी की विस्तृत प्रशसा में उनके द्वारा स्थापित रत्नमूर्तियो और खुदवाये गये तालाबो का विवरण भी है। हुम्मच के इसी वर्ष के एक अन्य लेख में राजा वीरसान्तर की पत्नी चागलदेवी द्वारा देवीमन्दिर के तोरणद्वार के निर्माण का वर्णन है। इस मन्दिर के लिए माधवसेन गुरु को भूमि आदि दान दिया गया था।

[उपर्युक्त, लेख १९७-९८]

अभयचन्द्र

होयसल वंश के राजा विनयादित्य ने सन् १०६२ मे मूलसंघ के आचार्य अभयचन्द्र को भूमि आदि दान दिया था। मैसूर के निकट तोललु ग्राम से प्राप्त शिला-लेख से यह विवरण ज्ञात हुआ है। इस ग्राम के दो नागरिको मुद्दगौड और तिप्पगौड ने भी आचार्य को कुछ भूमि अर्पित की थी यह भी लेख में कहा गया है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग ४, लेख १४५]

कनकनन्दि

मैसूर प्रदेश के शिवमोग्गा जिले के तीर्थ-स्थान हुम्मच मे प्राप्त सन् १०६५ के लेख से इनका परिचय मिलता है। वहाँ के राजा भुजबल सान्तर ने स्वनिर्मित जिन-मन्दिर के लिए अपने गुरु कनकनन्दि को एक ग्राम दान दिया ऐसा लेख में वर्णन है।

[उपर्युक्त, भाग २, लेख २०३]

शान्तिनन्दि व माघनन्दि

मैसूर प्रदेश के धारवाड़ जिले में स्थित मोटेबेन्नूर ग्राम से प्राप्त सन् १०६६ के शिलालेख में शान्तिनन्दि का वर्णन है। उक्त ग्राम में आयचिमय्य द्वारा निर्मित जिनमन्दिर के लिए महासामन्त लक्ष्मरस ने इन्हें भूमिदान दिया था। ये चन्द्रिकवाट अन्वय के आचार्य थे। महासामन्त लक्ष्मरस के ही दूसरे दानलेख की तिथि सन् १०६८ है, यह शिकारपुर तालुके के बलगावे से प्राप्त हुआ है। इसमें तालकोल अन्वय के आचार्य माघनन्दि को राजधानी बलिगावे के जिनमन्दिर के लिए भूमिदान दिये जाने का वर्णन है। इस विस्तृत लेख मे लक्ष्मरस के परिवार और माघनन्दि की पूर्व-परम्परा का विवरण भी मिलता है।

[उपर्युक्त, भाग ४, लेख १४७ तथा भाग २, लेख २०४]

त्रिभुवनचन्द्र

मैसूर प्रदेश के धारवाड जिले में स्थित अण्णिगेरि व गावरवाड ग्रामो के विस्तृत शिलालेख का उल्लेख ऊपर आ चुका है। गंग राजा बूतुग द्वारा निर्मित यहाँ का जिन-मन्दिर चोल राजाओ के आक्रमण के समय खण्डित हुआ था। बाद में जब यहाँ चालुक्य सम्राटो की शक्ति सुदृढ हुई तो इस प्रदेश में नियुक्त महामण्डलेश्वर लक्ष्मरस ने उपर्युक्त मन्दिर का जीर्णोद्धार किया तथा इसकी देखभाल के लिए आचार्य त्रिभुवनचन्द्र को सन् १०७१ मे समुचित दान दिया था। इस प्रदेश के दूसरे शासक काटरस ने भी सन् १०७२ में त्रिभुवनचन्द्र को दान दिया था। लेख के अनुसार ये आचार्य मन्त्रवाद मे निपुणता के कारण विद्वानो द्वारा पूजित हुए थे। सुप्रसिद्ध तीर्थस्थान लक्ष्मेश्वर से प्राप्त एक लेख मे भी इनका उल्लेख है। इस लेख के अनुसार महासामन्त जयकेशी ने सन् १०७४ मे लक्ष्मेश्वर की बसदि के दर्शन किये थे तथा आचार्य के आग्रह से उसे पुर के रूप मे मान्यता दी थी।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेख १५४-५५,१५७]

श्रीवीर निर्वाण संवत् की सत्रहवीं शताब्दी

[ईसवी सन् १०७३ से ११७३]

अजितसेन (द्वितीय)

मैसूर प्रदेश के अनेक शिलालेखो मे द्राविड संघ के आचार्य अजितसेन का वर्णन मिलता है। शिवमोग्गा ज़िले के प्रसिद्ध तीर्थ हुम्मच मे प्राप्त सन् १०७७ के लेख में इन्हे शब्दचतुर्मुख, तार्किकचक्रवर्ती और वादीभसिंह ये उपाधियाँ दी गयी है। लेख का उद्देश्य सान्तर वश के राजा विक्रमसान्तर देव द्वारा पचबसदि नाम से प्रसिद्ध जिनमन्दिर के निर्माण का वर्णन करना है। इसके लिए अजितसेन के गुरुबन्धु कुमारसेन के शिष्य श्रेयान्स पण्डितदेव को भूमि दान दी गयी थी। इसी स्थान के सन् १०८७ के एक लेख के अनुसार विक्रमसान्तर ने अजितसेन को कुछ गाँव दान दिये थे जिनसे उपर्युक्त मन्दिर की देखभाल हो सके। हुम्मच के समीपवर्ती दानसाले ग्राम से प्राप्त सन् ११०३ के लेख मे अजितसेन के शिष्य सान्तरवशीय तैलुग द्वारा •एक जिनमन्दिर के निर्माण का वर्णन है। श्रवणबेलगोल के समीपवर्ती चामराज नगर से प्राप्त सन् १११७ के शिलालेख मे वर्णन है कि होयसल वश के राजा विष्णुवर्धन के सेनापति पुणिसमय्य अजितसेन के शिष्य थे। इन्होंने इस प्रदेश मे अनेक जिनमन्दिर बनवाये थे।

श्रवणबेलगोल के चन्द्रगिरि पर्वत पर पार्श्वनाथ बसति मे अजितसेन के शिष्य मल्लिषेण की स्मृति में स्थापित स्तम्भ है। इनका स्वर्गवास सन् ११२८ मे हुआ था। इस स्तम्भ पर ७२ श्लोकों की एक सुन्दर प्रशस्ति खुदी है जिसमे दक्षिण भारत के प्रमुख जैन आचार्यों का इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण वर्णन प्राप्त होता है जिसका पहले कई बार उल्लेख हो चुका है। इस लेख मे अजितसेन के दो शिष्यो—कविताकान्त शान्तिनाथ और वादिकोलाहल पद्मनाभ की प्रशंसा भी मिलती है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख २१४, २२६, २८८, २६४ तथा भाग १, लेख ५४]

नरेन्द्रसेन और नयसेन (द्वितीय)

ऊपर मुलगुन्द नगर के आचार्य नरेन्द्रसेन और उनके शिष्य नयसेन का परिचय आया है। समीपवर्ती तीर्थस्थान लक्ष्मेश्वर से प्राप्त एक विस्तृत शिलालेख से नयसेन के शिष्य नरेन्द्रसेन (द्वितीय) का परिचय मिलता है। चालुक्य सम्राट् त्रिभुवनमल्ल के

अधीन महासामन्त एरेमय्य के बन्धु द्रोण ने इन्हे भूमिदान दिया था। इस दान की तिथि सन् १०८१ मे पडती है। लेख में नरेन्द्रसेन को राजपूजित, शास्त्रपारंगत तथा नयी कल्पनाओ में भारवि के समान निपुण कहा गया है।

नरेन्द्रसेन (द्वितीय) के शिष्य नयसेन (द्वितीय) भी प्रख्यात ग्रन्थकर्ता थे। कन्नड भाषा मे धर्मामृत नामक ग्रन्थ की रचना इन्होने मुलगुन्द नगर में सन् ११११२ के आसपास की थी। इसके कई संस्करण प्रकाशित हुए हैं। अनेक कथाओ से सुशोभित इस ग्रन्थ मे श्रावको के धर्माचरण का विस्तृत वर्णन मिलता है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेख १६५, जैनिज्म इन साउथ इण्डिया, पृ. १३५-६]

चतुर्मुखदेव व उनका शिष्यमण्डल

श्रवणबेलगोल के चन्द्रगिरि पर्वत पर स्थित कत्तलेबसति नामक जिनमन्दिर के निकट स्थापित एक स्तम्भ पर एक विस्तृत लेख उत्कीर्ण है जिससे इस प्रदेश के अनेक प्रभावशाली आचार्यों का परिचय प्राप्त होता है।

इसमे सर्वप्रथम कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा मे देशीय गण के प्रमुख देवेन्द्र सिद्धान्तदेव के शिष्य चतुर्मुखदेव का वर्णन है। इनका मूल नाम वृषभनन्दि था। एकेक दिशा के सम्मुख ध्यानस्थित होकर इन्होंने आठ-आठ उपवास किये थे इससे ये चतुर्मुख-देव कहलाये। इनके चौरासी शिष्य थे।

चतुर्मुखदेव के शिष्यो मे सर्वप्रथम गोपनन्दि की विस्तृत प्रशंसा की गयी है। इन्होने अनेक वादियों पर विजय प्राप्त किया था तथा धूर्जटि के कुटिल मत को ध्वस्त कर दिया था। श्रवणबेलगोल से चार मील दूर हलेबेलगोल ग्राम मे प्राप्त एक लेख मे भी गोपनन्दि की प्रशसा के ऐसे ही श्लोक है। इस लेख के अनुसार होयसल वश के राजकुमार एरेयग गोपनन्दि के शिष्य थे। उन्होने सन् १०९३ मे जिनमन्दिरो के जीर्णो-द्धार आदि के लिए तेरह ग्राम गुरु को समर्पित किये थे।

गोपनन्दि के गुरुबन्धु दामनन्दि भी प्रख्यात वादी थे। इन्होने विष्णुभट्ट नामक वादी को परास्त किया था। इनका पुराणसारसग्रह नामक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है। आयज्ञानतिलक नामक ग्रन्थ के कर्ता भट्ट वोसरि ने इनका गुरुरूप मे स्मरण किया है।

इनके गुरुबन्धु मलधारी गुणचन्द्र थे जो बलिपुर के मल्लिकामोद शान्तिनाथ-मन्दिर के प्रमुख थे।

इनके गुरुबन्धु माघनन्दि सिद्धान्त, तर्क और व्याकरण मे प्रवीण थे।

इनके गुरुबन्धु जिनचन्द्र व्याकरण मे पूज्यपाद के समान, तर्क मे अकलंक के समान तथा साहित्य में भारवि के समान प्रसिद्ध हुए थे।

इनके गुरुबन्धु देवेन्द्र बंकापुर के मुनियो मे प्रमुख तथा सिद्धान्त के ज्ञाता थे।

इनके गुरुबन्धु वासवचन्द्र तर्कशास्त्र में पारगत थे। इन्हे चालुक्य राजसभा में बालसरस्वती यह विरुद प्राप्त हुआ था।

इनके बन्धु यश कीर्ति भी प्रसिद्ध वादी थे। सिंहलद्वीप के राजा ने इनका सम्मान किया था।

उपर्युक्त गोपनन्दि आचार्य के शिष्यो का भी इस लेख में वर्णन किया गया है। त्रिमुष्टि मुनि का नाम इनमे प्रथम है। ये केवल तीन मुट्ठी आहार लिया करते थे। हेमचन्द्र, गण्डविमुक्त, गौलमुनि तथा शुभकीर्ति इनके गुरुबन्धु थे।

इनके एक और गुरुबन्धु कल्याणकीर्ति थे जो शाकिनी आदि भूत-प्रेतो की बाधा दूर करते थे।

अन्त मे इनके गुरुबन्धु बालचन्द्र की प्रशंसा है। ये आगम, अध्यात्म, व्याकरण, साहित्य आदि मे पारगत महान् विद्वान् थे।

इस प्रकार चतुर्मुखदेव के शिष्यमण्डल ने इस प्रदेश मे अपनी बहुमुखी गतिविधियो द्वारा आदर और सम्मान प्राप्त किया था।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, लेख ५५ तथा ४९२]

मेघचन्द्र, वीरनन्दि व प्रभाचन्द्र

श्रवणबेलगोल के चन्द्रगिरि पर्वत पर मेघचन्द्र का स्मारक स्तम्भ है। इनकी गुरुपम्परा का विस्तृत वर्णन इस स्तम्भ के शिलालेख मे है। चन्दिल वंश के एक राजा गोल्ल प्रदेश का राज्य छोडकर मुनि हुए थे तथा गोल्लाचार्य नाम से प्रसिद्ध हुए थे। इनके शिष्य त्रैकाल्ययोगी हुए जिन्होने एक ब्रह्मराक्षस को शिष्य बनाया था। उनके शिष्य अभयनन्दि हुए। उनके शिष्य सकलचन्द्र ही मेघचन्द्र के गुरु थे। लेख मे सिद्धान्त, तर्क और व्याकरण मे निपुणता के कारण मेघचन्द्र को त्रैविद्य यह पद दिया गया है। इनका स्वर्गवास सन् १११५ मे हुआ था। इनकी समाधि की प्रतिष्ठा होयसल वंश के राजा विष्णुवर्धन के सेनापति गगराज की पत्नी लक्ष्मीमती ने करवायी थी।

मेघचन्द्र के शिष्य प्रभाचन्द्र का श्रवणबेलगोल के अनेक लेखो मे वर्णन है। राजा विष्णुवर्धन की रानी शान्तलदेवी ने श्रवणबेलगोल मे चन्द्रगिरि पर्वत पर जिन-मन्दिर बनवाकर उसके लिए प्रभाचन्द्र को एक ग्राम दान दिया था। शान्तलदेवी का समाधिमरण सन् ११२८ मे शिवगगा मे हुआ था तब उपस्थित गुरुओ मे भी प्रभाचन्द्र का नाम दिया है। श्रवणबेलगोल के समीपवर्ती मुत्तत्ति ग्राम से प्राप्त एक लेख मे राजा विष्णुवर्धन के सेनापति विनयादित्य द्वारा निर्मित जिनालय के लिए प्रभाचन्द्र को कुछ भूमि दान दिये जाने का वर्णन है। प्रभाचन्द्र का स्वर्गवास सन् ११४६ मे हुआ था।

प्रभाचन्द्र के गुरुबन्धु वीरनन्दि का भी अनेक लेखो मे वर्णन है। इनका संस्कृत ग्रन्थ आचारसार प्रकाशित हो चुका है। इस पर इन्होने स्वय सन् ११५४ मे कन्नड

व्याख्या लिखी थी। इनके कहने से नेमिनाथ नामक विद्वान् ने सोमदेव के नीतिवाक्यामृत पर कन्नड व्याख्या लिखी थी।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग १ में इन आचार्यों से सम्बद्ध लेख प्राप्त होते है।]

प्रभाचन्द्र

ये मडुव गण के रामचन्द्र आचार्य के शिष्य थे। इन्हे त्रैविद्य, प्रसिद्ध मन्त्रवादी तथा वीरपुर तीर्थ के प्रमुख कहा गया है। चालुक्य वश के सम्राट् विक्रमादित्य (षष्ठ) त्रिभुवनमल्ल के शासनकाल में सन् ११२४ में सेडिम्ब ग्राम के तीन सौ महाजनो ने ग्राम में शान्तिनाथ-जिनमन्दिर का निर्माण कराकर उसके लिए प्रभाचन्द्र को भूमिदान दिया था। महत्त्व की बात यह है कि ये तीन सौ महाजन वैष्णव वेदपाठी ब्राह्मण थे और यह अभिमानपूर्वक कहते थे कि उनके मन्त्रो के प्रभाव से कांचीनगर जीता गया था। सम्भवत प्रभाचन्द्र की मन्त्रनिपुणता से प्रसन्न होकर इन ब्राह्मणो ने यह मन्दिर बनवाया था। मैसूर प्रदेश के गुलबर्गा जिले मे स्थित सेडम ग्राम (उपर्युक्त सेडिम्ब) मे उक्त जीर्ण मन्दिर मे प्राप्त लेख मे यह विवरण मिलता है।

[जैनिज्म इन साउथ इण्डिया मे डॉ. देसाई ने इस लेख का सम्पादन किया है।]

माघनन्दि

महाराष्ट्र मे कोल्हापुर के पुरातन जिनमन्दिर से सम्बद्ध कई शिलालेखों से माघनन्दि का परिचय मिलता है। सागली ज़िले मे तेरदाल नगर से प्राप्त लेख इनमे सबसे विस्तृत है। सन् ११२३ मे इस नगर मे गोक नामक सामन्त ने एक जिनमन्दिर का निर्माण कर उसकी रक्षा के लिए कुछ भूमि दान दी थी। इस अवसर पर रट्ट वश के राजा कार्तवीर्य भी उपस्थित थे। लेख में माघनन्दि के गुरु का नाम कुलचन्द्र बताया है। माघनन्दि के शिष्यो के नाम इस प्रकार बताये है—कनकनन्दि, श्रुतकीर्ति, चन्द्रकीर्ति, प्रभाचन्द्र और वर्धमान। महासामन्त निम्बदेव भी माघनन्दि के शिष्य थे। इन्होने कवडेगोल्ल नगर मे एक जिनालय बनवाया था। इसकी रक्षा के लिए सन् ११३५ मे श्रुतकीर्ति को कुछ भूमि अर्पित की गयी थी। श्रवणबेलगोल के चन्द्रगिरि पर्वत के शिलालेख क्र. ४० (सन् ११६३) में माघनन्दि की विस्तृत प्रशंसा है। इसमे उनके शिष्य गण्डविमुक्त के शिष्य देवकीर्ति के स्वर्गवास का उल्लेख है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग १, लेख ४०, भाग २, लेख २८० तथा भाग ४, लेख २२१।]

पद्मनन्दि

कोल्हापुर के महासामन्त निम्बदेव द्वारा सम्मानित आचार्य पद्मनन्दि का पद्मनन्दि पंचविंशति नामक ग्रन्थ सुप्रसिद्ध है। इसके २५ प्रकरणो मे दो प्राकृत मे और

शेष संस्कृत में हैं तथा इनमें मुनि और श्रावकों के आचार-विचारों का हृदयग्राही वर्णन है। इसके कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं तथा कुछ प्रकरणों का अलग-अलग प्रकाशन भी हुआ है। आचार्य ने अपने गुरु का नाम वीरनन्दि बताया है।

[जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर के सस्करण में डॉ. उपाध्येजी ने ग्रन्थकर्ता का विस्तृत परिचय दिया है।]

शुभचन्द्र

ये देशी गण के गण्डविमुक्त मलधारिदेव के शिष्य थे। होयसल वश के राजा विष्णुवर्धन के सेनापति गगराज की इन पर बडी श्रद्धा थी। श्रवणबेलगोल की दोनो पहाडियो पर गगराज ने मन्दिरो और मूर्तियो की प्रतिष्ठा करायी। उनके स्मृति लेखो मे शुभचन्द्र का आदरसहित उल्लेख है। गगराज की माता पोचिकब्बे, पत्नी लक्ष्मीमती, मित्र बूचिराज आदि के स्मृति लेखो मे भी इनका उल्लेख है। इनका स्वर्गवास सन् ११२३ मे हुआ था।

[जैन शिलालेख सग्रह, भा १ मे शुभचन्द्र सम्बन्धी १८ लेख हैं।]

श्रीपाल

ये द्राविड सघ के आचार्य थे। श्रवणबेलगोल के समीप चल्लग्राम से प्राप्त सन् ११२५ के एक लेख के अनुसार होयसल वश के राजा विष्णुवर्धन ने इन्हे यह ग्राम दान दिया था। बेलूर मे प्राप्त एक शिलालेख मे भी इनकी विस्तृत प्रशसा मिलती है। इसके अनुसार विष्णुवर्धन के सेनापति बिट्टियण्ण ने सन् ११३७ मे एक जिनमन्दिर का निर्माण किया तथा उसके लिए श्रीपाल को एक ग्राम दान दिया था। इसमे श्रीपाल को तार्किकचक्रवर्ती और वादीभसिंह ये विशेषण दिये हैं। इनके शिष्य वासुपूज्य का वर्णन सन् ११७३ के लेख मे मिलता है। राजा वीरबल्लाल के मन्त्री बूचिमय्य ने हासन तालुके के मर्कुली ग्राम मे एक जिनमन्दिर बनवाकर उसकी देखभाल के लिए उस ग्राम की आय वासुपूज्य को अर्पित की थी।

[जैन शिलालेख सग्रह, भा १, लेख ४९३ तथा भाग ३, लेख ३०५, ३७९]

भानुकीर्ति

क्राणूर गण के आचार्य भानुकीर्ति का परिचय मैसूर प्रदेश के आठ शिलालेखो से मिलता है। ये मुनिचन्द्र के शिष्य थे तथा प्रसिद्ध मन्त्रवादी के रूप में इनकी प्रशसा की गयी है।

सन् ११३९ मे सम्राट् जगदेकमल्ल के सामन्त एक्कल ने कनकजिनालय नामक मन्दिर के लिए इन्हे दान दिया था ऐसी जानकारी वुद्रि ग्राम से प्राप्त लेख मे मिलती है। कसलगेरि ग्राम के सन् ११४२ के लेख मे राजा विष्णुवर्धन के सामन्त सोम के गुरु

के रूप में भानुकीर्ति का नाम है। सोम ने एक जिनमन्दिर बनवाया था। हेरेकेरी ग्राम के सन् ११५९ के लेख के अनुसार राजा तैलप सान्तर की पौत्री अलियादेवी ने सेतु ग्राम के जिनमन्दिर के लिए भानुकीर्ति को दान दिया था। तेवरतेप्प ग्राम के सन् ११७१ के लेख में राजा सोविदेव के अधीन उस ग्राम के प्रमुख लोकगौंड द्वारा एक जिनमन्दिर के निर्माण का तथा उसके लिए भानुकीर्ति को दान दिये जाने का वर्णन है। एलेवाल ग्राम के सन् ११७६ के लेख में एकिसेट्टि द्वारा शान्तिनाथ मन्दिर के निर्माण का तथा उसके लिए भानुकीर्ति को दान दिये जाने का वर्णन है।

चिक्कमागडि के सन् ११८२ के लेख में भानुकीर्ति के शिष्य नयकीर्ति का, बन्दलिके के सन् १२०३ के लेख में उनमें शिष्य शंकरसेट्टि का तथा सन् १२०७ के हंचि ग्राम के लेख में उनके एक और शिष्य अनन्तकीर्ति का गौरवसहित उल्लेख मिलता है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ३, लेख ३१३, ३१८, ३४९, ३७७, ३८९, ४०८, ४४८ तथा भाग ४, लेख ३२३]

नेमिचन्द्र

ये बृहद् गच्छ के उद्द्योतन सूरि के शिष्य आम्रदेव उपाध्याय के शिष्य थे। प्राकृत साहित्य में इनका प्रशसनीय योगदान रहा। उत्तराध्ययन सूत्र पर लगभग १२ हजार श्लोको जितने विस्तार की इनकी टीका है। इसकी अनेक कथाएँ सुन्दर साहित्यिक शैली मे हैं अतएव पाठ्यग्रन्थो मे स्थान पाकर समादृत हुई है। रत्नचूडकथा और महावीरचरित (रचना सन् १०८५) ये इनके प्राकृत ग्रन्थ भी पठनीय है। आख्यानमणिकोश में इन्होने ५२ गाथाओ मे धर्माराधन के दृष्टान्त संकलित किये हैं जिसका विवरण १२७ कथाओ मे प्राप्त है। पौराणिक और ऐतिहासिक महत्त्व की अनेक कथाओ का यह साहित्यिक संकलन बडा महत्त्वपूर्ण है।

[आख्यानमणिकोश की प्रस्तावना में मुनि पुण्यविजय ने नेमिचन्द्र का विस्तृत परिचय दिया है।]

देवभद्र

ये नवागवृत्तिकर्ता अभयदेव के शिष्य प्रसन्नचन्द्र के शिष्य थे। इनका पहला नाम गुणचन्द्र गणी था। प्राकृत साहित्य मे इनके तीन ग्रन्थो का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनका कथारत्नकोष सन् ११०१ में पूर्ण हुआ था। इसमें धर्मोपदेश के दृष्टान्तस्वरूप ५० कथाएँ है। दूसरा ग्रन्थ पार्श्वनाथचरित सन् ११११ मे भडौच में पूर्ण हुआ था। महावीरचरित इनकी तीसरी प्राकृत रचना है। इसके अतिरिक्त तर्कशास्त्र पर प्रमाणप्रकाश नामक ग्रन्थ तथा कुछ स्तोत्रो की रचना भी इन्होने की थी।

[कथारत्नकोष की प्रस्तावना में मुनि पुण्यविजय ने देवभद्र का विस्तृत परिचय दिया है।]

अभयदेव व मलधारी हेमचन्द्र

प्रश्नवाहनकुल के हर्षपुरीय गच्छ के आचार्य जयसिंह शाकम्भरी मण्डल (अजमेर के समीपवर्ती प्रदेश) में प्रसिद्ध थे। इनके शिष्य अभयदेव हुए। ये दो ही वस्त्र धारण करते थे तथा घी को छोड अन्य सब विकृतियो का त्याग इन्होने किया था। बहुत समय से बन्द पडा हुआ ग्वालियर का जिनमन्दिर इनके आग्रह से वहाँ के राजा भुवनपाल ने खुलवाया था। मन्त्री शान्तू ने इनके उपदेश से भडौच के जिनमन्दिर पर सुवर्णकलश चढाये। अणहिलपुर में सिद्धराज जयसिंह ने इनका उपदेश सुनकर पर्वदिनो में जीववध बन्द करवाया। इनके सन्देश से पृथ्वीराज ने रणथम्भौर के जिनमन्दिर को सुवर्णकलश प्रदान किये। इनके अन्तिम संस्कार के लिए एकत्रित विशाल जनसमूह को देखकर सिद्धराज भी आश्चर्यचकित हुआ था।

अभयदेव के शिष्य मलधारी हेमचन्द्र प्रसिद्ध ग्रन्थकर्ता थे। अनुयोगद्वार, जीवसमास, शतक, आवश्यक इन प्राचीन ग्रन्थो पर इनकी विस्तृत व्याख्याएँ उपलब्ध है। भवभावना इनकी प्रसिद्ध रचना है। मेडता और छत्रपल्ली मे लिखित यह कृति सन् ११२३ में पूर्ण हुई थी। यह इन्ही की उपदेशमाला की व्याख्या है जिसमें सुन्दर कथाओ के माध्यम से धर्म का उपदेश दिया है। इनका प्रवचन सुनने के लिए सिद्धराज स्वयं सपरिवार जिनमन्दिर मे उपस्थित होते थे। धन्धुका, सत्यपुर आदि मे जिनमन्दिरो के कार्य मे अन्य धर्मियो द्वारा खडी की गयी बाधाएँ इनके उपदेश से सिद्धराज ने दूर करवायी तथा अनेक मन्दिरो पर सुवर्णकलश चढवाये। इन्होने एक विशाल सघ के साथ शत्रुजय और गिरनार की यात्रा की थी।

हेमचन्द्र के शिष्य श्रीचन्द्र ने आशापल्ली मे सन् ११३६ मे मुनिसुव्रतचरित नामक विस्तृत प्राकृत ग्रन्थ लिखा था। इनके दूसरे शिष्य विबुधचन्द्र के आग्रह मे लक्ष्मण गणी ने मण्डलिपुरी मे सुपार्श्वनाथचरित की रचना सन् ११४२ मे की थी।

[सुपार्श्वनाथचरित की प्रस्तावना में उद्धृत मुनिसुव्रतचरित की प्रशस्ति से उपर्युक्त विवरण सकलित किया है।]

मुनिचन्द्र व देवसूरि

मुनिचन्द्र बृहद्गच्छ के यशोभद्र के शिष्य थे। ये अपने समय के प्रथितयश ग्रन्थकर्ता थे। हरिभद्र रचित अनेकान्तजयपताका, धर्मबिन्दु, उपदेशपद और ललितविस्तरा पर इनके टिप्पण प्राप्त है। स्वतन्त्र रूप से भी इन्होने अनुशासनाकुश, उपदेशामृत, मोक्षोपदेशपंचाशिका, गाथाकोष, कालशतक आदि अनेक छोटे-छोटे प्रकरणो की रचना की है। ये उग्र तपस्वी के रूप में भी प्रसिद्ध थे। कहा गया है कि इन्होने आजीवन केवल काजी का ही आहार ग्रहण किया था।

मुनिचन्द्र के पट्टशिष्य देव प्रसिद्ध वादी थे और वादी देवसूरि इसी रूप में

उनका नाम विख्यात हुआ। इनका जन्म सन् १०८७ में हुआ था तथा ९ वर्ष की अवस्था में ही ये मुनि हुए। सन् १११८ में इन्हें सूरिपद प्राप्त हुआ। दक्षिण के प्रसिद्ध दिगम्बर विद्वान् कुमुदचन्द्र के साथ अणहिलपुर में राजा सिद्धराज जयसिंह की सभा में इनका वाद हुआ था जिसका वर्णन अनेक ग्रन्थों में मिलता है। माणिक्यनन्दि के परीक्षा-मुख का परिवर्धन कर इन्होंने प्रमाणनयतत्त्वालोक नामक सूत्रग्रन्थ लिखा और उस पर स्याद्वादरत्नाकर नामक बृहत्काय व्याख्या की रचना की। भारतीय दर्शन के क्षेत्र में उस समय प्रचलित प्रायः सभी मान्यताओं का विस्तृत परीक्षण इस व्याख्या में प्राप्त होता है। प्रारम्भिक विद्यार्थियों के लिए इसका संक्षेप रत्नाकरावतारिका इस नाम से इनके शिष्य रत्नप्रभ ने लिखा है। उपदेशमालावृत्ति और नेमिनाथचरित ये रत्नप्रभ की अन्य रचनाएँ भी प्राप्त हैं। राजस्थान में फलोधी और आरासण के जिनमन्दिर देवसूरि द्वारा प्रतिष्ठित माने जाते हैं। इनका स्वर्गवास सन् ११७० में हुआ था।

[प्रभावकचरित में इनकी कथा विस्तार से मिलती है।]

हेमचन्द्र

गुजरात में जैन समाज के गौरव का चरम उत्कर्ष हेमचन्द्र के कृतित्व में प्रस्फुटित हुआ। धन्धूका नगर के वैश्य परिवार में सन् १०८८ में उनका जन्म हुआ था। बाल वय मे ही देवचन्द्र के संघ मे वे दीक्षित हुए और विविध शास्त्रो का अध्ययन पूर्ण होने पर आयु के बाईसवें वर्ष में ही उन्हे आचार्य पद प्राप्त हुआ। उस समय के गुजरात के यशस्वी राजा सिद्धराज जयसिंह उनकी विद्वत्ता और काव्यप्रतिभा से अत्यधिक प्रभावित थे। उन्होने भोजराज के समय के विस्तृत साहित्य को धारा-विजय के अवसर पर देखा था और गुजरात के साहित्यिक इस क्षेत्र में बहुत पिछड़े है यह देखकर वह व्यथित हुए थे। इस निमित्त से हेमचन्द्र ने गुजरात के साहित्य की श्रीवृद्धि का कार्य हाथ मे लिया और सिद्धराज के सहयोग से उन्हें इसमें आशातीत सफलता मिली। सिद्धहेमशब्दानुशासन उनका पहला ग्रन्थ था जिसमें संस्कृत और प्राकृत भाषाओ के व्याकरण का विशद विवेचन है। इसका प्राकृत सम्बन्धी अध्याय विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसमें हेमचन्द्र ने पहली बार अपभ्रंश को शास्त्रीय अध्ययन का विषय बनाया है। व्याकरण के साथ साहित्य के अध्ययन के अन्य अंगों पर भी उन्होने ग्रन्थरचना की। अनेकार्थचिन्तामणि, देशीनाममाला, काव्यानुशासन तथा छन्दोनुशासन ये अपने-अपने क्षेत्र के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

विद्वत्ता के साथ ही सहृदयता और व्यवहारकुशलता भी उनमें थी। उनके जीवनसम्बन्धी आख्यानो में कितने ही जैनेतर विद्वानो के साथ सम्पर्क के वृत्तान्त मिलते हैं। अन्य सम्प्रदायो द्वारा जैनो पर किये गये आक्षेप भी वे इस प्रकार दूर करते थे जिससे कटुता दूर हो और सौमनस्य बढ़े।

पुत्रप्राप्ति की इच्छा से सिद्धराज ने जो तीर्थयात्रा की उसमें हेमचन्द्र उनके साथ रहे। शत्रुंजय के आदीश्वर मन्दिर के लिए इस अवसर पर सिद्धराज ने बारह गाँव प्रदान किये थे। इसके पश्चात् गिरनार और सोमनाथ के दर्शन भी उन्होंने किये थे।

गुजरात राज्य के उत्तराधिकार के इच्छुक कुमारपाल के प्रति सिद्धराज के मन में तीव्र क्रोध था और उससे बचने के लिए कुमारपाल को साधुवेष में यहाँ-वहाँ भटकना पडा। इस अवधि में एक बार हेमचन्द्र के उपाश्रय मे छिपकर प्राणरक्षा करनी पडी तब हेमचन्द्र ने उज्ज्वल भविष्य का आश्वासन देकर कुमारपाल को सान्त्वना दी थी। राजपद प्राप्त होने पर इस उपकार को स्मरण कर कुमारपाल ने हेमचन्द्र का आदरसहित दर्शन किया। इसके साथ ही उनके जीवन का दूसरा स्वर्णिम अध्याय प्रारम्भ हुआ। कुमारपाल ने राजधानी अणहिलपुर मे तथा शत्रुजय, तारंगा, भडौच आदि अनेक स्थानो में जिन-मन्दिर बनवाये तथा पुराने अनेक मन्दिरो का जीर्णोद्धार करवाया। कुमारपाल ने स्वयं मासाहार का त्याग किया तथा नवरात्र आदि में देवताओ को दी जानेवाली पशुबलि पर प्रतिबन्ध लगाया। शत्रुजय और गिरनार की यात्रा भी कुमारपाल ने हेमचन्द्र के साथ की। इस अवधि मे भी हेमचन्द्र ने कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित में उन्होने परम्परागत जैन पुराणकथाओ का वर्णन किया। इसके अन्तिम भाग में भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद छह शताब्दियो मे हुए प्रमुख आचार्यों की जीवनकथाएँ भी है जो इतिहास की दृष्टि से विशेष महत्त्व की है। सिद्धहेम व्याकरण के नियमो के सब उदाहरण प्रस्तुत करने की दृष्टि से प्रारम्भ किया गया उनका द्व्याश्रय महाकाव्य भी इसी अवधि मे पूर्ण हुआ। इसमे चौलुक्य राजवश का इतिहास ही प्रमुख वर्ण्य विषय है। वीतरागस्तव, योगशास्त्र और प्रमाणमीमासा ये इस युग की उनकी अन्य रचनाएँ है। सन् ११७२ मे उनका स्वर्गवास हुआ।

[जॉर्ज बुह्लर के लाइफ ऑफ हेमचन्द्राचार्य मे हेमचन्द्र के साहित्य और उनके सम्बन्ध की कथाओ का विवेचन प्राप्त होता है। काव्यानुशासन, द्व्याश्रय काव्य, प्रमाणमीमासा आदि के विभिन्न सस्करणो की विस्तृत प्रस्तावनाएँ भी उपयोगी है।]

जिनवल्लभ

ये पहले आशी दुर्ग मे कूर्चपुरीय गच्छ के जिनेश्वर के शिष्य थे। सिद्धान्ताभ्यास के लिए अणहिलपुर मे अभयदेव के पास काफी समय तक रहने के बाद ये भी उन्ही के खरतरगच्छ में सम्मिलित हुए। इन्होने ज्योतिष का विशेष अध्ययन किया था। चित्तौड मे इनकी प्रेरणा से खरतरगच्छ का पहला मन्दिर बनवाया गया। धारा के राजा नरवर्मा ने समस्यापूर्ति से सन्तुष्ट होकर इनका सम्मान किया था। नागौर और नरवर मे भी इन्होने मन्दिरो की प्रतिष्ठा सम्पन्न की। सन् ११९० मे इन्हे चित्तौड मे सूरिपद प्राप्त हुआ किन्तु चार मास बाद ही इनका स्वर्गवास हुआ। सूक्ष्मार्थसिद्धान्त-

विचार, आगमिकवस्तुविचार आदि प्रकरणों के अतिरिक्त लगभग सौ स्तोत्रों की रचना भी इन्होंने की थी।

जिनदत्त

इनका जन्म धोलका नगर में सन् १०७६ में हुआ था। ९ वर्ष की आयु में इन्हे दीक्षा दी गयी। चित्तौड़ मे सन् ११११२ में ये खरतरगच्छ के सूरिपद पर प्रतिष्ठित हुए। अजमेर में राजा अर्णोराज ने इनका सम्मान किया। वहाँ मन्दिर की प्रतिष्ठा भी इनके द्वारा सम्पन्न हुई। रुद्रपल्ली के निकट एक गाँव में एक श्रावक व्यन्तर से पीड़ित था। सूरिजी ने उसकी पीडामुक्ति के लिए गणधरसप्तति की रचना की जिसके प्रभाव से वह स्वस्थ हो गया। त्रिभुवनगिरि में राजा कुमारपाल ने इनका सम्मान किया। विक्रमपुर, नागौर आदि मे भी इनका विहार हुआ था। सन् ११५५ में इनका स्वर्गवास हुआ। खरतरगच्छ के श्रावक अब भी विघ्नपरिहार के लिए इनके नाम का स्मरण करते है। उपदेशरसायन, कालस्वरूपकुलक, चर्चरी, सुगुरुपारतन्त्र्यस्तव आदि इनकी रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं।

जिनचन्द्र

जिनदत्त ने विक्रमपुर मे सन् ११४९ में इन्हे सूरिपद प्रदान किया था। त्रिभुवनगिरि, अजमेर, मरुकोट, सागरपाट आदि स्थानो में इनका विहार हुआ। इन्होने मथुरा की भी यात्रा की थी। चोरसिन्दानक ग्राम के पास जब ये संघसहित ठहरे थे तो मुसलमान सिपाहियो का एक दल वहाँ से गुजरा किन्तु सूरिजी के मन्त्र-प्रभाव से वह दल संघ को देख नही पाया। दिल्ली में राजा मदनपाल ने इनका सम्मान किया था। यहाँ अधिबल नामक व्यन्तरदेव को मासबलि रोककर इन्होंने उसे पार्श्वनाथ मन्दिर के एक स्तम्भ मे स्थापित किया था। सन् ११६६ मे इनका स्वर्गवास हुआ।

[उपर्युक्त तीन आचार्यों का परिचय बृहत् खरतरगच्छगुर्वावलि से लिया गया है।]

अन्य आचार्य

इस शताब्दी के शिलालेखों से ज्ञात अन्य आचार्यों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

कुलचन्द्र

मैसूर प्रदेश के शिकारपुर तालुके में स्थित बन्दलिके ग्राम से प्राप्त सन् १०७४ के शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। ये क्राणूर गण के आचार्य रामनन्दि के शिष्य थे। चालुक्य सम्राट् भुवनैकमल्ल के सामन्त उदयादित्य ने बन्दलिके के शान्तिनाथ मन्दिर का जीर्णोद्धार कर उसके लिए कुलचन्द्र को भूमिदान दिया था।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख २०७]

पद्मनन्दि

मैसूर प्रदेश के सोरब तालुके में स्थित कुप्पटूर ग्राम के सन् १०७५ के शिला-लेख से इनका परिचय मिलता है। ये क्राणूर गण के आचार्य थे। कुप्पटूर मे इनके द्वारा जिनमन्दिर की प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई थी। इसके लिए कदम्ब वंश के राजा कीर्तिदेव की रानी माकलदेवी ने भूमिदान दिया था।

[उपर्युक्त, लेख २०९]

श्रीनन्दि

मैसूर प्रदेश के गुडिगेरी ग्राम से प्राप्त सन् १०७६ के शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। लक्ष्मेश्वर के आनेसेज्ज बसति के अधिकार की भूमि का संरक्षण इनकी देखरेख मे होता था। जिनपूजा और शास्त्रलेखन के लिए भूमि से समुचित आय होने हेतु किये गये प्रबन्ध का विवरण लेख मे दिया गया है। लेख के अनुसार श्रीनन्दि श्रेष्ठ वादी, तपस्वी और व्याख्यानकुशल थे। इनकी शिष्या अष्टोपवासी कन्ति की भी लेख में प्रशसा की गयी है।

[उपर्युक्त, लेख २१०]

रामसेन

मैसूर प्रदेश के शिकारपुर तालुके मे स्थित बलगावे ग्राम से प्राप्त सन् १०७७ के लेख से इनका परिचय मिलता है। ये सेनगण के आचार्य गुणभद्र के शिष्य थे। गुणभद्र के गुरुबन्धु महासेन की प्रशसा भी लेख मे है। चालुक्यगंगपेर्मानडि जिनमन्दिर के लिए महासामन्त बर्मदेव द्वारा रामसेन को एक ग्राम दान दिया गया था। व्याकरण, तर्क और काव्य मे इनकी निपुणता की प्रशसा भी लेख मे प्राप्त होती है।

[उपर्युक्त, लेख २१७]

कमलभद्र

ये द्राविड संघ के आचार्य थे। मैसूर प्रदेश के शिवमोग्गा जिले के तीर्थस्थल हुम्मच से प्राप्त सन् १०७७ के तीन लेखो मे इनका वर्णन है। राजा भुजबल सान्तर की माता चट्टलदेवी द्वारा निर्मित पचबसति के लिए कमलभद्र को ग्राम और भूमि का दान दिया गया था। कमलभद्र की परम्परा और भुजबलसान्तर के कुल का विस्तृत परिचय इन लेखो मे प्राप्त होता है। श्रवणबेलगोल के मल्लिषेणप्रशस्ति शिलालेख मे भी कमल-भद्र की प्रशसा मे दो श्लोक है।

[उपर्युक्त, लेख २१३-१४ तथा २१६]

आन्ध्र प्रदेश के चार आचार्य

आन्ध्र के मेडक जिले में स्थित चिन्तलघाट ग्राम से सन् १०८१ का शिलालेख प्राप्त हुआ है। इसके अनुसार वहाँ के जिनमन्दिर के लिए महासामन्त कद्दरस ने माधवचन्द्र आचार्य को कुछ दान दिया था।

इसी जिले के अल्लदुर्ग नामक स्थान से सन् १०८४ का शिलालेख मिला है। इसमे कीर्तिविलास शान्ति जिनालय नामक मन्दिर के लिए महासामन्त आहवमल्ल द्वारा आचार्य कमलदेव को दिये गये दान का वर्णन है।

आन्ध्र के महबूबनगर जिले के सुदूर ग्राम से सन् १०८७ के दो शिलालेख मिले है। एक के अनुसार देशी गण के आचार्य पद्मनन्दि द्वारा स्थापित जिनमन्दिर के लिए महासामन्त जत्तरस ने भूमि, उद्यान आदि का दान दिया था। दूसरे लेख में द्राविड सघ के पल्लव जिनालय के लिए आचार्य कनकसेन को महासामन्त हल्लवरस ने भूमि दान दी ऐसा वर्णन है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ५, लेख ५२-५३ और ५५-५६]

श्रीधर व वासुपूज्य

मैसूर प्रदेश के बेलगाँव जिले के कोण्णूर ग्राम से प्राप्त सन् १०८७ के लेख से इनका परिचय मिलता है। बलात्कार गण की परम्परा में गुणचन्द्र, पक्षोपवासी, नयनन्दि, श्रीधर (प्रथम) तथा चन्द्रकीर्ति इन आचार्यों की प्रशंसा के बाद इस लेख मे चन्द्रकीर्ति के शिष्य श्रीधर (द्वितीय) का वर्णन है। इनके शिष्य वासुपूज्य त्रैविद्य की विस्तृत प्रशसा के बाद बताया गया है कि महासामन्त सेन के अधीन ग्रामप्रमुख निधियम ने इन आचार्यों को कुछ दान दिया था। वासुपूज्य के गुरुबन्धु नेमिचन्द्र एव मलयाल पण्डित तथा शिष्य पद्मप्रभ का भी लेख मे वर्णन है।

इसी जिले के गोलिहल्लि ग्राम से प्राप्त एक अन्य लेख में भी उक्त आचार्य-परम्परा का वर्णन मिलता है। इस लेख की तिथि अस्पष्ट है। इसमें वासुपूज्य के बाद कुमुदचन्द्र, उदयचन्द्र तथा त्रिभुवनदेव इन आचार्यों के नाम है। लेख टूटा होने से इसका पूरा विवरण स्पष्ट नही है।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख २२७, जैनिज्म इन साउथ इण्डिया, पृ. ११७]

विजयकीर्ति

मध्य प्रदेश में ग्वालियर के समीप दूबकुण्ड ग्राम से प्राप्त सन् १०८८ के शिलालेख से इनका परिचय मिलता है। ये लाटवर्गट गण के आचार्य शान्तिषेण के शिष्य थे। लेख के अनुसार शान्तिषेण ने राजा भोज की सभा में अनेक वादियो को पराजित किया

था। कच्छपघात वंश के राजा विक्रमसिंह के दरबार के प्रमुख नगरश्रेष्ठी दाहड द्वारा विजयकीर्ति की प्रेरणा से उक्त स्थान मे जिनमन्दिर बनवाया गया था तथा राजा ने उसके लिए उद्यान आदि का दान दिया था। राजा, श्रेष्ठी और आचार्य तीनो की परम्परा का काव्यमय वर्णन विस्तार से देनेवाले इस शिलालेख की रचना विजयकीर्ति ने ही की थी।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख २२८]

इन्द्रसेन

मैसूर प्रदेश के गुलबर्गा जिले के इगळगी ग्राम से प्राप्त शिलालेख मे इनका परिचय मिलता है। ये द्राविड सघ—सेन गण के मल्लिषेण आचार्य के शिष्य थे। चालुक्य वश के सम्राट् विक्रमादित्य (षष्ठ) त्रिभुवनमल्ल की रानी जाकलदेवी ने इस ग्राम में एक भव्य जिनमन्दिर बनवाया था तथा उसके लिए सन् १०९४ में इन्द्रसेन को भूमिदान दिया था।

आन्ध्र प्रदेश के महबूबनगर जिले में स्थित उज्जिलि ग्राम से प्राप्त दो शिलालेखो मे भी इन्द्रसेन को भूमिदान दिये जाने का वर्णन है। यह दान महाप्रधान भानुदेव ने वहाँ के जिनमन्दिर के लिए सन् ११६७ मे दिया था। समय के अन्तर को देखते हुए ये इन्द्रसेन उपर्युक्त इन्द्रसेन के प्रशिष्य जान पडते है। यहाँ के दूसरे लेख मे श्रीवल्लभचोल महाराज द्वारा इन्द्रसेन को भूमिदान दिये जाने का वर्णन है।

[जैनिज्म इन साउथ इण्डिया मे प्रथम लेख का तथा जैन शिलालेखसग्रह, भाग ५ मे अन्य दो लेखो का विवरण मिलता है।]

चारुकीर्ति, रविचन्द्र और कनकप्रभ

मैसूर प्रदेश के उत्तर भाग से प्राप्त सन् १०९६ के तीन लेखो से इन आचार्यों का परिचय मिलता है। दोणि ग्राम के लेख मे यापनीय सघ के मुनिचन्द्र आचार्य के शिष्य चारुकीर्ति का वर्णन है। इन्हे सोविसेट्टि नामक श्रावक ने एक उद्यान अर्पित किया था। तुम्बदेवनहल्लि ग्राम के लेख मे वहाँ के जिनमन्दिर का निर्माण कदम्ब कुल के राजा एरेयग की पत्नी असवव्वरसि द्वारा किया गया था ऐसा वर्णन है। इन्होने देशीय गण के आचार्य रविचन्द्र को उक्त जिनमन्दिर के लिए दान दिया था। तीसरा लेख सौन्दत्ती नगर से प्राप्त हुआ है। इसमे रट्ट वश के राजा कन्नकैर द्वारा उनके गुरु कनकप्रभ को दिये गये भूमिदान का वर्णन है। लेख में कनकप्रभ को गणधरो के समान सर्वशास्त्रनिपुण कहा गया है।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग ४, लेख १६९-७० तथा भाग २, लेख २३७]

मुनिचन्द्र

मैसूर प्रदेश के शिमोगा जिले में स्थित हेब्बण्डे ग्राम के सन् १११० के लेख से इनका परिचय मिलता है। ये कनकनन्दि के शिष्य थे। इन्हें राजा विष्णुवर्धन, सामन्त भुजबल गंग पेर्माडि तथा गावुण्ड बम्म आदि ने भूमि आदि दान दिया था।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख २५१]

छत्रसेन

राजस्थान मे डूंगरपुर के समीप अर्थूणा ग्राम से प्राप्त शिलालेख में इनका वर्णन है। ये माथुर अन्वय के प्रमुख आचार्य थे। इनके शिष्य आलोक के पुत्र भूषण ने सन् १११० मे उक्त ग्राम में वृषभदेव का भव्य मन्दिर बनवाया था।

[उपर्युक्त, भा ३, लेख ३०५ क]

शुभकीर्ति

मैसूर प्रदेश के शिमोगा जिले में स्थित निदिगि ग्राम के सन् १११७ के लेख से इनका परिचय मिलता है। ये मेषपाषाण गच्छ के आचार्य थे। सामन्त नन्निय गंग पेर्माडि ने इन्हें नवनिर्मित जिनमन्दिर के लिए भूमि आदि दान दिया था।

[उपर्युक्त, लेख २६७]

अर्हणन्दि

मैसूर प्रदेश के कण्णूर ग्राम के सन् ११११२ के लेख से इनका परिचय मिलता है। ये बाल्चन्द्र के शिष्य थे। चालुक्य सम्राट् विक्रमादित्य (षष्ठ) के सेनापति कालिदास ने इन्हे उक्त ग्राम के पार्श्वनाथ मन्दिर के लिए भूमिदान दिया था।

[जैन शिलालेख सग्रह, भाग ४, लेख १९०]

गण्डविमुक्त

मैसूर प्रदेश के मूडगेरे तालुके में स्थित हन्तूरु ग्राम के सन् ११३० के लेख से इनका परिचय मिलता है। ये माघनन्दि के शिष्य थे। होयसल वश के राजा विष्णुवर्धन की कन्या हरियब्बरसि ने इन्हे स्वनिर्मित रत्नखचित जिनमन्दिर के लिए कुछ भूमि दान दी थी।

[उपर्युक्त, भाग २, लेख २९३]

नेमिचन्द्र

मैसूर प्रदेश के विख्यात कलाकेन्द्र हलेबीड के पार्श्वनाथ जिनमन्दिर से सम्बद्ध शिलालेख मे इनका वर्णन है। सन् ११३३ में होयसल वंश के महाराज विष्णुवर्धन के

सेनापति गंगराज के पुत्र बोप्प ने इस मन्दिर का निर्माण किया था। राजा ने विजय-पार्श्वदेव ऐसा नाम देकर इस जिनालय के लिए भूमिदान दिया था। यह दान नयकीर्ति आचार्य के शिष्य नेमिचन्द्र को सौंपा गया था। विजापूर के समीप अरसीबीडि ग्राम से प्राप्त सन् ११५१ के लेख मे भी नेमिचन्द्र को प्राप्त कुछ दान का वर्णन है।

[उपर्युक्त, लेख ३०१ तथा भाग ४, लेख २४१]

सुभद्र

मध्यप्रदेश में जबलपुर के निकट बहुरीबन्द ग्राम में प्राप्त भव्य शान्तिनाथ मूर्ति के पादपीठ के लेख मे इनका नाम प्राप्त होता है। ये देशी गण के चन्द्रकराचार्य के आम्नाय के प्रमुख थे। उपर्युक्त मूर्ति की स्थापना कलचुरि वश के राजा गयाकर्ण के सामन्त गोल्हणदेव के शासनकाल मे महाभोज नामक श्रावक द्वारा की गयी थी तथा उसकी प्रतिष्ठा आचार्य सुभद्र ने की थी। यह कार्य सन् ११३२ के लगभग सम्पन्न हुआ था।

[जैन शिलालेख संग्रह, भा. ४, लेख २१७]

माणिक्यसेन

मैसूर प्रदेश के मोरब तालुके के हिरे आवली ग्राम के पार्श्वनाथ मन्दिर से प्राप्त लेख मे इनका वर्णन है। ये सेनगण के आचार्य वीरसेन के सहधर्मा थे। इन्हे उक्त मन्दिर के लिए प्रादेशिक शासक मल्लिदेव ने सन् ११४२ मे भूमिदान दिया था।

[उपर्युक्त, भा. ३, लेख ३२२]

हरिनन्दि

मैसूर प्रदेश मे धारवाड के निकट नीरलगि ग्राम से प्राप्त लेख में इनका वर्णन मिलता है। ये सूरस्थ गण के आचार्य थे। प्रादेशिक शासक मल्लगावुण्ड ने उक्त ग्राम मे मल्लिनाथ जिनमन्दिर बनवाया था तथा उसके लिए इन्हे सन् ११४८ मे भूमिदान दिया था। समीप के ही एक ग्राम करगुदरि से प्राप्त एक लेख मे हरिनन्दि के शिष्य नागचन्द्र को पार्श्वनाथ मन्दिर के लिए कुछ दान दिये जाने का वर्णन है।

[उपर्युक्त, भा. ४, लेख २३७-२३८]

रामकीर्ति

राजस्थान के प्रसिद्ध दुर्ग चित्तौड मे प्राप्त सन् ११५० के एक विस्तृत शिलालेख की रचना जयकीर्ति के शिष्य रामकीर्ति ने की थी। इसमे चौलुक्य राजा कुमारपाल के राज्य की प्रमुख घटनाओ का तथा चित्तौड-प्रवास का विवरण दिया गया है।

[उपर्युक्त, भा. ३, लेख ३३२]

माणिकनन्दि

मैसूर प्रदेश के हेग्गेरी ग्राम के सन् ११६१ के शिलालेख में इनका वर्णन मिलता है। ये गुणचन्द्र के शिष्य थे। होयसल वंश के राजा नरसिंह के सामन्त गोविदेव ने हेग्गेरी में अपनी पत्नी की स्मृति में पार्श्वनाथ जिनालय का निर्माण कराया था तथा उसके लिए माणिकनन्दि को भूमि आदि दान दिया था।

[उपर्युक्त, लेख ३५६]

विजयकीर्ति

मैसूर प्रदेश में बेलगाँव के निकट एकसम्बि ग्राम के सन् ११६५ के शिलालेख में इनका वर्णन मिलता है। ये यापनीय संघ के आचार्य कुमारकीर्ति के शिष्य थे। शिलाहार वंश के राजा विजयादित्य के सेनापति कालण ने उक्त ग्राम में नेमिनाथ मन्दिर बनवाया था तथा उसके लिए विजयकीर्ति को भूमि आदि दान दी थी।

[उपर्युक्त, भा. ४, लेख २५९]

रामचन्द्र

मध्यप्रदेश के पश्चिमी निमाड जिले के प्रसिद्ध तीर्थ बडवानी के दो शिलालेखो से इनका परिचय मिलता है। इनके उपदेश से वहाँ इन्द्रजित केवली का विशाल मन्दिर सन् ११६६ में बनाया गया था। इनके पूर्ववर्ती लोकनन्दी और देवनन्दी आचार्यों का भी लेख मे वर्णन आता है।

[उपर्युक्त, भा. ३, लेख ३७०-७१]

गुणभद्र

राजस्थान के बिजोलिया नगर से प्राप्त सन् ११७० के एक विस्तृत शिलालेख की रचना माथुर संघ के महामुनि गुणभद्र ने की थी। इस लेख मे उक्त नगर के विभिन्न मन्दिरो का विस्तृत विवरण दिया गया है।

[उपर्युक्त, भा. ४, लेख २६५]

श्रीवीर निर्वाण संवत् की अठारहवीं शताब्दी

[ईसवी सन् ११७३ से १२७३]

मदनकीर्ति

इनकी एकमात्र रचना शासनचतुस्त्रिंशिका बहुत छोटी (३४ श्लोक) होने पर भी इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह पहली रचना है जिसमे अपने समय के प्रसिद्ध जैन तीर्थों के विषय में देखी-सुनी बातो का व्यवस्थित वर्णन मिलता है। कैलास, पोदनपुर, श्रीपुर, शंखजिनेन्द्र (लक्ष्मेश्वर), धारा, बृहत्पुर (बडवानी), दक्षिणगोम्मट (श्रवणबेलगोल), बेतवा-तट (देवगढ), सम्मेदशिखर, पुष्पपुर, नागह्रद, पश्चिम समुद्र तट (वेरावल), समुद्रान्तर्गत आदिजिन, पावापुर, गिरनार, चम्पापुर, नर्मदातटवर्ती शान्तिजिन, आश्रम के मुनिसुव्रत, विपुलाचल, विन्ध्याचल, नागफणी तथा मंगलपुर इनके विषय मे विविध अतिशयो का उल्लेख मदनकीर्ति ने किया है।

मदनकीर्ति प्रसिद्ध वादी विशालकीर्ति के शिष्य थे। महापण्डित आशाधर ने आदरपूर्वक लिखा है कि मदनकीर्ति ने उनकी प्रज्ञापुज कहकर प्रशसा की थी। राजशेखर के प्रवन्धकोश से ज्ञात होता है कि कुछ समय के लिए वे दक्षिण भारत गये थे। कोल्हापुर के राजा भोजदेव के दरबार मे रहकर उनका कुलवृत्तान्त काव्यरूप मे निबद्ध करते हुए उनका राजा की कन्या के साथ अनुराग का सम्बन्ध रहा। किन्तु बाद मे गुरु के उपदेश से वे पुन धर्ममार्ग मे स्थिर हुए थे।

[पं. दरबारीलाल ने शासनचतुस्त्रिंशिका की प्रस्तावना में ग्रन्थ और ग्रन्थकर्ता के विषय में विस्तृत विवेचन किया है।]

वसन्तकीर्ति

प्राचीन भारत मे दिगम्बर मुनियो का विहार सुप्रचलित था—अजैन सम्प्रदाय भी मुनियो की नग्नता को सुस्थापित परम्परा के रूप मे मान्य करते थे। किन्तु गोरी और गुलाम सुलतानो के शासनकाल मे इस स्थिति मे बडा परिवर्तन हुआ। नये मुस्लिम शासक भारत की प्राचीन धार्मिक परम्परा से अनभिज्ञ होने के साथ ही असहिष्णु भी थे। अत. उस समय उत्तर भारत मे बलात्कार गण के प्रधान आचार्य वसन्तकीर्ति ने यही उचित समझा कि सार्वजनिक विहार के समय मुनि नग्नता का आग्रह छोड दें—चटाई या चादर का उपयोग करें। उत्तर भारत मे साधुसंघ का अस्तित्व बनाये रखने में यह नीति काफी हद तक सफल रही।

वसन्तकीर्ति के पट्टावली में प्राप्त वर्णन से ज्ञात होता है कि अजमेर में उन्हें आचार्यपद प्राप्त हुआ था। ऊपर वर्णित परिवर्तन का निश्चय उन्होने माण्डलगढ़ में किया था ऐसा श्रुतसागरकृत षट्पाहुडटीका से ज्ञात होता है। पट्टावली के वर्णन के अनुसार वन मे निवास करते हुए शेर भी उनको वन्दन करते थे।

नयकीर्ति व बालचन्द्र

नयकीर्ति देशी गण के गुणचन्द्र के शिष्य थे। श्रवणबेलगोल के बीसों शिलालेखो में इनकी और इनके शिष्यो की प्रशंसा प्राप्त होती है। सन् ११७६ में इनके स्वर्गवास होने पर महामन्त्री हुल्ल, नागदेव आदि शिष्यो ने इनकी स्मृति मे जो स्तम्भ स्थापित किया वह चन्द्रगिरि पर्वत पर अब भी देखा जा सकता है। गोम्मटेश्वर महामूर्ति के चारो ओर के देवालयो मे इनके शिष्य बसविसेट्टि द्वारा स्थापित अनेक सुन्दर जिन-मूर्तियाँ है।

नयकीर्ति के शिष्यों मे बालचन्द्र प्रमुख थे। राजा वीरबल्लाल के नगरश्रेष्ठी सोमिसेट्टि ने स्वनिर्मित पार्श्वजिनालय के लिए इन्हे सन् ११७८ मे भूमिदान दिया था। श्रवणबेलगोल नगर मे अक्कन बसति नामक जिनमन्दिर के सन् ११८१ के लेख से विदित होता है कि राजा वीरबल्लाल के मन्त्री चन्द्रमौलि की पत्नी आचलदेवी बालचन्द्र को शिष्या थी। उसके द्वारा निर्मित इस मन्दिर को राजा ने एक गाँव अर्पित किया था। बालचन्द्र को इन अनेक लेखो मे अध्यात्मी यह उपाधि दी गयी है।

नयकीर्ति के अन्य शिष्यो के नाम लेखो में इस प्रकार दिये हैं—दामनन्दि, भानुकीर्ति, प्रभाचन्द्र, माघनन्दि, मन्त्रवादी पद्मनन्दि तथा नेमिचन्द्र।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, लेख ४२, १२४, ३२० आदि तथा भाग ३, लेख ३४९]

अमरकीर्ति

ये माथुर संघ के आचार्य थे। इनकी गुरुपरम्परा इस प्रकार बतलायी है—अमितगति—शान्तिषेण—अमरसेन—श्रीषेण—चन्द्रकीर्ति—अमरकीर्ति। इनके तीन अपभ्रंश ग्रन्थ मिले है। इनमे नेमिनाथचरित सन् ११८८ में तथा षट्कर्मोपदेश सन् ११९१ मे लिखा गया था। तीसरी ज्ञात रचना पुरन्दर विधान कथा है। इसके सिवाय इन्होने महावीरचरित, यशोधरचरित, धर्मचरितटिप्पन, सुभाषितरत्ननिधि, धर्मोपदेशचूडामणि तथा ध्यानप्रदीप इन ग्रन्थो की भी रचना की थी ऐसा षट्कर्मोपदेश की प्रशस्ति से ज्ञात होता है। गुजरात के गोधरा नगर में राजा कृष्ण के राज्यकाल में अमरकीर्ति ने इन ग्रन्थो की रचना की थी। राजा कृष्ण ने इनके गुरु चन्द्रकीर्ति का सम्मान किया था ऐसा नेमिनाथचरित की प्रशस्ति से ज्ञात होता है।

[जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, भाग २, प्रशस्ति ११ तथा ३१, षट्कर्मोपदेश डॉ. मोदी द्वारा सम्पादित होकर गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज मे प्रकाशित हुआ है]

भावसेन

ये सेनगण के आचार्य थे। इनका समाधिलेख आन्ध्र प्रदेश के अनन्तपुर जिले में अमरापुरम् ग्राम के निकट प्राप्त हुआ है। न्याय, व्याकरण और सिद्धान्त में निपुणता के कारण इन्हे त्रैविद्य कहा जाता था। इनके तीन संस्कृत ग्रन्थ प्रकाशित हुए है। विश्वतत्त्वप्रकाश में चार्वाक, मीमासा आदि दर्शनो के मन्तव्यों का जैन दृष्टि से विस्तृत परीक्षण किया गया है। प्रमाप्रमेय मे प्रमाण सम्बन्धी जैन सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन मिलता है। कातन्त्र रूपमाला में कातन्त्र व्याकरण के अनुसार शब्द रूपो की सिद्धि का विवरण दिया गया है। इनके अप्रकाशित ग्रन्थो के नाम इस प्रकार है—सिद्धान्तसार, न्यायदीपिका, कथाविचार, न्यायसूर्यावली, भुक्तिमुक्तिविचार तथा शाकटायन व्याकरण टीका।

[डॉ. जोहरापुरकर द्वारा सम्पादित विश्वतत्त्वप्रकाश की प्रस्तावना में भावसेन के विषय में विस्तृत चर्चा की गयी है।]

पद्मसेन

मैसूर प्रदेश के धारवाड जिले मे स्थित तीर्थस्थान लक्ष्मेश्वर से प्राप्त सन् १२४७ के लेख मे इनका प्रथम उल्लेख है। इस समय वहाँ की श्रीविजय-बसति के लिए पद्मसेन की शिष्या राजलदेवी द्वारा कुछ भूमि दान दी गयी थी। राजलदेवी के पिता महाप्रधान बीचिराज यादव राजा सिंहण के सामन्त थे। दावणगेरे तालुके मे स्थित बेतूर ग्राम के सन् १२७१ के लेख मे भी पद्मसेन का वर्णन आता है। इनके गुरु का नाम यहाँ महासेन बताया है। यादव राजा रामदेव के सामन्त कूचिराज ने अपनी दिवंगत पत्नी लक्ष्मी की स्मृति मे एक जिनमन्दिर बनवाया था तथा उसकी देखभाल के लिए एक ग्राम पद्मसेन को समर्पित किया था।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेख ३३० तथा भाग ३, लेख ५११]

सोमप्रभ

ये ऊपर वर्णित वादी देवसूरि के गुरुबन्धु अजितदेव के शिष्य विजयसिंह के शिष्य थे। इनकी विख्यात कृति कुमारपाल प्रतिबोध है जिसकी रचना सन् ११८४ मे अणहिलपुर मे हुई थी। हेमचन्द्र द्वारा कुमारपाल राजा को दिये गये उपदेश के रूप मे इसमे ५६ कथाएँ है। प्राकृत भाषा के साहित्यिक सौन्दर्य के साथ सदाचार का प्रभावशाली उपदेश इन कथाओ से प्राप्त होता है। सोमप्रभ की दूसरी विस्तृत रचना सुमतिनाथचरित में भी अनेक कथाओ के माध्यम से सदाचार का उपदेश दिया गया है। इसमे लगभग ९५०० गाथाएँ है। इनकी एक छोटी रचना सूक्तिमुक्तावली (जिसे सिन्दूरप्रकर या सोमशतक भी कहा जाता है) काफी लोकप्रिय रही है। वैराग्य का

भावपूर्ण प्रतिपादन करनेवाले सस्कृत सुभाषित इस रचना में प्राप्त होते हैं। एक श्लोक के सौ विभिन्न अर्थ प्रकट करनेवाली टीका की रचना से सोमप्रभ को शतार्थी यह विरुद प्राप्त हुआ था। इनके गुरुबन्धु मणिरत्न थे जिनके शिष्य जगच्चन्द्र का आगे उल्लेख होगा।

[कुमारपाल प्रतिबोध की प्रस्तावना मे मुनि जिनविजय ने इनका विस्तृत परिचय दिया है।]

जगच्चन्द्र

ये मणिरत्न के शिष्य थे। अपने समय के साधुओं के आचार में व्याप्त शिथिलताएँ दूर करने का व्यापक प्रयास इन्होने किया। बारह वर्ष तक लगातार आचाम्ल तपस्या करने के कारण इनकी ख्याति सुनकर मेवाड के राजा जैत्रसिंह ने इन्हे तपा इस बिरुद से सम्मानित किया था। तब से इनके शिष्यो की परम्परा तपागच्छ कहलायी। यह घटना सन् १२२८ की है। अनेक वादियो से अपराजित रहने के कारण इन्हे हीरला यह बिरुद प्राप्त हुआ था।

देवेन्द्र

ये जगच्चन्द्र के पट्टशिष्य थे। इनका प्रारम्भिक समय मालवा मे बीता। उज्जयिनी के श्रेष्ठिपुत्र वीरधवल ने इनसे मुनिदीक्षा ली थी तथा उनका नाम विद्यानन्द रखा गया था। इनका विद्यानन्द व्याकरण प्राप्त है। बाद में देवेन्द्र ने गुजरात और राजस्थान मे विहार किया। खम्भात मे महामन्त्री वस्तुपाल ने इनका सम्मान किया था। यही पर इनके गुरुबन्धु विजयचन्द्र ने आचार सम्बन्धी कुछ मतभेदों के कारण अपना पृथक् सम्प्रदाय स्थापित किया था। पाल्हणपुर मे देवेन्द्र ने सन् १२६६ में विद्यानन्द को सूरिपद प्रदान किया था। देवेन्द्र ने पाँच कर्मग्रन्थों की रचना की। शिवशर्मकृत पुरातन ग्रन्थो से भिन्नता बताने के लिए इन्हे नव्य कर्मग्रन्थ कहा जाता है। श्राद्धदिनकृत्य, सुदर्शनाचरित्र तथा कुछ स्तुतियो की रचना भी इन्होने की थी। सन् १२७० मे इनका स्वर्गवास हुआ।

[मुनि दर्शनविजय सम्पादित पट्टावली समुच्चय के विभिन्न प्रकरणो मे इन दो आचार्यों का वृत्तान्त दिया है।]

विजयसेन

ये नागेन्द्र गच्छ के हरिभद्रसूरि के शिष्य थे। गुजरात की राजधानी अणहिल-पुर पाटन के पचासर पार्श्वनाथ मन्दिर के ये प्रमुख थे। महामन्त्री वस्तुपाल और तेज-पाल इनके शिष्य थे। आबू पर्वत पर वस्तुपाल ने अपने बडे भाई लूणिग की स्मृति मे लूणिगवसही नामक नेमिनाथ मन्दिर का निर्माण कराया, उसकी प्रतिष्ठा विजयसेन द्वारा सम्पन्न हुई थी। तारंगा पर्वत पर आदिनाथदेवकुलिका का निर्माण वस्तुपाल ने कराया,

उसकी प्रतिष्ठा भी विजयसेन ने की थी। वस्तुपाल निर्मित ये मन्दिर शिल्पकला के लिए विश्वविख्यात है। सन् १२२० मे वस्तुपाल ने विशाल संघ के साथ शत्रुंजय और गिरनार की यात्रा की। इस अवसर पर विजयसेन के शिष्य उदयप्रभ ने धर्माभ्युदय नामक महाकाव्य लिखा। इसमें आदिनाथ और नेमिनाथ सम्बन्धी कथाएँ विस्तार से दी है। उदयप्रभ के अन्य ग्रन्थ है—आरम्भसिद्धि, उपदेशमालाटीका, षडशीति टिप्पण तथा कर्मस्तवटिप्पण।

[मुनि पुण्यविजय सम्पादित धर्माभ्युदय की प्रस्तावना मे इनका विस्तृत परिचय दिया है।]

जयसिंह व बालचन्द्र

महामन्त्री वस्तुपाल-तेजपाल से सम्बन्धित साहित्यिको मे इन दोनो का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जयसिंह भडौच के मुनिसुव्रत मन्दिर के प्रधान आचार्य थे। इनका हम्मीरमदमर्दन नाटक प्रकाशित हुआ है। वस्तुपाल द्वारा दिल्ली के अमीर सुलतानो की सेनाओ के पराजय का समकालीन वृत्तान्त इस नाटक का विषय है। वीररस के परिपोष के साथ ही ऐतिहासिक दृष्टि से भी इसका महत्त्व है। बालचन्द्र का वसन्तविलास नामक महाकाव्य प्रकाशित हुआ है। इसमे वस्तुपाल के जीवन की बहुविध उपलब्धियो का सुन्दर क्रमबद्ध वर्णन मिलता है। ऐतिहासिक महाकाव्यों में इतिवृत्त के विस्तार की दृष्टि से यह एक श्रेष्ठ रचना है। मन्त्रिवर के पुत्र जयन्तसिंह के अनुरोध पर बालचन्द्र ने यह काव्य लिखा था।

जिनपति

खरतरगच्छ की परम्परा मे पूर्ववर्णित जिनचन्द्र के बाद सन् ११६६ मे जिनपति सूरिपद पर प्रतिष्ठित हुए। आसिका नगर के राजा भीमसिंह ने इनका सम्मान किया था। अजमेर मे चौहान राजा पृथ्वीराज की सभा मे हुए वाद मे इन्हे जयपत्र प्राप्त हुआ। अणहिलपुर के श्रीमान् सेठ अभयकुमार ने सन् ११८८ मे गिरनार, शत्रुंजय, तारगा आदि तीर्थों की यात्रा के लिए विशाल संघ निकाला था जिसमे जिनपति भी सम्मिलित हुए। यात्रा से लौटते समय आशापल्ली मे प्रद्युम्नाचार्य के साथ हुए इनके वाद का विवरण वादस्थल नामक ग्रन्थ के रूप मे प्राप्त है। नगरकोट के राजा पृथ्वीचन्द्र सन् १२१७ मे गंगादशहरा यात्रा के अवसर पर बृहद्द्वार आये थे। उनके साथ आये हुए कश्मीर के पण्डित मनोदानन्द के साथ जिनपति के शिष्य जिनपाल उपाध्याय का वाद हुआ जिसमे राजा ने उन्हे जयपत्र प्रदान किया। विक्रमपुर, फलोधी, आसिका, अजमेर, अणहिलपुर, जालोर आदि स्थानो मे इनके विहार, अनेक मुनियो की दीक्षा तथा मन्दिरो और मूर्तियो की स्थापना का विवरण पट्टावली मे प्राप्त होता है। सन् १२२१ मे इनका स्वर्गवास हुआ।

जिनेश्वर

ये जिनपति के बाद सूरिपद पर प्रतिष्ठित हुए। ठक्कुर अश्वराज द्वारा निकाले गये संघ के साथ इन्होंने सन् १२३३ में शत्रुंजय, गिरनार आदि की यात्रा की। इस अवसर पर खम्भात में महामन्त्री वस्तुपाल ने इनका सम्मान किया। सन् १२७० में पाल्हणपुर से श्रेष्ठी अभयचन्द्र के संघ के साथ चलकर जिनेश्वर ने पुन. शत्रुजय आदि की यात्रा की। जालोर, बीजापुर, जेसलमेर, बाडमेर आदि स्थानो से इनके विहार, शिष्यो को दीक्षा और मूर्ति-मन्दिरो की प्रतिष्ठा का विवरण पट्टावली मे प्राप्त होता है। सन् १२७४ मे इनका स्वर्गवास हुआ।

[उपर्युक्त दो आचार्यों का परिचय बृहत्खरतरगच्छ-गुर्वावलि से लिया गया है।]

अन्य आचार्य

इस शताब्दी के शिलालेखो से ज्ञात होनेवाले कुछ अन्य आचार्यों का विवरण इस प्रकार है।

देवचन्द्र

मैसूर प्रदेश के नागमंगल तालुके के अलेसन्द्र ग्राम से प्राप्त ११८३ के शिलालेख मे इनका वर्णन आता है। ये ऊपर वर्णित माघनन्दि आचार्य के प्रशिष्य देवकीर्ति के शिष्य थे। होयसल वश के राजा वीरबल्लाल के सेनापति भरत और बाहुबली ने कुछ जिनमन्दिरो के लिए इन्हे भूमि आदि दान दिया था।

[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ३, लेख ४११]

वज्रनन्दि

मैसूर प्रदेश के सोमपुर ग्राम से प्राप्त सन् ११९२ के लेख से इनका परिचय मिलता है। ये द्राविड संघ के वासुपूज्य आचार्य के शिष्य थे। होयसल वंश के राजा वीरबल्लाल ने शान्तिनाथ मन्दिर के लिए इन्हे दो ग्राम अर्पित किये थे।

[उपर्युक्त, भाग ४, लेख २८२]

सकलचन्द्र

मैसूर प्रदेश के सोरब तालुके के अदरि ग्राम से प्राप्त सन् ११९७ के लेख में इनका वर्णन मिलता है। ये आचार्य कुलभूषण के शिष्य थे। होयसल राजा वीरबल्लाल के सेनापति महादेव ने शान्तिनाथजिनमन्दिर बनवाया था तथा उसके लिए सकलचन्द्र को भूमि आदि दान दिया था।

[उपर्युक्त, भाग ३, लेख ४३१]

शुभचन्द्र

मैसूर प्रदेश के प्रमुख नगर बेलगांव से प्राप्त सन् १२०४ के दो विस्तृत शिला-लेखो में इनका वर्णन आता है। रट्ट वश के राजा कार्तवीर्य के मन्त्री बीचण ने बेलगांव में रट्टजिनालय नामक मन्दिर बनवाया था और उसके लिए इन्हे भूमि आदि दान दिया था।

[उपर्युक्त, भा. ४, लेख ३१८-१९]

धर्मचन्द्र

महाराष्ट्र के परभणी जिले मे स्थित तीर्थ उखलद के जिनमन्दिर में स्थित तीन भव्य मूर्तियो के पादपीठ लेखो में इनका नाम प्राप्त होता है। ये लेख सन् १२१५ के है। ऐसा ही एक लेख मध्यप्रदेश के दतिया जिले में स्थित तीर्थ सोनागिरि के मन्दिर नं ५७ की जिनमूर्ति के पादपीठ पर भी है।

[उपर्युक्त, भा ५, लेख १३५-३८]

सागरनन्दि

मैसूर प्रदेश के अरसीकेरे नगर के सन् १२१९ के लेख मे इनका नाम मिलता है। होयसल राजा वीरबल्लाल के सेनापति रेच ने सहस्रकूट जिनमन्दिर बनवाया था। उसके लिए सागरनन्दि को भूमि आदि दान प्राप्त हुए थे।

[उपर्युक्त, भा ३, लेख ४६५]

पुष्पसेन

मैसूर प्रदेश के शिमोगा जिले के तीर्थ हुम्मच मे सन् १२५६ का शिलालेख है। इसमे द्राविड सघ के आचार्य वादिराज के शिष्य पुष्पसेन के समाधिमरण का वर्णन है। लेख के अनुसार वे प्रसिद्ध वादी और साहित्यवेत्ता थे।

[उपर्युक्त, लेख ५०३]

□

द्वितीय खण्ड

प्रस्तावना

भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् उनके शासन का समस्त भार उनके प्रधान शिष्यो पर आ गया। उनके शिष्यों की परम्परा शिष्य-प्रशिष्य के रूप में अविच्छिन्न रूप से चलती रही। गौतम, सुधर्मा एवं जम्बू स्वामी ये पहले तीन केवली हुए फिर पाँच श्रुतकेवली हुए।[1] इनमें अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु थे जिन्हें दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायो ने स्वीकार किया है। आचार्य भद्रबाहु के पश्चात् आचार्य कुन्दकुन्द तक करीब २० आचार्य हुए जो अंगो एवं पूर्वों के ज्ञाता थे तथा जिन्होंने महावीर शासन की प्रभावना मे उत्तरोत्तर वृद्धि की। ऐसे आचार्यों में अन्तिम आचार्य धरसेन थे जो विक्रम की प्रथम शताब्दी में हुए और जिन्होंने अपने दो योग्यतम शिष्यों को जो कुछ उनके पास ज्ञान अवशिष्ट था उसे उन्हें पढ़ाया। ये दोनो शिष्य आचार्य भूतबलि एवं पुष्पदन्त के नाम से प्रख्यात हुए। जिन्होंने 'षट्खण्डागम' ग्रन्थ को लिपिबद्ध करने की प्रक्रिया का शुभारम्भ किया।

जैनाचार्यों की ज्ञान के प्रति अगाध श्रद्धा एवं अभिरुचि ने साहित्य निर्माण में ज़बरदस्त योग दिया और ईसा की प्रथम शताब्दी मे होनेवाले आचार्य कुन्दकुन्द से लेकर १२वी शताब्दी तक ऐसे सैकडों आचार्य हुए जिन्होने वीर शासन की ज़बरदस्त प्रभावना की और वे अपनी अद्भुत ज्ञान, शक्ति, चरित्र एवं तपःसाधना द्वारा उत्तर से दक्षिण एव पूर्व से पश्चिम तक महावीर शासन का देश में ज़बरदस्त प्रचार करते रहे। ऐसे आचार्यों मे उमास्वामी (तृतीय शताब्दी), समन्तभद्र (तृतीय-चतुर्थ शताब्दी), सिद्धसेन (पाँचवी शताब्दी), देवनन्दि, पात्रकेसरी, अकलंक (सातवी शताब्दी), वीरसेन (८वी शताब्दी), विद्यानन्दि एवं माणिक्यनन्दी (नवी शताब्दी), जिनसेन (नवी शताब्दी), गुणभद्र (१०वी शताब्दी), नेमिचन्द सिद्धान्तचक्रवर्ती, अमृतचन्द्र, देवसेन, पद्मनन्दि (११-१२वी शताब्दी)-जैसे प्रभावक आचार्य हुए। ये सभी आचार्य अपने समय के अत्यधिक ओजस्वी एवं तप.पूत आचार्य थे जिनके आचार्यत्व काल में महावीर शासन का प्रभाव दिन प्रतिदिन बढ़ता गया और देश में सर्वजीवसमभाव, सर्वजातिसमभाव एवं सर्वधर्मसमभाव-जैसे लोकप्रिय सिद्धान्तों के माध्यम से जनता के विचारो में सहिष्णुता आने लगी।

लेकिन देश की जब राजनीतिक एकता समाप्त होने लगी और देश को सम्राट्

---

१. तिलोयपण्णत्ति, गाथा संख्या १४७६-७८ एवं १४८२ से १४८४ तक।

हर्षवर्धन के पश्चात् जब कोई भी शासक एक सूत्र में बाँधने में असमर्थ रहा तब देश में एकता के स्थान पर अनेकता ने सिर उठाया और चारो ओर अशान्ति का वातावरण छाने लगा। ११वी शताब्दी के प्रारम्भ से ही भारत पर मुसलमानो के आक्रमण होने लगे और १३वी शताब्दी के आते-आते तो यहाँ मुसलमानो का हमेशा के लिए शासन स्थापित हो गया। देश मे आतंक का साम्राज्य छा गया क्योंकि मुसलमान शासक धर्मान्ध, क्रूर, निर्दयी और बर्बर होते थे। उनके महत्त्वपूर्ण कारनामे यही होते थे कि किस मुसलमान सिपाही ने कितने सशस्त्र एवं निहत्थो को तलवार के घाट उतारा और कितनो को जबरदस्ती मुसलमान बनाया, कितने मन्दिरो और मूर्तियो को तोडा और लूटा।

ऐसे भयपूर्ण शासन मे अहिंसको का जीना बडा दूभर हो गया। नग्न साधुओं का विहार होना और भी कठिन हो गया। मन्दिरो को लूटने, मूर्तियो को तोडने एवं स्त्री-पुरुषो तथा बच्चों को मौत के घाट उतारना एक साधारण-सी घटना हो गयी। स्वतन्त्रता पूर्वक धर्माचरण नही हो सकता था तथा सभी के हृदयो मे भय एवं आतंक का वातावरण बना हुआ था। न तो नग्न साधुओ का स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण हो सकता था और न मन्दिरो एव शास्त्र भण्डारो की सुरक्षा की गारण्टी थी। इन सब कारणो से पूर्णत नग्नत्व मे ढिलाई रखने पर विचार किया जाने लगा।

अलाउद्दीन खिलजी के समय (१२९६-१३१६) में दिल्ली का नगरसेठ पूर्णचन्द्र नामक अग्रवाल जैन था। बादशाह की उसपर विशेष कृपा थी और शासन मे उसका विशेष हाथ था। राज्य की अर्थ व्यवस्था का वह एकमात्र अधिकारी था। जब बादशाह को माधवसेन की विद्वत्ता, तपस्या एवं चमत्कार की कितनी ही कहानी राजदरबारियो से सुनने को मिली तो बादशाह ने भी उनसे भेंट करने की इच्छा प्रकट की। बादशाह के पण्डितो मे राघो, चेतन ये दो प्रसिद्ध पण्डित थे। ये संस्कृत के महान् ज्ञाता एवं तार्किक विद्वान् थे। बादशाह के हृदय मे जैन एव ब्राह्मण विद्वानो के शास्त्रार्थ देखने की इच्छा हुई। इसलिए उसने अपने कोषाधिकारी सेठ पूर्णचन्द्र से दिगम्बराचार्य माधवसेन को देहली बुलाने का आग्रह किया। माधवसेन नग्न साधु थे इसलिए पद-विहार करते हुए ही वे देहली आये। वहाँ उनका कितने ही स्थानो पर प्रवचन हुआ।

माधवसेन ने शास्त्रार्थ मे बादशाह के दो पण्डितो राघो, चेतन को हराया और इस प्रकार ऐसे कट्टर मुसलिम बादशाह के शासन काल में भी माधवसेन ने जैनधर्म की प्रभावना स्थापित की।[1] इसी बादशाह के शासन काल में नन्दिसंघ के आचार्य प्रभाचन्द्र ने दिल्ली मे अपना संघ, स्थापित किया और इस प्रकार सारे उत्तर भारत में भट्टारक परम्परा को नवरूप प्रदान किया गया।

भट्टारक प्रभाचन्द्र के पश्चात् भट्टारक परम्परा ने सारे देश मे शनै-शनै. लोकप्रियता प्राप्त की और एक के पश्चात् दूसरे प्रान्तो मे भट्टारक गादियाँ स्थापित होने लगी। राजस्थान में चित्तौड, चाकसू, आमेर, साँगानेर, जयपुर, श्रीमहावीरजी, अजमेर

१ भारतीय इतिहास—एक दृष्टि, पृष्ठ-४०३, ४०८-४०६

एवं नागौर, मध्य प्रदेश में ग्वालियर एवं सोनागिरि, बागड प्रदेश में डूंगरपुर, सागवाडा, बासवाड़ा, गुजरात में नवसारी, सूरत, खम्भात, घोघा, सौराष्ट्र में गिरनार, महाराष्ट्र में कारंजा, नागपुर, दक्षिण में श्रवणबेलगोल, आदि स्थानों में भट्टारको की गादियाँ ही स्थापित नहीं थी किन्तु इन प्रान्तो में भट्टारकों का पूर्ण प्रभाव भी व्याप्त रहा। इन भट्टारकों ने अपने अलग-अलग गण, संघ एवं गच्छ स्थापित कर लिये। अपने प्रभाव से क्षेत्र बाँट लिये और अपनी-अपनी सीमाओं में धर्म के एकमात्र स्तम्भ बन गये। १६वी शताब्दी में देहली गादी के भट्टारकों ने अपने ही अधीन मण्डलाचार्य के पद भी बनाये और ये मण्डलाचार्य ही भट्टारक के नाम पर प्रतिष्ठा, पूजा एवं समारोह आयोजित करने लगे।

संवत् १३५१ से १८०० तक भट्टारक ही आचार्य, उपाध्याय एवं सर्वसाधु के रूप में जनता द्वारा पूजित थे। ये भट्टारक प्रारम्भ मे नग्न होते थे इसलिए भट्टारक सकलकीर्ति को निर्ग्रन्थराज कहा गया है। आँवा (राजस्थान) में भट्टारक शुभचन्द्र, जिनचन्द्र एवं प्रभाचन्द्र की जो निषेधिकाएँ है वे तीनो ही नग्नावस्था की हैं। ये भट्टारक अपना आचरण श्रमण परम्परा के पूर्णतः अनुकूल रखते थे। ये अपने संघ के प्रमुख होते थे और सघ की देख-रेख का सारा भार इन पर ही रहता था। इनके संघ में मुनि, उपाध्याय, ब्रह्मचारी एवं आर्यिकाएँ होती थी। प्रतिष्ठा-महोत्सवो एवं विविध व्रत-उपवासो की समाप्ति पर होनेवाले आयोजनो के संचालन मे इनका प्रमुख हाथ होता था। राजस्थान के शास्त्र भण्डारो मे ऐसी हज़ारो पाण्डुलिपियाँ संगृहीत है जो इन भट्टारको की विशेष प्रेरणा से विभिन्न श्रावक-श्राविकाओं ने व्रतोद्यापन के अवसर पर लिखवाकर इन शास्त्र भण्डारों मे विराजमान की थी। इस दृष्टि से इन भट्टारको का सर्वाधिक योग रहा। संवत् १३५१ से संवत् १९०० तक जितने भी देश में पंच कल्याणक प्रतिष्ठाएँ सम्पन्न हुई वे प्राय सभी इन्ही भट्टारकों के तत्त्वावधान मे आयोजित हुई थी। सवंत् १५४८, १६६४, १७८३, १८२६ एव १८५२ में देश में जो विशाल प्रतिष्ठाएँ हुई थी वे इतिहास में अद्वितीय थी और उनमे हज़ारों मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित हुई थी। उत्तर भारत के प्राय. सभी मन्दिरो में आज इन संवतो मे प्रतिष्ठापित मूर्तियाँ अवश्य मिलती है।

इन भट्टारको को जैन सन्तो के रूप मे स्मरण किया जा सकता है। क्योकि सन्तों का स्वरूप हमे इन भट्टारको मे देखने को मिलता है। इनका जीवन ही राष्ट्र को आध्यात्मिक खुराक देने के लिए समर्पित हो चुका था तथा वे देश को साहित्यिक, सांस्कृतिक एव बौद्धिक दृष्टि से सम्पन्न बनाते थे। वे स्थान-स्थान पर विहार करके जन-मानस को पावन बनाते थे।

ये भट्टारक पूर्णत. संयमी होते थे। भट्टारक विजयकीर्ति के संयम को डिगाने के लिए कामदेव ने भारी प्रयत्न किये थे लेकिन अन्त में उसे हार माननी पडी। विजयकीर्ति अपनी संयम की परीक्षा में सफल हुए। इनका आहार एवं विहार पूर्णत. श्रमण परम्परा के अन्तर्गत होता था। मुगल बादशाहों तक ने उनके चरित्र एवं विद्वत्ता की

प्रशंसा की थी। मध्यकाल में तो वे जैनों के आध्यात्मिक राजा कहलाने लगे थे किन्तु यही उनके पतन का प्रारम्भिक कदम था।[1]

संवत् १३५१ से संवत् २००० तक इन भट्टारको का कभी उत्थान हुआ तो कभी वे पतन की ओर अग्रसर हुए लेकिन फिर भी ये समाज के आवश्यक अंग माने जाते रहे। यद्यपि दिगम्बर जैन समाज मे तेरापन्थ के उदय से इन भट्टारकों पर विद्वानों द्वारा कडे प्रहार किये गये तथा कुछ विद्वान् इनकी लोकप्रियता को समाप्त करने में बडे भारी साधक भी बने लेकिन फिर भी समाज में इनकी आवश्यकता बनी रही और व्रत-विधान एव प्रतिष्ठा समारोहो में तो इन भट्टारकों की उपस्थिति आवश्यक मानी जाती रही। ६५० वर्षों मे से ६०० वर्ष तक तो ये भट्टारक जैन समाज के अनेक विरोधों के बावजूद भी श्रद्धा के पात्र बने रहे और समाज इनकी सेवाओं को आवश्यक समझती रही। शुभचन्द्र, जिनचन्द्र, सकलकीर्ति, ज्ञानभूषण-जैसे भट्टारक किसी भी दृष्टि से आचार्यों से कम नही थे क्योकि उनका ज्ञान, त्याग, तपस्या और साधना सभी तो उनके समान थी और वे अपने समय के एकमात्र निर्विवाद दिगम्बर समाज के आचार्य थे। उन्होने मुगलो के समय मे जैन धर्म की रक्षा ही नही की किन्तु साहित्य एवं संस्कृति की रक्षा में भी अत्यधिक तत्पर रहे। भट्टारक शुभचन्द्र को यतियो का राजा कहा जाता था तथा भट्टारक सोमकीर्ति अपने आपको आचार्य लिखना अधिक पसन्द करते थे। भट्टारक वीरचन्द्र महाव्रतियो के नायक थे। उन्होने १६ वर्ष तक नीरस आहार का सेवन किया था।

ये भट्टारक पूर्णत. प्रभुत्वसम्पन्न थे। वैसे ये आचार्यों के भी आचार्य थे क्योकि इनके संघ मे आचार्य, मुनि, ब्रह्मचारी एवं आर्यिकाएँ रहती थी। भट्टारक रतनचन्द्र के शिष्यो मे ६ आचार्य एवं ३३ उपाध्याय थे। ४० ब्रह्मचारी एव १० ब्रह्मचारिणियाँ थी। इसी तरह मण्डलाचार्य गुणचन्द्र के शिष्यो मे ९ आचार्य एवं १ मुनि तथा २७ ब्रह्मचारी एव १२ ब्रह्मचारिणियाँ थी[2]। मुनि एव आचार्य नग्न रहा करते थे। केवल भट्टारको में कुछ-कुछ अपवाद आ गया था। वैसे भट्टारक सकलकीर्ति को निर्ग्रन्थराज कहा जाता था।

साहित्य की जितनी सेवा इन भट्टारको ने की थी वह तो अपनी दृष्टि से इतिहास का अद्वितीय उदाहरण है। भट्टारक सकलकीर्ति एव उनकी परम्परा के अधिकाश विद्वान् साहित्यसेवी थे। भट्टारक रत्नकीर्ति, कुमुदचन्द्र, सोमकीर्ति, जयसागर, भट्टारक महीचन्द्र आदि पचासो भट्टारकों ने साहित्य निर्माण मे अत्यधिक रुचि ली थी। साहित्य निर्माण के अतिरिक्त इन्होने प्राचीन साहित्य की सुरक्षा मे भी सबसे अधिक योग दिया। शास्त्र भण्डारो की स्थापना, नवीन पाण्डुलिपियो का लेखन एव उनका संग्रह आदि सभी इनके अद्वितीय कार्य थे। आज भी जितना अधिक पाण्डुलिपियो का संग्रह भट्टारको के केन्द्रो पर मिलता है उतना अन्यत्र नही। अजमेर, नागौर, आमेर-जैसे नगरो के शास्त्र भण्डार इसके प्रत्यक्ष उदाहरण है। ये भट्टारक ज्ञान की ज्वलन्त मूर्ति

---

१. राजस्थान के जैन सन्त—व्यक्तित्व एव कृतित्व—डॉ कस्तूरचन्द कासलीवाल।
२. गुटका—प चन्दनलाल जी जैन, पत्र सख्या ७३-७८।

होते थे। इन्होंने प्राकृत एवं अपभ्रंश के स्थान पर संस्कृत एवं हिन्दी में ग्रन्थ रचनाओं को अधिक प्रोत्साहन दिया और स्वयं भी प्रमुखतः इन्हीं भाषाओं में ग्रन्थों का निर्माण किया। इसके अतिरिक्त वे साहित्य की किसी भी एक विधा से नही चिपके रहे किन्तु साहित्य के सभी अंगों को पल्लवित किया। उन्होने चरित काव्यों के साथ-साथ पुराण, काव्य, बेलि, रास, पंचासिका, शतक, पचीसी, बावनी, विवाहलो, आख्यान, पद एवं गीतों की रचना में गहरी रुचि ली और संस्कृत एवं हिन्दी में सैकड़ों महत्त्वपूर्ण रचनाओं में उसके प्रचार-प्रसार में पूर्ण योग दिया। इन्ही के शिष्य ब्रह्म जिनदास अपने गुरु से भी बाजी मार ले गये और संस्कृत में १२ तथा हिन्दी-राजस्थानी में ५३ रचनाएँ लिख-कर एक नया कीर्तिमान स्थापित किया। वास्तव में ब्रह्म जिनदास-जैसा हिन्दी साहित्य में दूसरा कोई कवि नहीं मिलेगा जिन्होंने अकेले ३५ रासक ग्रन्थ लिखे हों। ब्रह्म जिनदास का 'राम सीता रास' तुलसीदास के 'रामचरितमानस' से भी कहीं बड़ा है।

साहित्य निर्माण के अतिरिक्त श्रमण संस्कृति के इन उपासको द्वारा राजस्थान, मध्यप्रदेश, देहली, बागड प्रदेश एवं गुजरात में मन्दिरों के निर्माण में, प्रतिष्ठा समारोहों के आयोजनो में, मूर्तियो की प्रतिष्ठा में जितना योग दिया गया वह भी आज हमारे लिए इतिहास की वस्तु है। आज सारा बागड प्रदेश, मालवा प्रदेश, कोटा, बूँदी एवं झाला-वाड का प्रदेश, चम्पावती, टोडारायसिंह एवं रणथम्भौर का क्षेत्र जितना जैन पुरातत्त्व में समृद्ध है उतना देश का अन्य क्षेत्र नही है। मुगल शासन में एवं उसके बाद भी इन भट्टारको ने इस प्रकार के कार्य सम्पन्नता में जितना रस लिया वह भारतीय पुरातत्त्व के इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटना है। संवत् १५४८ में भट्टारक जिनचन्द्र ने मुडाँसा नगर में एक हजार से भी अधिक मूर्तियों की प्रतिष्ठा का कार्य सम्पन्न किया था। यह विशाल आयोजन जीवराज पापडीवाल द्वारा कराया गया था। इसी तरह संवत् १८२६ में सवाई माधोपुर में भट्टारक सुखेन्द्रकीर्ति के तत्त्वावधान में जो विशाल प्रतिष्ठा समारोह हुआ था उसमें भी हजारो मूर्तियों को प्रतिष्ठित बनाया गया था। राजस्थान में आज कोई ऐसा मन्दिर नही होगा जिसमें संवत् १८२६ में प्रतिष्ठापित मूर्ति नही मिलती हो। ये भट्टारक बाद में अपने कीर्तिस्तम्भ बनवाने लगे थे जिनमें भट्टारक परम्परा का विस्तृत उल्लेख मिलता है। ऐसा ही कीर्तिस्तम्भ पहले चाकसू में था जो आजकल राजस्थान पुरातत्त्व विभाग के अधीन है और यह आमेर के बाग मे स्थापित किया हुआ है। आमेर (जयपुर) में एक नशियाँ कीर्तिस्तम्भ की नशियाँ के नाम से ही प्रसिद्ध है। इस कीर्ति-स्तम्भ को सवत् १८८३ में भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति ने स्थापित किया था। इसी तरह चाँदखेड़ी, एवं मौजमाबाद में विशाल प्रतिष्ठाओं का आयोजन हुआ था। संवत् १६६४ में प्रतिष्ठापित २०० से अधिक मूर्तियाँ तो स्वयं मौजमाबाद में विराजमान हैं। विशाल एवं कलापूर्ण मूर्तियो के निर्माण में भी इनकी गहरी रुचि होती थी। जयपुर में पार्श्व-नाथ की प्रतिमा सागवाडा, चाँदखेडी, झालरापाटन में जैसी विशालकाय एवं मनोज्ञ मूर्तियाँ मूर्तिकला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

विहार

संवत् १३५१ से संवत् २००० तक होनेवाले सभी भट्टारक, आचार्य, उपाध्याय, ब्रह्मचारी एवं आर्यिकाएँ चातुर्मास के अतिरिक्त वर्ष के शेष भाग में विहार करते रहे हैं। इनका यह विहार ही जन जाग्रति का सूचक होता था। चातुर्मास में वे एक ही स्थान पर धर्मोपदेश दिया करते थे। शास्त्र प्रवचन, ग्रन्थ निर्माण एवं अध्ययन-अध्यापन का कार्य किया करते थे। भट्टारक क्षेमकीर्ति का संवत् १७३१ से संवत् १७५७ तक का विहार का विस्तृत वर्णन प्राप्त हुआ है जिसके पढने से ज्ञात होता है कि उन्होंने कहाँ-कहाँ विहार किया था और किस ग्राम एवं नगर को अपने चरणरज से पावन किया था।[१]

भट्टारक सकलकीर्ति का इसी प्रकार के विहार का वर्णन मिलता है। जिसमें लिखा है कि भट्टारक सकलकीर्ति "एहवा धर्म्म करणी करावता बागडरायने देस दक्षलगढ नवसहस्रमध्य संघली देसी प्रदेसी व्यवहार कर्म करता धर्मोपदेस देता नवां ग्रन्थ सुध करता वर्ष २२ व्याहार कर्म करिने धर्म संघली प्रवर्त्या।" भट्टारक रत्नकीर्ति (संवत् १६००-१६५६) के विहार करते समय महिलाएँ उनके स्वागत मे विविध मंगल गीत गाती थी, चौक पूरती थी और विविध बाजे बजाती थी—

> कमल बदन करुणालय कहीये
> कनक वरण सोहे कांत मोरी सहीय रे।
> कजल दल लोचन पापना मोचन
> कलाकार प्रगटो विख्यात मोरी सहीय रे॥

जयपुर के भट्टारको को राज्य की ओर से वही सम्मान प्राप्त था जो किसी एक स्वतन्त्र शासक को प्राप्त थे। उनके पदार्पण के समय राज्य सरकार की ओर से भेंट दी जाती थी। पालकी में बैठकर चंवर करते हुए उन्हे ले जाया जाता था और साथ मे ध्वज दण्ड, ध्वजा आदि सभी चलते थे। यह सब उनके आध्यात्मिक तेज पर आधारित था। जब वे किसी के आहार के लिए जाते तो उनको श्रावक गण भेंट करते तथा बडे उत्साह एवं उमंग के साथ उनका आहार होता। आहार करने की क्रिया को भँवर कहा जाता था।

इस प्रकार ६५० वर्ष का यह काल भारतीय इतिहास में सांस्कृतिक एवं साहित्यिक जागरण की दृष्टि से महत्वपूर्ण रहा। इसका विस्तृत परिचय पुस्तक के आगे के पृष्ठो मे दिया जायेगा किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन साधुओं ने मुस्लिम शासन काल में भी श्रमण सस्कृति को जीवित रखा और देश मे अहिंसा एवं शाकाहार का अधिक से अधिक प्रचार किया।

●

१ भट्टारक पट्टावली, पृष्ठ संख्या २३-५७।
(महावीर भवन, जयपुर में संग्रहीत)

भट्टारक प्रभाचन्द्र

[संवत् १३१४ से १४०८ तक]

भट्टारक प्रभाचन्द्र उन भट्टारकों में से हैं जिन्होंने भगवान् महावीर के शासन की महती प्रभावना की थी तथा सारे देश में जैन साधु के पद की गरिमा को बढ़ाया था। यद्यपि वे मुसलिम शासन के उस प्रारम्भिक काल में हुए थे जब कि देहली के शासक तलवार के जोर से धर्म परिवर्तन में विश्वास करते थे तथा भारतीयों को मौत के घाट उतारना उनके लिए अत्यधिक सरल था लेकिन भगवान् महावीर के अनुयायियों के जीवन में अहिंसा एवं सर्वधर्मसमभाव-जैसे सिद्धान्तों के आत्मसात् होने के कारण उन्होने अपने विरोधियों का भी अहिंसा से स्वागत किया और अपने जीवन से धार्मिक सहिष्णुता को कभी दूर नही होने दिया। प्रभाचन्द्र तुगलक वंश के शासन काल में हुए थे। उन्होंने देहली पर गयासुद्दीन तुगलक (१३२१–२५ ई) मुहम्मदबिन तुगलक (१३२५–५१) एवं फिरोजशाह तुगलक का (१३५१–८८ ई.), प्रारम्भिक शासन देखा था। वे मुनिराज थे। तिलतुष मात्र भी परिग्रह उनके पास नही था। वे जैन संघ के आचार्य थे तथा भट्टारक पद को सुशोभित करते थे। अजमेर उनकी गादी का प्रमुख केन्द्र था।[1] राजस्थान, देहली, उत्तर प्रदेश उनका कार्यक्षेत्र था। बागड प्रदेश में उनके प्रधान शिष्य पद्मनन्दि का प्रभाव स्थापित था। प्रतिष्ठाएँ सम्पन्न कराना, स्थान-स्थान पर विहार करके अहिंसा एवं धार्मिक सहिष्णुता का प्रचार करना प्रमुख कार्य था। जैन धर्म एवं समाज पर विपत्ति आने पर उसे दूर करने में उनका पूर्ण सहयोग मिलता था। लेकिन उसमे साधु के पद की मर्यादा का प्रश्न सदैव उनके सामने रहता था।

प्रभाचन्द्र भट्टारक धर्मचन्द्र के प्रशिष्य एवं भट्टारक रत्नकीर्ति के शिष्य थे। धर्मचन्द्र एवं रत्नकीर्ति दोनो ही अपने समय के बड़े प्रभावशाली भट्टारक थे। भट्टारक धर्मचन्द्र द्वारा प्रतिष्ठापित कितनी ही मूर्तियाँ राजस्थान के मन्दिरो में विराजमान हैं। इनमें संवत् १२७२ (१२१५ ई.) में रणथम्भौर के प्रसिद्ध गढ़ में प्रतिष्ठापित मूर्ति भरतपुर, जयपुर आदि नगरों में मिलती हैं।[2]

राजस्थान के इस प्रसिद्ध दुर्ग पर उन दिनों महाराजा हम्मीर का शासन था। ऐसे प्रभावक भट्टारक एवं आचार्य धर्मचन्द्र के प्रभाचन्द्र सुयोग्य प्रशिष्य थे। जिनकी

१ Jainism in Rajasthan by Dr. K C Jain page, 74

२ सवत १२७२ वर्ष माघ सुदी ५ श्री मूलसंघे सरस्वती गच्छे भट्टारक श्री धर्मचन्द्रजी साह पत्तवीसल चंदवड सजबखात शहर रणथंभपुर राज हमीरदे।

यशोगाथा ने इन दिनों सारे जैन समाज को प्रभावित कर लिया था। प्रभाचन्द्र साधु तो थे ही किन्तु अपनी तप:साधना से कितने ही चमत्कारिक कार्य भी सम्पन्न किये थे। वे अपने चमत्कारिक कार्यों से भी सारे देश में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे।

देहली मे फिरोजशाह तुगलक का शासन था। चाँदागूजर पापड़ीवाल उनके प्रमुख मन्त्री थे। सम्भवत. देश का सारा भार उन्हीं पर था। एक बार चाँदागूजर ने देहली में प्रतिष्ठा समारोह करने का निश्चय किया और अजमेर जाकर भट्टारक प्रभाचन्द्र से प्रतिष्ठाकार्य को सम्पन्न कराने की प्रार्थना की। भट्टारक प्रभाचन्द्र ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। प्रतिष्ठा का मुहूर्त निकाल दिया गया लेकिन फिर चलने की कोई तिथि निश्चित नही की। एक-एक दिन बीतने लगा और उन्होने प्रभाचन्द्र से निवेदन किया कि यदि वे नही जा सकें तो उन्हे तो जाने की आज्ञा प्रदान करें। प्रभाचन्द्र सारी स्थिति को समझ गये और उनसे कहा कि प्रात.काल देखना वे कहाँ होते है। रात्रि को सब प्रतिदिन की भाँति सो गये लेकिन जब वे प्रभात में उठे तो उन्हे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वे देहली के द्वार पर खडे हैं।[1]

देहली-प्रवेश पर उनका शानदार स्वागत किया गया। स्वयं बादशाह तुगलक उन्हे लिवाने आये। बादशाह को अगवानी को आया हुआ देख सारा देहली शहर ही उनके स्वागत मे उमड पडा। श्राविकाओ ने मंगल-गीतो के साथ उनका हार्दिक अभिनन्दन दिया। चारो ओर कलश स्थापित किये गये। ऐसे अभूतपूर्व स्वागत को देखकर बादशाह के दो पण्डित राघो-चेतन का हृदय ईर्ष्या से भर गया। वे पण्डित तो थे ही मन्त्रसिद्धि भी उनके पास थी। इसलिए जब प्रभाचन्द्र पालकी में विराजमान हुए तो राघो-चेतन ने अपनी मन्त्रशक्ति से उस पालकी को ही कील दिया। प्रभाचन्द्र को सारी स्थिति समझने मे देर नही लगी और उन्होने भी अपनी साधना के बल पर पालकी ही आकाश मे उठा ली और वह बिना कहारो के ही चलने लगी। इस चमत्कार से चारो ओर प्रभाचन्द्र की जय-जयकार होने लगी। लोग खुशी से नाच उठे और भगवान् महावीर के शासन का प्रभाव सबके हृदयो पर छा गया।

लेकिन अभी राघो-चेतन ने हार नही मानी थी। उसने प्रभाचन्द्र से शास्त्रार्थ करने की इच्छा प्रकट की। भट्टारक प्रभाचन्द्र तो पीछे हटनेवाले नही थे क्योकि उनका शास्त्रो का ज्ञान अगाध था। सस्कृत एव प्राकृत भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था। न्याय शास्त्र के वे पारगामी विद्वान् थे। आखिर दोनो विद्वानो मे शास्त्रार्थ छिडा। प्रश्नो की बौछार होने लगी। शंकाएँ उठने लगी। राघो-चेतन जब प्रश्न करते तो उपस्थित जनसमूह आशंका की दृष्टि से देखने लगता कि देखें अब इसका आचार्यश्री क्या जवाब देते है। लेकिन भट्टारक प्रभाचन्द्र उसका सहज भाव से उत्तर देते और उत्तर भी ऐसा होता जिसको सुनकर सारी सभा वाह-वाह कह उठती। इस प्रकार के

१ बुद्धिविलास--बखतराम साह, पृ सं ७४-७५।

एक प्रश्न के पश्चात् दूसरे प्रश्न का उत्तर देने लगे और अन्त में शास्त्रार्थ में भी दोनों ही राघो-चेतन को पराजित होना पड़ा ।[1]

एक दिन राघो-चेतन ने भट्टारक प्रभाचन्द्र से पुछवाया कि आज कौन-सी तिथि है। उस दिन वास्तव में अमावस्या थी लेकिन प्रभाचन्द्र के मुख से पूर्णिमा का नाम निकल गया। फिर क्या था। दोनों पण्डितों ने इस मामूली-सी बात का बतंगड़ बना दिया और इस बात को बादशाह तक पहुँचा दी। बादशाह ने भी इस तथ्य की प्रभाचन्द्र से जानकारी चाही कि वास्तव में जो कुछ उन्होने सुना क्या वह सही है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने उन्होने जो कुछ कहा था उसे सही बताया। यह बात बिजली की तरह सारे शहर में फैल गयी। अब क्या था। अमावस्या की पूर्णिमा होना असम्भव था इसलिए देहली के नागरिकों का हृदय बैठने लगा। मुख उदास हो गये और वे भविष्य के भय से आशंकित हो उठे। श्रावकगण के मुखों पर एक अजीब भय छा गया। प्रभाचन्द्र के नर-नारी दर्शन करते और उन्हे निर्भय पाकर आश्चर्य चकित हो उठते। दिन ढलने लगा और रात्रि का ज़ोरो से इन्तज़ार होने लगा। सबकी आँखें आकाश की ओर थी क्योंकि उन्होने कल ही तो अमावस्या की पूर्व रात्रि देखी थी भला क्या वह सब झूठ था और सच था तो फिर महान् जैन सन्त प्रभाचन्द्र का कल क्या होगा। इसको सोच-सोचकर तरह-तरह की आशंकाएँ करने लगे।

प्रभाचन्द्र ने अपनी दैनिक क्रियाएँ यथावत् की। दोपहर में सामायिक क्रिया सम्पन्न की। अपराह्न में सहस्रो नर-नारियो को प्रवचन भी दिया। लेकिन भय अथवा आशका का जरा भी नाम नही। प्रवचन के पश्चात् वे ध्यानस्थ हो गये और पद्मावती देवी का भक्तिपूर्वक एवं अपने सम्पूर्ण मनोयोग से स्तवन करने लगे और उससे सन्ध्या समय आकाश में पूर्ण चन्द्रमा दिखलाने की प्रार्थना करने लगे। देवी पद्मावती को अपने भक्त प्रभाचन्द्र की प्रार्थना स्वीकार करनी पडी। यद्यपि यह सब उनके पद के विरुद्ध था लेकिन जैन शासन की प्रभावना का भी प्रश्न उनके सामने था। एक ओर रात्रि हो रही थी तो दूसरी ओर आकाश में चन्द्रमा उग रहा था। देहली के नागरिक आश्चर्यचकित थे। सभी लोग दाँतो तले अँगुली दबा रहे थे। लोग हैरान थे आकाश मे चन्द्रमा देखकर। ऐसा लग रहा था मानो उन्होने चन्द्रमा को पहली बार देखा हो। लेकिन प्रभाचन्द्र के भक्तो एवं प्रशंसको की खुशी का पारावार नही था। वे नाच रहे थे। कूद-कूदकर अपनी प्रसन्नता प्रकट कर रहे थे। भगवान् महावीर की जय, आचार्य प्रभाचन्द्र की जय के नारे लग रहे थे। स्वयं बादशाह भी हैरान थे। उनकी समझ मे नही आ रहा था कि वास्तव मे उस दिन पूर्णिमा थी अथवा अमावस्या क्योंकि कल तो काली चतुदर्शी थी। यह उन्होने स्वयं देखा था तो फिर आज पूर्णिमा कैसे

---

१. इन आदि वाद कीन्हें अनेक, मुनि जीति सर्ब राखी सु टेक। ६०३ ॥ (बुद्धिविलास) बखतराम कमण्डल सु बाद कीयै प्रचड, राघव बचन कीय खंड खंड भट्टारक पट्टावलि–महावीर भवन, जयपुर।

सम्भव हो सकती थी। बादशाह के सामने राघो-चेतन स्वयं उपस्थित हुए। उनकी दशा देखने लायक़ थी। चेहरा उतरा हुआ था। मुख से शब्द नही निकल रहे थे। वे हाथ जोड़े बादशाह के सामने खड़े थे। बड़ी कठिनता से उन्होंने बादशाह से अर्ज किया कि जहाँपनाह, यह तो अवश्य आचार्यश्री का करिश्मा है। मन्त्र-साधना है अथवा हमारी आँखे ही अपने आपको धोखा दे रही हैं। बादशाह सलामत, आप स्वयं पचाग देख लीजिए। सारी जनता से पूछ लीजिए कि आज कौन-सी तिथि है। इसलिए हमारा तो हजूर से इतना ही निवेदन है कि नगर के १२ कोश तक घोड़े दौड़ाये जायें और यदि वहाँ भी चन्द्रमा दिखता है तो मैं अपनी हार मान जाऊँगा नही तो यह सब करिश्मा है, एक धोखा है। और धोखा भी मुझे नही स्वयं बादशाह सलामत को है।

बादशाह ने तत्काल प राघो-चेतन का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। चारो ओर घुड़सवार दौड़ा दिये गये। उनको सख्त आदेश दिये गये कि वे १२ कोश तक जाकर देखें कि आज उन्हे चन्द्रमा दिखता है अथवा नही। घोड़े दौड़े, राघो-चेतन के शिष्य भी भागे लेकिन सभी के हाथ असफलता लगी तथा उन्होंने बादशाह से आकर यही निवेदन किया कि जैसा उन्होंने देहली मे देखा है वैसा ही अन्यत्र देखा है। वास्तव में सभी स्थानो पर चन्द्रमा अपनी पूर्णावस्था मे दिखाई दे रहा था। यह राघो-चेतन की तीसरी हार थी।[1]

राघो-चेतन ने अभी तक अपनी हार नही मानी। उसने एक दावँ और फेका तथा अपनी मन्त्र शक्ति से भट्टारक प्रभाचन्द्र के कमण्डलु के जल को मदिरा मे परिवर्तित कर दिया तथा बादशाह से निवेदन किया कि आचार्यश्री के कमण्डलु मे जल के स्थान पर मदिरा भरी हुई है। इससे स्पष्ट है कि ये जैन साधु जनता को धोखा देते हैं और स्वयं मदिरा पान करते है। यह प्रभाचन्द्र के चमत्कार की अन्तिम परीक्षा थी। फिरोजशाह ने राघव-चेतन की बात मानकर पुन. प्रभाचन्द्र से इसका समाधान चाहा। आचार्य प्रभाचन्द्र ने राघव-चेतन की चाल को शीघ्र समझ लिया और उनकी साधना के बल पर कमण्डलु में जल के स्थान पर पुष्प होने मे देर नही लगी। तत्काल प्रभाचन्द्र ने अपने कमण्डलु को उलटा कर दिया और उसमें से पुष्प निकलते ही फिरोजशाह की

---

१ मावस दिन मुनि तिह ठान देखि, सिष्यनु तैं बूझी तिथि बिसेखि।
मिष्यनु मिलि पूरन्नया कहोस, यह अरज दिलीपति पै दईस ॥६०४॥
है आजु अमावस अहो साहि, बुनु पून्यौ झूठी कही काहि।
पतिसाहि खिनाई बूझि तित्थ, मुनि भाषो पून्यो आजि सत्ति ॥६०५॥
देवी पदमावति कौ अराधि, बिनती काई सध्या समै साधि।
दान्हों उगाय तत्र मॉझि चंद, नगर्यौ पुर में जस अति अमन्द ॥६०६॥
बा बिनु मिलि भाषी अहो साहि, द्वादस कोसनि परकास पाहि।
तब मॉंड दौडाये अनेक, मुनि मुनि दिय बाँधि सुजाल एक ॥६०७॥
वे दौडे कोस बहोत राति, बारह होमें ऊग्यो मयाति।
या विधि लखि साहि मुनिंद पासि, आये नमि कीन्हो अरज दासि ॥६०८॥

प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा ।[1]

इस प्रकार सभी परीक्षाओं में प्रभाचन्द्र की विजय हुई । बादशाह फिरोजशाह तुगलक ने भी अपनी अत्यधिक प्रसन्नता जाहिर की और आचार्यश्री की जय-जयकार की । सारे नगर में प्रसन्नता की लहर दौड गयी । लोग आचार्य श्री के दर्शनों को उमड पड़े । अपार जनसमूह था और कहते हैं देहलीवासियो ने ऐसा भाव-भीना दृश्य पहले कभी नही देखा था । प्रभाचन्द्र के चमत्कार की कहानी बादशाह के महलो तक में पहुँच गयी । इसलिए बेगमें भी उनके दर्शनो को आतुर हो उठी । प्रभाचन्द्र तो नग्न थे इसलिए महलों में जा भी कैसे सकते थे । लेकिन उनकी प्रशंसा की कहानी इतनी अधिक बढ गयी थी कि बेगमो से मुनिश्री के दर्शनो बिना नही रह गया और अन्त में उन्हे बादशाह से यह कहना पडा कि वे जबतक मुनिश्री के दर्शन नही करेंगी आहार-पानी का त्याग रखेंगी । बादशाह ने अपने प्रधान चाँद गूजर को बुलवाया और कहा कि आचार्यश्री का बेगमें भी दर्शन करना चाहती हैं इसलिए इसका शीघ्र प्रबन्ध किया जाये । मुसलिम बादशाहो के महलो मे किसी जैन मुनि के प्रवेश की यह प्रथम घटना थी । इसलिए श्रावको ने मिलकर मुनिश्री प्रभाचन्द्र से निवेदन किया कि यदि वे लँगोट लगाकर महलो मे जा सकें तो धर्म की रक्षा हो सकेगी अन्यथा समस्त समाज को बादशाह के क्रोध का सामना करना पडेगा । प्रभाचन्द्र ने सर्वप्रथम लँगोट लगाने के लिए पूर्णतः अस्वीकार कर दिया और अपनी पूर्व परम्परा का उल्लेख किया । आचार्यश्री का उत्तर सुनकर सभी के चेहरे उदास हो गये और भावी आशंका की कल्पना करने लगे । समाज ने उनसे फिर प्रार्थना की । नगर-निवासियो ने भी आचार्यश्री से महलो मे जाकर बादशाह की बेगमो को अहिंसा एवं त्याग का उपदेश देने की प्रार्थना की । आखिर प्रभाचन्द्र को देशकाल-भाव को देखते हुए समाज की प्रार्थना स्वीकार करनी पडी और उन्होने रणवास मे जाकर बादशाह की बेगमो को दर्शन दिया तथा उन्हे अहिंसा एव सर्व धर्म समभाव-जैसे सिद्वान्तों को जीवन में उतारने पर विशेष जोर दिया ।[2] इसके पश्चात् प्रभाचन्द्र की यशोगाथा सारे देश मे फैल गयी और समस्त जैन समाज ने उनका खूब सम्मान किया । उन्होने देहली मे भट्टारक गादी की स्थापना की और सारे देश मे भट्टारको के पद का गौरव बढ़ाया ।

---

१ यह कारग आत्र कहियै मुनीस मुनि कही वाद जानहुँ महीम ।
ताहू समये वादीनु आय, मत्रनि ते कमडल मद भराय ॥६०६॥
दे कही अहो पातिसाहि ऐहु, कमडल मद भरयौ बिना सदेहु ।
मुनि लखि बामें किय पुष्प आनि, दीन्हों उघाड़ि कमंडल महानि ॥६१०॥

२ दरसन बिनि भोजन हम करैं न, या विधि भाषे बेगमनु वैन ।
तब साहि बुलाये वै प्रधान, भाषी ले आहु मुनी महान ॥६१२॥
दरसन बेगमा जब करे आप, तब ही बुनको मिटिहै अताप ।
मिलि भाषी मुनि तैं सबनि साह, तुम दरस बेगमनि सु चाह ॥६१३॥
तातें हमरी बिनती सु एहु, करि कै लगोट दरसन सु देहु ।
मुनि कही सुनौ तुम सकल साह, चलिजे यह जग माँझि राह ॥६१४॥

प्रभाचन्द्र मूलसंघ एवं नन्द्याम्नाय के भट्टारक थे। उनके सम्बन्ध मे बुद्धिविलास के अतिरिक्त एक भट्टारक पदावली में भी इसी तरह का वर्णन मिलता है। इस पट्टावली में संवत् १७३३ तक होनेवाले भट्टारको का वर्णन किया गया है। अन्तिम भट्टारक जगत्कीर्ति है जिनका पट्टाभिषेक आमेर मे संवत् १७३३ में हुआ था।[1] प्रभाचन्द्र की प्रशंसा में एक पदावली[2] मे निम्न प्रशस्ति लिखी हुई है—

"महावाद वादीश्वर वादिपितामह प्रमेयकमलमार्तण्डाद्यनेकग्रन्थविधायक श्रीमहापुराणस्वयम्भूसप्तभक्ति परमात्मप्रकाश समयसारादि सूत्र व्याख्यान सर्जन संज्ञान कोविदसभाकीर्तिनराणा श्रमित्प्रभाचन्द्रभट्टारकाणा"

उक्त प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि प्रभाचन्द्र शास्त्रार्थों मे अत्यधिक प्रवीण थे। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, महापुराण, परमात्मप्रकाश, समयसार, तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थो के व्याख्याता थे तथा पण्डितो की सभा के भूषण थे। सकलकीर्ति रास मे प्रभाचन्द्र को मूल सघ का संस्थापक कहा है।[3] इसी तरह आराधना पजिका की सवत् १४१६ की एक प्रशस्ति मे प्रभाचन्द्र को देहली के बादशाह फिरोजशाह तुगलक के शासन मे होने का उल्लेख किया है।[4]

समय–एक पट्टावलि के अनुसार भट्टारक प्रभाचन्द्र का जन्म सवत् १२९० पौष सुदी १५ को हुआ। वे १२ वर्ष तक गृहस्थ रहे तथा १२ वर्ष तक साधु की अवस्था मे दीक्षित रहे तथा ७४ वर्ष ११ मास १५ दिन तक भट्टारक पद पर बने रहे। इस पट्टावलि के अनुसार प्रभाचन्द्र सवत् १४०८ तक भट्टारक पद पर आसीन रहे।

विहार–प्रभाचन्द्र एक दीर्घकाल तक भट्टारक पद पर आसीन रहे इसलिए उन्होने देश के विभिन्न भागो में एक बार नही किन्तु कितनी ही बार बिहार किया। उनके मुख्य कार्य-क्षेत्र अजमेर, देहली एव बागड प्रदेश रहे। उन्होने अपने ही एक शिष्य को बागड प्रदेश की गादी पर बिठला दिया।

प्रतिष्ठा कार्य–प्रभाचन्द्र ने देश के विभिन्न भागो मे प्रतिष्ठा-विधि का कुशलता पूर्वक सचालन किया। जयपुर, आवाँ, बयाना आदि स्थानो में उनके अथवा उनके शिष्य पद्मनन्दि द्वारा प्रतिष्ठाएँ सम्पन्न हुईं। जयपुर के काला छावडा के मन्दिर में पार्श्वनाथ की एक धातु की मूर्ति है जिसकी प्रतिष्ठा सवत् १४१३ वैशाख सुदी ६ के दिन हुई थी और जिसमे भट्टारक प्रभाचन्द्र का उल्लेख हुआ है। इसी तरह आवाँ एव बयाना मे सवत् १४०० तथा सवत् १४०४ की मूर्तियाँ है जिनमे भट्टारक प्रभाचन्द्र एव उनके

---

१. बुद्धिविलास, बखतराम साह, पृष्ठ सख्या ७७, पद्य सख्या ६१५-६१६
२. भट्टारक पट्टावली–दिगम्बर जैन मन्दिर ठोलिया, जयपुर
महावीर भवन। जयपुर में सग्रहीत, रजिस्टर सख्या २, पृ सख्या ६६
३ मूलसघ सस्थापक महाप्रभाचन्द्र वंदीतु ॥२५॥
४. भट्टारक सम्प्रदाय–प वी पी जोहरापुरकर, पृष्ठ संख्या ९१।

शिष्य पद्मनन्दि दोनों का स्मरण किया गया है।[1]

उक्त प्रभाचन्द्र मूलसंघ एवं बलात्कारगण के भट्टारक थे। इनके पूर्व सेनगण के भट्टारक बालचन्द के शिष्य दूसरे प्रभाचन्द्र थे जिनके सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी नही मिलती। तीसरे प्रभाचन्द्र देहली शाखा के ही भट्टारक जिनचन्द्र के शिष्य थे जिनका परिचय हम अगले पृष्ठो में देंगे। चौथे प्रभाचन्द्र सूरत शाखा के भट्टारक ज्ञानभूषण के शिष्य थे।

इस प्रकार भ. प्रभाचन्द्र ने दीर्घकाल तक देश में धार्मिक एवं सामाजिक जागृति का संचालन किया और भगवान् महावीर के शासन की महती प्रभावना की।

---

१. मूर्तिलेख सग्रह, भाग १, पृष्ठ संख्या १६८ एवं भाग २, पष्ठ संख्या ३०५ (महाबीर भवन में संग्रहीत)।

भट्टारक पद्मनन्दि

[संवत् १३८५ से १४५० तक]

"तिण पाटि दियैं श्रीय पद्मनदि" उक्त पंक्ति से एक पट्टावली में भट्टारक पदमनन्दि का परिचय दिया गया है। पदमनन्दि का मुख्य स्थान गुजरात था। वे आचार्य कहलाते थे और भट्टारक प्रभाचन्द्र की ओर से गुजरात में धार्मिक विधान बनाते थे एवं प्रवचन आदि के द्वारा जैन शासन की प्रभावना बढाते थे। एक बार गुजरात में वहाँ के श्रावको ने प्रतिष्ठा महोत्सव का आयोजन किया। प्रतिष्ठा विधि सम्पन्न कराने के लिए भट्टारक प्रभाचन्द्र से प्रार्थना की गयी लेकिन उत्तरी भारत में ही अत्यधिक व्यस्तता के कारण वे वहाँ नही जा सके। उस समय आचार्य पद्मनन्दि को ही सूरि मन्त्र देकर भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित कर दिया और गुजरात प्रदेश का वह भाग उनके अधीन कर दिया। उक्त घटना का कविवर बखतराम साह ने अपने बुद्धिविलास मे विस्तृत वर्णन किया है।[1]

मवत् तेरह सौ पिचिहतरयौ जानिवै,
भये भट्टारक प्रभाचन्द्र गुनखानि वै।
तिनको आचारिज इक ह्वौ गुजरात मैं
तहाँ सवै पंचनि मिलि ठानी बात मैं ॥६१८॥
कीजै एक प्रतिष्ठा तो सुभ काज हवे,
करन लगे विधिवत सब ताको साज वे।
भट्टारक बुलवाये सो पहुँचे नही,
तबै सबै पचनि मिलि यह ठानी सही ॥६१९॥
सूरि मन्त्र वाहि आचारिज कौं दियो,
पदमनंदि भट्टारक नाम सुं यह कियो ॥

इसी तरह का वर्णन एक अन्य दिगम्बर मुनि पट्टावलि मे मिलता है जो संवत् ४ से संवत् १८७९ तक की है। इस पट्टावलि में पद्मनन्दि के बारे में निम्न प्रकार उल्लेख किया है।

"संवत् १३८५ पौष सुदि ७ पद्मनन्दि जी गृहस्थ वर्ष १० मास ७ दीक्षा वर्ष

---

१ महावीर भवन, जयपुर के संग्रह में ५७ संख्या पर देखिए।

२३ मास ५ भट्टारक वर्ष ६५ मास ५ दिन १८ अन्तर दिन १० सर्व वर्ष ९९ मास ५ दिन २८"

इस प्रकार पद्मनन्दि के जीवन के बारे में कुछ सामान्य परिचय मिलता है। एक भट्टारक पट्टावलि के अनुसार वे जाति से ब्राह्मण थे लेकिन उनके माता-पिता के बारे में कोई जानकारी नही मिलती। वे केवल १० वर्ष एवं ७ महीने तक गृहस्थ रहे। इसका अर्थ यह है कि ११ वर्ष की आयु में ही घर-बार छोडकर उन्होने वैराग्य धारण कर लिया और भट्टारक प्रभाचन्द्र का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। अपनी विलक्षण प्रतिभा के कारण उन्होने शीघ्र ही सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त कर लिया। युवावस्था में ही वे आचार्य बन गये तथा गुजरात मे जाकर स्वतन्त्र रूप से धर्म प्रचार करने लगे। इसके पश्चात् संवत् १३८५ पौष सुदी सप्तमी की शुभ वेला में भट्टारक पद पर सुशोभित कर दिये गये। पद्मनन्दि ने भट्टारक बनने के पश्चात् सारे देश में विहार किया तथा गुजरात एवं राजस्थान को अपने विहार का प्रमुख केन्द्र बनाया।

भट्टारक बनने के समय पद्मनन्दि की आयु केवल ३४ वर्ष की थी। वे पूर्ण युवा थे। तपस्वी जीवन की प्रतिभा उनके मुख से बरसती थी। विलक्षण प्रतिभा के धनी होने के कारण वे सहज ही जन साधारण को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते थे। एक प्रशस्तिकार ने इनका निम्न प्रकार गुणानुवाद किया है—

पद्मनन्दी गुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणी।
पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती ॥१॥
उर्ज्जयन्तगिरौ तेन गच्छ· सारस्वतो भवेत्।
अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्रीपद्मनन्दिने ॥

उक्त पद्यो से ज्ञात होता है कि पद्मनन्दि पर सरस्वती की असीम कृपा थी और एक बार उन्होने पाषाण की सरस्वती को मुख से बुला दी थी।[1] लोगों को बोलती हुई सरस्वती देखकर अत्यधिक आश्चर्य हुआ और इससे उनकी कीर्ति एवं प्रभावना में अत्यधिक वृद्धि हुई। एक अन्य पट्टावलि में उनकी निम्न प्रकार स्तुति की गयी है—

श्रीमत्प्रभाचन्द्रमुनीन्द्रपट्टे शश्वत् प्रतिष्ठ· प्रतिभागरिष्ठ·।
विशुद्धसिद्धान्तरहस्यरत्न, रत्नाकरो नन्दतु पद्मनन्दी ॥[2]

गुजरात प्रदेश के पश्चात् आचार्य पद्मनन्दि ने राजस्थान को अपना कार्यक्षेत्र चुना तथा चित्तौड, उदयपुर, बूँदी, नैणवा, टोंक, झालावाड-जैसे स्थानो को अपनी गतिविधियो का केन्द्र बनाया। वे नैणवा (चित्तौड)-जैसे सास्कृतिक नगर में १० वर्ष से अधिक रहे। भट्टारक सकलकीर्ति ने इसी नगर मे उनसे शिक्षा प्राप्त की थी और यही

---

१. एकै श्रावक प्रतिष्ठाने प्रभाचन्द्रजी ने बुलाया सो वे नाया तदि आचार्य ने सूरिमन्त्र दे भट्टारक करि प्रतिष्ठा कराई तदि भट्टारक पद्मनन्दि जी हुआ। पाषाण की सरस्वती मुखै बुलाई। जाति ब्राह्मण पट्ट अजमेर।

२ जैन सिद्धान्त भास्कर भाग-१, किरण ४, पृष्ठ ५३।

पर उनसे दीक्षा धारण की ।[1]

आचार्य पद्मनन्दि अपने समय के बड़े विद्वान्, साधु एवं भट्टारक थे। इनके संघ में अनेक साधु एवं साध्वियाँ थी। इनमें चार शिष्य प्रधान थे जिन्होंने अलग-अलग प्रदेशो में गादियाँ स्थापित की ।[2] डॉ. जोहरापुरकर ने भट्टारक सम्प्रदाय मे तीन भट्टारक गादियाँ स्थापित करने के लिए लिखा है ।[3] इनमें शुभचन्द्र देहली, जयपुर शाखा के (नागरचाल), सकलकीर्ति (ईडर शाखा), देवेन्द्रकीर्ति (सूरत शाखा) के नाम तो मिलते है लेकिन जिस शिष्य को दक्षिण में भेजा गया था उसके नाम का उल्लेख नही मिलता ।

एक अन्य प्रशस्ति मे मदनकीर्ति का नाम अवश्य मिलता है, हो सकता है उसे ही दक्षिण की ओर भेजा गया हो। बखतराम साह ने अपने बुद्धिविलास में केवल सकलकीर्ति का ही उल्लेख किया है तथा कहा है सकलकीर्ति ने सम्पूर्ण गुजरात देश को सम्बोधित किया था ।[4]

आचार्य पद्मनन्दि संस्कृत के बड़े भारी पण्डित थे। राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारो मे इनकी कितनी ही रचनाएँ उपलब्ध हो चुकी है, इनमें कुछ रचनाओ के नाम निम्न प्रकार है—

१ पद्मनन्दि श्रावकाचार	
२ अनन्त व्रत कथा	९ देवशास्त्र गुरुपूजा
३. द्वादश व्रतोद्यापन पूजा	१० रत्नत्रय पूजा
४ पार्श्वनाथ स्तोत्र	११. भावना चौतीसी
५. नन्दीश्वर पंक्ति पूजा	१२ परमात्मराज स्तोत्र
६. लक्ष्मी स्तोत्र	१३. सरस्वती पूजा
७. वीतराग स्तोत्र	१४ सिद्ध पूजा
८ श्रावकाचार टीका	१५ शान्तिनाथ स्तवन

ये सभी रचनाएँ संस्कृत भाषा में निबद्ध है। श्रावकाचार एव उसकी टीका को छोडकर बाकी सभी रचनाएँ पूजा स्तोत्र एव कथापरक है जिसमे मुनिश्री की रचना शैली का सकेत मिलता है। वे पूजा एवं स्तोत्रो तथा कथापरक कृतियो के माध्यम से धर्म प्रचार किया करते थे।

---

१. चौथो चेलो आचार्य श्री सकलकीर्ति वर्ष छब्बीसमी साठ पर्दर्थ पाटणनाहता तीणी दीक्षा लीधी तीणी गाँव श्री नैणवा मध्ये।

२ भट्टारक श्री पद्मनन्दी तेहना चेला ४ हुआ। १ चेला पोताना पट थाप्यो। बीजो चेलो दक्षिण मोकाल्यो। त्रीजो चेलो नागरचाले मोकल्या। चौथो चेलो आचार्य श्री सकलकीर्ति।

—भट्टारक पट्टावलि, महावीर भवन, जयपुर

३ भट्टारक सम्प्रदाय, पृष्ठ संख्या ९६।

४ ताकै पाहि सकलकीर्ति मुनिवर भये
तिन समाधि गुजरात देस अपने किये ॥६८०॥

साहित्य रचना के अतिरिक्त वे प्रतिष्ठा विधि भी सम्पन्न कराते थे। सर्वप्रथम प्रतिष्ठा समारोह मे सम्मिलित होने के कारण इन्हे भट्टारक का पद दिया गया था और वे इसके पश्चात् भी बराबर प्रतिष्ठाओं का संचालन किया करते थे। राजस्थान में इनके द्वारा प्रतिष्ठित सैकडो मूर्तियां मन्दिरों में विराजमान है। आपने संवत् १४५० वैशाख सुदी १२ को आदिनाथ की प्रतिष्ठा विधि सम्पन्न की थी।[1] सागानेर के संघीजी मन्दिर मे शान्तिनाथ स्वामी की प्रतिमा है जिसकी प्रतिष्ठा इन्हीं के द्वारा संवत् १४६४ की फागुन सुदी १३ को अजमेर में सम्पन्न हुई थी।[2] इसी संवत् की प्रतिष्ठित मूर्ति पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर टोक में भी है। इसी तरह भरतपुर के पंचायती मन्दिर में मल्लिनाथ स्वामी की एक मूर्ति विराजमान है जो संवत् १४०४ माघ सुदी १३ के दिन की प्रतिष्ठापित है तथा इसके प्रतिष्ठाचार्य भट्टारक पद्मनन्दि थे।[3]

इस प्रकार पद्मनन्दि का एक लम्बी अवधि तक साहित्य एवं संस्कृति की सेवा करते हुए संवत् १४६५ के आसपास स्वर्गवास हो गया।

---

१ भट्टारक सम्प्रदाय, पृष्ठ संख्या ९२।

२ मूर्तियन्त्र संग्रह—महावीर भवन, जयपुर, पृष्ठ संख्या २६४।

३ मूर्तियन्त्र संग्रह—महावीर भवन, जयपुर, पृष्ठ संख्या २६४।

भट्टारक सकलकीर्ति

[संवत् १४५६ से १४९९ तक]

महावीर शासन की १५वी शताब्दी में जबरदस्त प्रभावना करनेवाले आचार्यों मे भट्टारक सकलकीर्ति का नाम सर्वोपरि है। देश मे जैन साहित्य एवं सस्कृत का जो जबरदस्त प्रचार एव प्रसार हो सका था उसमें इनका प्रमुख योगदान था। सकलकीर्ति ने सस्कृत एव प्राकृत साहित्य को नष्ट होने से बचाया और लोगो मे उसके प्रति अद्भुत आकर्षण पैदा किया। जनता मे धर्म के प्रति गहरी आस्था उत्पन्न करके उन्होने धार्मिक शान्ति का बिगुल बजाया एव अपने अद्भुत व्यक्तित्व से तत्कालीन समाज का पथ प्रदर्शन किया। उन्होंने अपना ऐसा शिष्य परिवार तैयार किया जिसने उनके स्वर्गवास के पश्चात् भी उनकी परम्परा को जीवित रखा एव भगवान् महावीर के शासन के प्रभाव मे उत्तरोत्तर वृद्धि करने मे अपना सौभाग्य समझा।

जीवन परिचय

सन्त सकलकीर्ति का जन्म सवत् १४४३ (सन् १३८६) मे हुआ था। डा प्रेमसागर जैन ने 'हिन्दी जैन भक्ति-काव्य और कवि' मे सकलकीर्ति का संवत् १४४४ मे ईडर गद्दी पर बैठने का जो उल्लेख किया है वह सकलकीर्ति रास के अनुसार सही प्रतीत नही होता। इनके पिता का नाम करमसिंह एवं माता का नाम शोभा था। ये अणहिलपुर पट्टण के रहनेवाले थे। इनकी जाति हूबण्ड थी।[१] 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' कहावत के अनुसार गर्भधारण करने के पश्चात् इनकी माता ने एक सुन्दर स्वप्न देखा और उसका फल पूछने पर करमसिंह ने इस प्रकार कहा—[२]

"तजि वपण सुणिसार, सार कुमर तुम्ह होइसिइए।
निर्मल गगानीर, चंदन नदन तुम्ह तणुए ॥९॥

१. हरषी सुणीय सुवाणि पालइ अन्य ऊअरि सुपर।
चोऊदत्रिताल प्रमाणि पूनइ दिन पुत्र जनमीउ॥

२ न्याति मांहि मुहुतवत हूवड हरषि वखाणिइए।
करमसिह वितपन्न उदयवंत इम जाणीइए ॥३॥
शोभित तरस अरधागि, मूली सरीस्य सुन्दरीय।
सील स्यंगारित अङ्गि पेखु प्रत्यक्षे पुरदरीय ॥४॥
—सकलकीर्तिरास

जलनिधि गहिर गंभीर खीरोपम सोहा मणुए ।
ते जिहि तरण प्रकाश जग उद्योतन जस किरणि ।।१०।।

बालक का नाम पूर्नसिंह अथवा पूर्णसिंह रखा गया। एक पट्टावलि में इनका नाम पदर्थ भी दिया हुआ है। द्वितीया के चन्द्रमा के समान वह बालक दिन प्रतिदिन बढ़ने लगा। उसका वर्ण राजहंस के समान शुभ्र था तथा शरीर बत्तीस लक्षणों से युक्त था। पाँच वर्ष के होने पर पूर्णसिंह को पढ़ने बैठा दिया गया। बालक कुशाग्र बुद्धि का था इसलिए शीघ्र ही उसने सभी ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया। विद्यार्थी अवस्था में भी इनका अर्हद् भक्ति की ओर अधिक ध्यान रहता था तथा क्षमा, सत्य, शौच एवं ब्रह्मचर्य आदि धर्मों को जीवन में उतारने का प्रयास करते रहते थे। गार्हस्थ्य जीवन के प्रति विरक्ति देखकर माता-पिता ने उनका १४ वर्ष की अवस्था में ही विवाह कर दिया लेकिन विवाह बन्धन के पश्चात् भी उनका मन संसार में नहीं लगा और वे उदासीन रहने लगे। पुत्र की गति-विधियाँ देखकर माता-पिता ने उन्हें बहुत समझाया और कहा कि उनके पास जो अपार सम्पत्ति है, महल-मकान है, नौकर-चाकर है, उसके वैराग्य धारण करने के पश्चात् वह किस काम आवेगा? यौवनावस्था सासारिक सुखो के भोग के लिए होती है। सयम का तो पीछे भी पालन किया जा सकता है। पुत्र एवं माता-पिता के मध्य बहुत दिनो तक वाद-विवाद चलता रहा[1]। वे उन्हें साधु जीवन की कठिनाइयो की ओर संकेत करते तथा कभी-कभी अपनी वृद्धावस्था का भी रोना रोते लेकिन पूर्णसिह के कुछ समझ में नही आता और वे बार-बार साधु जीवन धारण करने की उनसे स्वीकृति माँगते रहते[2]।

अन्त मे पुत्र की विजय हुई और पूर्णसिह ने २६वें वर्ष मे अपार सम्पत्ति को तिलाजलि देकर साधु जीवन अपना लिया। वे आत्म कल्याण के साथ-साथ जगत्कल्याण की ओर चल पडे। भट्टारक सकलकीर्तिनु रास के अनुसार उनकी इस समय केवल १८ वर्ष की आयु थी। उस समय भट्टारक पद्मनन्दि का मुख्य केन्द्र नैणवा (राजस्थान) था और वे आगम ग्रन्थो के पारगामी विद्वान् माने जाते थे इसलिए ये भी नैणवाँ चले गये और उनके शिष्य बनकर अध्ययन करने लगे। यह उनके साधु जीवन की प्रथम पद यात्रा थी। वहाँ ये आठ वर्ष रहे और प्राकृत एव सस्कृत के ग्रन्थो का गम्भीर अध्यनन

---

१. देखवि चंचल चित मात पिता कहि वछ सुणि।
अह्य मंदिर बहु वित्त आविसिइ कारण कवण ॥२०॥
लहुआ लीलावत सुख भोगवि संसार तणाए।
पछइ दिवस बहुत अछिइ संयम तप तणाए ॥२१॥
—सकलकीर्तिनु रास

२. बयणि तजि सुणोवि, पून पिता प्रति इम कहिए।
निज मन सुबिस करेवि, धीरजे तरण तप गहए ॥२२॥
ज्योवन गिइ गमार, पछइ पालइ सीयल घणा।
ते कहु कवण विचार विण अवसर जे वरसीयिए ॥२३॥
—सकलकीर्तिनु रास

किया, उनके मर्म को समझा और भविष्य में सत्साहित्य का प्रचार-प्रसार ही अपना एक उद्देश्य बना लिया। ३४ वर्ष में उन्होंने आचार्य पदवी ग्रहण की और अपना नाम सकलकीर्ति रख लिया।

नैणवा से पुनः बागड प्रदेश मे आने के पश्चात् ये सर्वप्रथम धार्मिक चेतना जाग्रत् करने के निमित्त स्थान-स्थान पर बिहार करने लगे। एक बार वे खोडण नगर आये और नगर के बाहर उद्यान में ध्यान लगाकर बैठ गये। इधर नगर से आयी हुई एक श्राविका ने जब नग्न साधु को ध्यानस्थ बैठे देखा तो घर जाकर उसने अपनी सास से जिन शब्दो मे निवेदन किया उसका एक पट्टावलि मे बहुत सुन्दर वर्णन दिया हुआ है[1]।

बिहार

सकलकीर्ति का वास्तविक साधु जीवन सवत् १४७७ से प्रारम्भ होकर संवत् १४९९ तक रहा। इन २२ वर्षों मे इन्होने मुख्य रूप से राजस्थान के उदयपुर, बाँसवाडा, प्रतापगढ आदि राज्यों एवं गुजरात प्रान्त के राजस्थान के समीपस्थ प्रदेशो में खूब बिहार किया। उस समय जन-साधारण के जीवन में धर्म के प्रति काफी शिथिलता आ गयी थी। साधु-सन्तो के बिहार का अभाव था। जन-साधारण की न तो स्वाध्याय के प्रति रुचि रही थी और न उन्हे सरल भाषा मे साहित्य ही उपलब्ध होता था। इसलिए सर्वप्रथम सकलकीर्ति ने उन प्रदेशो मे बिहार किया और सारे समाज को एक सूत्र मे बाँधने का प्रयास किया। इसी उद्देश्य से उन्होने कितनी ही यात्रा-सघो का नेतृत्व किया। सर्व प्रथम संघपति सिंह के साथ गिरिनार यात्रा आरम्भ की। फिर वे चम्पानेर की ओर यात्रा करने निकले। वहाँ से आने के पश्चात् हूंवण्ड जातीय रतना के साथ माँगीतुगी की यात्रा को प्रस्थान किया। इसके पश्चात् उन्होने अन्य तीर्थों की वन्दना की जिससे देश मे धार्मिक चेतना फिर से जाग्रत् होने लगी।

प्रतिष्ठाओं का आयोजन

तीर्थ यात्राओ के समाप्त होने के पश्चात् सकलकीर्ति ने नव-मन्दिर निर्माण एव प्रतिष्ठाएँ करवाने का कार्य हाथ मे लिया। उन्होने अपने जीवन में १४ बिम्ब प्रतिष्ठाओ का संचालन किया। इस कार्य मे योग देनेवालो मे सघपति नरपाल एव उनकी पत्नी बहूरानी का नाम विशेषत उल्लेखनीय है। गलियाकोट में संघपति मूलराज ने इन्ही के उपदेश से चतुर्विंशति जिनबिम्ब की स्थापना की थी। नागद्रह जाति के श्रावक सघपति ठाकुरसिंह ने भी कितनी ही बिम्ब प्रतिष्ठाओ मे योग दिया। आबू नगर मे उन्होने एक प्रतिष्ठा महोत्सव का सचालन किया था जिसमें तीन चौबीसी की एक विशाल प्रतिभा परिकर सहित स्थापित की गयी।

---

१ भट्टारक पट्टावलि महावीर भवन, जयपुर के सग्रह में।

२, पवर प्रासाद आब्बू तस परिकरि जिनवर त्रिणि चउवीस।
तस कोधो प्रतिष्ठा तेह तणीय, गुरि मेलवि चउविध सध्य सरीस॥

सन्त सकलकीर्ति द्वारा संवत् १४९०, १४९२, १४९७ आदि संवतों में प्रतिष्ठापित मूर्तियां उदयपुर, डूंगरपुर एवं सागवाड़ा आदि स्थानो के जैन मन्दिर में मिलती है। प्रतिष्ठा महोत्सवो के इन आयोजनो से तत्कालीन समाज में जन जाग्रति की जो भावना उत्पन्न हुई थी, उसने देश में जैन धर्म एवं संस्कृति को जीवित रखने में अपना पूरा योग दिया।

व्यक्तित्व एवं पाण्डित्य

भट्टारक सकलकीर्ति असाधारण व्यक्तित्ववाले सन्त थे। इन्होंने जिन-जिन परम्पराओं की नींव रखी, उनका बाद में खूब विकास हुआ। अध्ययन गम्भीर था इस लिए कोई भी विद्वान् इनके सामने नही टिक सकता था। प्राकृत एवं संस्कृत भाषाओं पर इनका समान अधिकार था। ब्रह्म जिनदास एवं भ. भुवनकीर्ति जैसे विद्वानो का इनका शिष्य होना ही इनके प्रबल पाण्डित्य का सूचक है। इनकी वाणी में जादू था इसलिए जहाँ भी इनका बिहार हो जाता था वही इनके सैकडों भक्त बन जाते थे। ये स्वयं तो योग्यतम विद्वान् थे ही, किन्तु इन्होंने अपने शिष्यों को भी अपने ही समान विद्वान् बनाया। इन्हे महाकवि, निर्ग्रन्थ राजा एवं शुद्ध चरित्रधारी[1] तथा हरिवंश पुराण में तपोनिधि एवं निर्ग्रन्थ श्रेष्ठ[2] आदि उपाधियों से सम्बोधित किया है।

भट्टारक सकलभूषण ने अपने उपदेशरत्नमाला की प्रशस्ति में कहा है कि सकलकीर्ति जन-जन का चित्त स्वत ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेते थे। ये पुण्यमूर्ति स्वरूप थे तथा पुराण ग्रन्थो के रचयिता थे।[3]

इसी तरह भट्टारक शुभचन्द्र ने सकलकीर्ति को पुराण एवं काव्यों का प्रसिद्ध नेता कहा है। इनके अतिरिक्त इनके बाद होनेवाले प्राय. सभी भट्टारक सन्तो ने सकलकीर्ति के व्यक्तित्व एव विद्वत्ता की भारी प्रशंसा की है। ये भट्टारक थे किन्तु मुनि नाम से भी अपने आपको सम्बोधित करते थे। धन्यकुमार चरित्र ग्रन्थ की पुष्पिका में इन्होने अपने आपका मुनि सकलकीर्ति नाम से परिचय दिया है।

ये स्वयं भी नग्न अवस्था में रहते थे और इसीलिए ये निर्ग्रन्थकार अथवा निर्ग्रन्थराज के नाम से भी अपने शिष्यो द्वारा सम्बोधित किये गये है। इन्होने बागड

---

१. ततोऽभवत्तस्य जगत्प्रसिद्धे पट्टे मनोज्ञे सकलादिकीर्ति।
महाकवि. शुद्धचरित्रधारी निर्ग्रन्थराजा जगति प्रतापी॥
—जम्बूस्वामी चरित्र

२ तत्पट्टपंकेजविकासभास्वान् बभूव निर्ग्रन्थवर प्रतापी।
महाकविरवादिकलाप्रवीण तपोनिधि श्रीसकलादिकीर्ति॥
—हरिवंश पुराण

३ तत्पट्टधारी जनचित्तहारी पुराणमुख्योत्तमशास्त्रकारी।
भट्टारक-श्रीसकलादिकीर्ति. प्रसिद्धनामा जनि पुण्यमूर्ति.॥२१९॥
—उपदेशरत्नमाला (सकलभूषण)

प्रदेश में जहाँ भट्टारकों का कोई प्रभाव नही था संवत् १४९२ में गलियाकोट में एक भट्टारक गादी की स्थापना की और अपने आपको सरस्वती गच्छ एवं बलात्कारगण की परम्परा में भट्टारक घोषित किया। ये उत्कृष्ट तपस्वी थे तथा अपने जीवन में इन्होने कितने ही व्रतो का पालन किया था।

सकलकीर्ति ने जनता को जो कुछ चारित्र सम्बन्धी उपदेश दिया था, पहले उसे अपने जीवन मे उतारा। २२ वर्ष के एक छोटे से समय मे ३५ से अधिक ग्रन्थो की रचना, विविध ग्रामो एव नगरो में बिहार, भारत के राजस्थान, उत्तर प्रदेश, गुजरात, मध्य प्रदेश आदि प्रदेशो के तीर्थों की पद-यात्रा एवं विविध व्रतों का पालन केवल सकलकीर्ति जैसे महा विद्वान् एव प्रभावशाली व्यक्तित्ववाले साधु से ही सम्पन्न हो सकते थे। इस प्रकार ये श्रद्धा, ज्ञान एवं चरित्र से विभूषित उत्कृष्ट एवं आकर्षक व्यक्तित्ववाले साधु थे।

शिष्य-परम्परा

भट्टारक सकलकीर्ति के कुल कितने शिष्य थे इसका कोई उल्लेख नही मिलता लेकिन एक पट्टावलि के अनुसार इनके स्वर्गवास के पश्चात् इनके शिष्य धर्मकीर्ति ने नौतनयपुर में भट्टारक गद्दी स्थापित की। फिर विमलेन्द्रकीर्ति भट्टारक हुए और १२ वर्ष तक इस पद पर रहे। इनके पश्चात् आन्तरी गाँव मे सब श्रावकों ने मिलकर संघवी सोमतास श्रावक को भट्टारक दीक्षा दी तथा उनका नाम भुवनकीर्ति रखा गया। लेकिन अन्य पट्टावलियो में एवं इस परम्परा मे होनेवाले सन्तो के ग्रन्थो की प्रशस्तियो में भुवनकीर्ति के अतिरिक्त और किसी भट्टारक का उल्लेख नही मिलता। स्वयं भ भुवनकीर्ति, ब्रह्म जिनदास, ज्ञानभूषण, शुभचन्द्र आदि सभी सन्तो ने भुवनकीर्ति को ही इनका प्रमुख शिष्य होना माना है। यह हो सकता है कि भुवनकीर्ति ने अपने आपको सकलकीर्ति से सीधा सम्बन्ध बतलाने के लिए उक्त दोनो सन्तो के नामो के उल्लेख करने की परम्परा को नही डालना चाहा हो। भुवनकीर्ति के अतिरिक्त सकलकीर्ति के प्रमुख शिष्यो मे ब्रह्म जिनदास का नाम उल्लेखनीय है। जो सघ के सभी महाव्रती एव ब्रह्मचारियो के प्रमुख थे। ये भी अपने गुरु के समान ही संस्कृत एव राजस्थानी के प्रचण्ड विद्वान् थे और साहित्य मे विशेष रुचि रखते थे। सकलकीर्तिनु रास में भुवनकीर्ति एवं ब्रह्म जिनदास के अतिरिक्त ललितकीर्ति के नाम का और उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त उनके संघ मे आर्यिका एव क्षुल्लिकाएँ थी ऐसा भी लिखा है।[1]

---

१ आदि शिष्य आचारिजहि गुरि दीखीया भूतलि भुवनकीर्ति।
जयवन्त श्री जगतगुरु गुरि दीखीया ललितकीर्ति॥
महाव्रती ब्रह्मचारी घणा जिणदास गोलागार प्रमुख अपार
अर्जिका क्षुल्लिका सयलसंघ गुरू सोभित सहित सकल परिवार॥

मृत्यु

एक पट्टावलि के अनुसार भट्टारक सकलकीर्ति ५६ वर्ष तक जीवित रहे। संवत् १४९९ में महसाना नगर में उनका स्वर्गवास हुआ। पं. प्रमानन्दजी शास्त्री ने भी प्रशस्ति संग्रह में इनकी मृत्यु संवत् १४९९ में महसाना (गुजरात) में होना लिखा है। डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन एवं डॉ. प्रेमसागर भी इसी संवत् को सही मानते हैं। लेकिन डॉ. ज्योतिप्रसाद इनका पूरा जीवन ८१ वर्ष स्वीकार करते है जो अब लेखक को प्राप्त विभिन्न पट्टावलियों के अनुसार वह सही नही जान पड़ता। सकलकीर्ति रास में उनकी विस्तृत जीवन गाथा है। उसमें स्पष्ट रूप से संवत् १४४३ माना गया है।

संवत् १४७१ से प्रारम्भ एक पट्टावलि में भट्टारक सकलकीर्ति को भट्टारक पद्मनन्दि का चतुर्थ शिष्य माना गया है और उनके जीवन के सम्बन्ध में निम्न प्रकाश डाला गया है—

१. ४ चोथो चेलो आचार्य श्री सकलकीर्ति वर्ष २६ छबीसमी ताहा श्री पदर्थ पारणनाहता तीणी दीक्षा लीधी गाँव श्री नीणवा मध्ये। पछे गुरु कने वर्ष ३४ चौंतीस थया।

२. पछे वर्ष ५६ छपनीसाँणें स्वर्गे पोतासाही ने वारे पुठी स्वामी सकलकीर्ति ने पाटे धर्मकीर्ति स्वामी नोतनयुर सघे थाप्या।

३. एहवा धर्म करणी करावता बागडराय ने देस कुंभल-गढ नव सहस्र मध्य संघली देसी प्रदेसी व्याहार कर्म करता धर्मपदेस देता नवा ग्रन्थ सुध करता वर्ष २२ व्याहार कर्म करिने धर्म सघली प्रवर्त्या।

उक्त तथ्यो के आधार पर यह निर्णय सही है कि भट्टारक सकलकीर्ति का जन्म संवत् १४४३ में हुआ था।

श्री विद्याधर जोहरापुरकर ने भट्टारक सम्प्रदाय में सकलकीर्ति का समय सवत् १४५० से संवत् १५१० तक का दिया है। उन्होने यह समय किस आधार पर दिया है इसका कोई उल्लेख नही किया। इसलिए सकलकीर्ति का समय संवत् १४४३ से १४९९ तक का ही सही जान पडता है।

तत्कालीन सामाजिक अवस्था

भट्टारक सकलकीर्ति के समय देश की सामाजिक स्थिति अच्छी नही थी। समाज में सामाजिक एवं धार्मिक चेतना का अभाव था। शिक्षा की बहुत कमी थी। साधुओ का अभाव था। भट्टारकों के नग्न रहने की प्रथा थी। स्वयं भट्टारक सकलकीर्ति भी नग्न रहते थे। लोगो में धार्मिक श्रद्धा बहुत थी। तीर्थयात्रा बडे-बडे संघो मे होती थी। उनका नेतृत्व करनेवाले साधु होते थे। तीर्थयात्राएँ बहुत लम्बी होती थी तथा वहाँ से

सकुशल लौटने पर बड़े-बड़े उत्सव एवं समारोह किये जाते थे। भट्टारकों ने पंच-कल्याणक प्रतिष्ठाएँ एवं अन्य धार्मिक समारोह करने की अच्छी प्रथा डाल दी थी। इनके संघ में मुनि, आर्यिका, श्रावक आदि सभी होते थे। साधुओं में ज्ञान-प्राप्ति की काफ़ी अभिलाषा होती थी तथा संघ के सभी साधुओ को पढाया जाता था। ग्रन्थ रचना करने का भी खूब प्रचार हो गया था। भट्टारक गण भी खूब ग्रन्थ रचना करते थे। वे प्रायः अपने ग्रन्थ श्रावको के आग्रह से निबद्ध करते रहते थे। व्रत-उपवास की समाप्ति पर श्रावकों द्वारा इन ग्रन्थो की प्रतियाँ विभिन्न ग्रन्थ भण्डारों को भेंटस्वरूप दे दी जाती थी। भट्टारकों के साथ हस्तलिखित ग्रन्थो के बस्ते के बस्ते होते थे। समाज में स्त्रियो की स्थिति अच्छी नही थी और न उनके पढने-लिखने का साधन था। व्रतोद्यापन पर उनके आग्रह से ग्रन्थो की स्वाध्यायार्थ प्रतिलिपि करायी जाती थी और उन्हें साधु-सन्तो को पढने के लिए दे दिया जाता था।

साहित्य-सेवा

साहित्य-सेवा में सकलकीर्ति का जबरदस्त योग रहा। कभी-कभी तो ऐसा मालूम होने लगता है जैसे उन्होने अपने साधु जीवन के प्रत्येक क्षण का उपयोग किया हो। सस्कृत, प्राकृत एव राजस्थानी भाषा पर इनका पूर्ण अधिकार था। वे सहज रूप में ही काव्य रचना करते थे इसलिए उनके मुख से जो भी वाक्य निकलता था वही काव्य-रूप मे परिवर्तित हो जाता था। साहित्य रचना की परम्परा सकलकीर्ति ने ऐसी डाली कि राजस्थान के बागड एव गुजरात प्रदेश मे होनेवाले अनेक साधु-सन्तों ने साहित्य की खूब सेवा की तथा स्वाध्याय के प्रति जन-साधारण की भावना को जाग्रत् किया। इन्होने अपने अन्तिम २२ वर्ष के जीवन मे २७ से अधिक संस्कृत रचनाएँ एवं ८ राजस्थानी रचनाएँ निबद्ध की थी। सकलकीर्तिनु रास मे इनकी मुख्य रचनाओ के जो नाम गिनाये है वे निम्न प्रकार हैं।

चारि नियोग रचना करीय, गुरु कवित तणु हवि सुणहु बिचार।
१ यती-आचार, २ श्रावकाचार, ३ पुराण, ४ आगम सार कवित अपार ॥
५ आदिपुराण ६ उत्तरपुराण ७ शान्ति ८ पास ९ वर्द्धमान १० मलिचरित्र।
आदि ११ यशोधर १२ धन्यकुमार १३ सुकुमाल १४ सुदर्शन चरित्र पवित्र ॥
१५ पंचपरमेष्ठी गन्ध कुटीय १६ अष्टाह्निका १७ गणधर भेय।
१८ सोलहकारण पूजा विधि गुरिए सवि प्रगट प्रकासिया तेय ॥
१९ सूक्ति मुक्तावलि २० क्रमविपाक गुरि रचीय डाईण परि विविध परिग्रन्थ।
भरह सगीत पिंगल निपुण गुरु गुरड श्री सकलकीर्ति निर्ग्रन्थ ॥

लेकिन राजस्थान मे ग्रन्थ भण्डारो की जो अभी खोज हुई है उनमें हमें अभी तक निम्न रचनाएँ उपलब्ध हो सकी हैं।

संस्कृत की रचनाएँ

१. मूलाचार प्रदीप
२. प्रश्नोत्तरोपासकाचार
३. आदिपुराण
४. उत्तर पुराण
५. शान्तिनाथ चरित्र
६. वर्द्धमान चरित्र
७. मल्लिनाथ चरित्र
८. यशोधर चरित्र
९. धन्यकुमार चरित्र
१० सुकुमाल चरित्र
११ सुदर्शन चरित्र
१२ सद्भाषितावलि
१३. पार्श्वनाथ चरित्र
१४. व्रतकथा कोष
१५. नेमिजिन चरित्र
१६. कर्मविपाक
१७. तत्त्वार्थसार दीपक
१८. सिद्धान्तसार दीपक
१९. आगमसार
२०. परमात्मराज स्तोत्र
२१. सारचतुर्विंशतिका
२२. श्रीपाल चरित्र
२३. जम्बूस्वामी चरित्र
२४ द्वादशानुप्रेक्षा

पूजा ग्रन्थ

२५ अष्टाह्निका पूजा
२६. सोलहकारण पूजा
२७. गणधरवलय पूजा

राजस्थानी कृतियाँ

१. आराधना प्रतिबोधसार
२ नेमीश्वर गीत
३. मुक्तावलि गीत
४. णमोकार फल गीत
५. सोलहकारण रास
६ सारसीखामणि रास
७. शान्तिनाथ फागु

उक्त कृतियो के अतिरिक्त अभी और भी रचनाएँ हो सकती है जिनकी अभी खोज होना बाकी है। भट्टारक सकलकीर्ति की संस्कृत भाषा के समान राजस्थानी भाषा मे भी कोई बडी रचना मिलनी चाहिए, क्योंकि इनके प्रमुख शिष्य ब्र. जिनदास ने इन्ही की प्रेरणा एवं उपदेश से राजस्थानी भाषा में ५० से भी अधिक रचनाएँ निबद्ध की है। अकेले इन्ही के साहित्य पर एक शोध प्रबन्ध लिखा जा सकता है। अब यहाँ कुछ ग्रन्थो का परिचय दिया जा रहा है।

१. आदिपुराण—इस पुराण में भगवान् आदिनाथ, भरत, बाहुबलि, सुलोचना, जयकीर्ति आदि महापुरुषो के जीवन का विस्तृत वर्णन किया गया है। पुराण सर्गों में विभक्त है और इसमें २० सर्ग हैं। पुराण की श्लोक संख्या ४६२८ श्लोक प्रमाण है। वर्णन शैली सुन्दर एव सरस है। रचना का दूसरा नाम वृषभनाथ चरित्र भी है।

२. उत्तर पुराण—इसमें २३ तीर्थंकरो के जीवन का वर्णन है एवं साथ में

चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण, प्रतिनारायण आदि शलाका-महापुरुषो के जीवन का भी वर्णन है। इसमें १५ अधिकार है।

३. कर्मविपाक—यह कृति संस्कृत गद्य में है। इसमें आठ कर्मों के तथा उनके १४८ भेदों का वर्णन है। प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध एव अनुभाग बन्ध की अपेक्षा से कर्मों के बन्ध का वर्णन सुन्दर एवं बोधगम्य है। यह ग्रन्थ ५४७ श्लोक संख्या प्रमाण है। रचना अभी तक अप्रकाशित है।

४ तत्त्वार्थसार दीपक—सकलकीर्ति ने अपनी इस कृति को अध्यात्म महाग्रन्थ कहा है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध सवर, निर्जरा तथा मोक्ष इन सात तत्त्वो का वर्णन १२ अध्यायो में निम्न प्रकार विभक्त है।

प्रथम सात अध्याय तक जीव एवं उसकी विभिन्न अवस्थाओ का वर्णन है। शेष ८ से १२वें अध्याय मे अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष का क्रमश. वर्णन है। ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है।

५ धन्यकुमार चरित्र—यह एक छोटा-सा ग्रन्थ है जिसमे सेठ धन्यकुमार के पावन जीवन का यशोगान किया गया है। पूरी कथा सात अधिकारो मे समाप्त होती है। धन्यकुमार का जीवन अनेक कुतूहलो एव विशेषताओ से ओत-प्रोत है। एक बार कथा आरम्भ करने के बाद पूरी पढ़े बिना उसे छोडने को मन नही करता। भाषा सरल एव सुन्दर है।

६ नेमिजिन चरित्र—नेमिजिन चरित्र का दूसरा नाम हरिवशपुराण भी है। नेमिनाथ २२वें तीर्थंकर थे जिन्होने कृष्ण युग में अवतार लिया था। वे कृष्ण के चचेरे भाई थे। अहिंसा मे दृढ विश्वास होने के कारण तोरण द्वार पर पहुँचकर एक स्थान पर एकत्रित जीवो को वध के लिए लाया हुआ जानकर विवाह के स्थान पर दीक्षा ग्रहण कर ली थी तथा राजुल-जैसी अनुपम सुन्दर राजकुमारी को त्यागने मे जरा भी विचार नही किया। इस प्रकार इसमे भगवान् नेमिनाथ एव श्रीकृष्ण के जीवन एव उनके पूर्व भवो का वर्णन है। कृति की भाषा काव्यमय एवं प्रवाहयुक्त है। इसकी सवत् १५७१ मे लिखित एक प्रति आमेर शास्त्र भण्डार जयपुर मे सग्रहीत है।

७ मल्लिनाथ चरित्र—२०वें तीर्थंकर मल्लिनाथ के जीवन पर यह एक छोटा सा प्रबन्ध काव्य है जिसमें ७ सर्ग है।

८. पार्श्वनाथ चरित्र—इसमे २३वें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ के जीवन का वर्णन है। यह एक २३ सर्गवाला सुन्दर काव्य है। मगलाचरण के पश्चात् कुन्दकुन्द, अकलंक, समन्तभद्र, जिनसेन आदि आचार्यो को स्मरण किया गया है।

वायुभूति एव मरुभूति ये दोनो सगे भाई थे लेकिन शुभ एवं अशुभ कर्मों के चक्कर से प्रत्येक भव मे एक का किस तरह उत्थान होता रहता है और दूसरे का घोर पतन—इस कथा को इस काव्य मे अति सुन्दर रीति से वर्णन किया गया है। वायुभूति

अन्त में पार्श्वनाथ बनकर निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं तथा जगत्पूज्य बन जाते हैं। भाषा सीधी, सरल एवं अलंकारमयी है।

९. सुदर्शन चरित्र—इस प्रबन्ध काव्य में सेठ सुदर्शन के जीवन का वर्णन किया गया है जो आठ परिच्छेदों में पूर्ण होता है। काव्य की भाषा सुन्दर एवं प्रभावयुक्त है।

१०. सुकुमाल चरित्र—यह एक छोटा-सा प्रबन्ध काव्य है जिसमें मुनि सुकुमाल के जीवन का पूर्व भव सहित वर्णन किया गया है। पूर्व में हुआ वैर-भाव किस प्रकार अगले जीवन मे भी चलता रहता है इसका वर्णन इस काव्य में सुन्दर रीति से हुआ है। इसमें सुकुमाल के वैभवपूर्ण जीवन एवं मुनि अवस्था की घोर तपस्या का अति सुन्दर एवं रोमाचकारी वर्णन मिलता है। पूरे काव्य में ९ सर्ग हैं।

११ मूलाचार प्रदीप—यह आचार शास्त्र का ग्रन्थ है जिसमें जैन साधु के जीवन में कौन-कौन-सी क्रियाओ की साधना आवश्यक है—इन क्रियाओं का स्वरूप एवं उनके भेद-प्रभेदों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। इसमे १२ अधिकार है जिनमें २८ मुलगुण,[१] पचाचार,[२] दशलक्षण धर्म,[३] बारह अनुप्रेक्षा[४] एव बारह तप[५] आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है।

१२ सिद्धान्तसार दीपक—यह करणानुयोग का ग्रन्थ है। इसमें ऊर्ध्वलोक, मध्य-लोक,पाताल लोक एव उनमे रहनेवाले देवो, मनुष्यो, तिर्यंचो और नारकियो का विस्तृत वर्णन है। इसमे जैन सिद्धान्तानुसार सारे विश्व का भूगोलिक एवं खगोलिक वर्णन आ जाता है। इसका रचना काल सं. १४८१ है, रचना स्थान है—बगली नगर। प्रेरक थे इसके ब्र० जिनदास।

जैन सिद्धान्त की जानकारी के लिए यह बडा उपयोगी है। ग्रन्थ १६ सर्गो मे है।

१३ वर्द्धमान चरित्र—इस काव्य मे अन्तिम तीर्थंकर महावीर वर्द्धमान के पावन जीवन का वर्णन किया गया है। प्रथम ६ सर्गों मे महावीर के पूर्व भवो का एवं शेष १३ अधिकारो मे गर्भ कल्याणक से लेकर निर्वाण प्राप्ति तक विभिन्न लोकोत्तर घटनाओ का विस्तृत वर्णन मिलता है। भाषा सरल किन्तु काव्यमय है। वर्णन शैली

---

१ २८ मूलगुण—पंच महाव्रत, पच समिति, तीन गुप्ति, पंचेन्द्रिय निरोध, षडावश्यक, केशलोंच, अचेलक, अस्नान, दन्त अधोवन।

२. पचाचार—दर्शन, ज्ञान, चारित्र तप एव वीर्य।

३ दशलक्षण धर्म—क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य एवं ब्रह्मचर्य।

४. बारह अनुप्रेक्षा—अनित्य, अशरण, ससार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, सवर, निर्जरा, लोक, बोध दुर्लभ एव धर्म।

५ बारह तप—अनशन, अवमौदर्य, व्रतपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, ध्यान।

अच्छी है। कवि जिस किसी वर्णन को जब प्रारम्भ करता है तो वह फिर उसी में मस्त हो जाता है। रचना सम्भवत. अभी तक अप्रकाशित है।

१४. यशोधर चरित्र—राजा यशोधर का जीवन जैन समाज में बहुत प्रिय रहा है। इसलिए इस पर विभिन्न भाषाओं में कितनी ही कृत्तियाँ मिलती हैं। सकलकीर्ति की यह कृति संस्कृत भाषा की सुन्दर रचना है। इसमें आठ सर्ग हैं। इसे हम एक प्रबन्ध काव्य कह सकते है।

१५. सद्भाषितावलि—यह एक छोटा-सा सुभाषित ग्रन्थ है जिसमें धर्म, सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, इन्द्रियजय, स्त्री सहवास, काम सेवन, निर्ग्रन्थ सेवा, तप, त्याग, राग, द्वेष, लोभ आदि विषयो पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। भाषा सरल एवं मधुर है।

१६. श्रीपाल चरित्र—यह सकलकीर्ति का एक काव्य ग्रन्थ है जिसमें ७ परिच्छेद है। कोटिभट श्रीपाल का जीवन अनेक विशेषताओ से भरा पडा है। राजा से कुष्ठी होना, समुद्र मे गिरना, सूली पर चढना आदि कितनी ही घटनाएँ उसके जीवन मे एक के बाद दूसरी आती है जिनसे उसका सारा जीवन नाटकीय बन जाता है। सकलकीर्ति ने इसे बडी सुन्दर रीति से प्रतिपादित किया है। इस चरित्र की रचना कर्मफल सिद्धान्त की पुरुषार्थ से अधिक विश्वसनीय सिद्ध करने के लिए की गयी है। मानव ही क्या विश्व के सभी जीवधारियो का सारा व्यवहार उसके द्वारा उपार्जित पाप-पुण्य पर आधारित है। उसके सामने पुरुषार्थ कुछ भी नही कर सकता। काव्य पठनीय है।

१७ शान्तिनाथ चरित्र—शान्तिनाथ १६वें तीर्थंकर थे। तीर्थंकर के साथ-साथ वे कामदेव एवं चक्रवर्ती भी थे। उनके जीवन की विशेषताएँ बतलाने के लिए इस काव्य की रचना की गयी है। काव्य मे १६ अधिकार है तथा ३४७५ श्लोक सख्या प्रमाण हैं। इस काव्य को महाकाव्य की सज्ञा मिल सकती है। भाषा आलकारिक एवं वर्णन प्रभावमय है। प्रारम्भ में कवि ने श्रृगार-रस से ओत-प्रोत काव्य की रचना क्यो करनी चाहिए—इस पर अच्छा प्रकाश डाला है। काव्य सुन्दर एव पठनीय है।

१८. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार—इस कृति में श्रावको के आचार-धर्म का वर्णन है। श्रावकाचार २४ परिच्छेदो में विभक्त है, जिसमे आचार शास्त्र पर विस्तृत विवेचन किया गया है। भट्टारक सकलकीर्ति स्वय मुनि भी थे इसलिए उनसे श्रद्धालु भक्त आचार-धर्म के विषय मे विभिन्न प्रश्न प्रस्तुत करते होगे—इसलिए उन सबके समाधान के लिए कवि ने इस ग्रन्थ का निर्माण किया। भाषा एवं शैली की दृष्टि से रचना सुन्दर एव सुरक्षित है। कृति मे रचनाकाल एव रचना स्थान नही दिया गया है।

१९ पुराणसार संग्रह—प्रस्तुत पुराण सग्रह मे ६ तीर्थंकरो के चरित्रो का संग्रह है और ये तीर्थंकर है—आदिनाथ, चन्द्रप्रभ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं

महावीर वर्द्धमान। भारतीय ज्ञानपीठ की ओर से पुराणसार संग्रह प्रकाशित हो चुका है। प्रत्येक तीर्थंकर का चरित अलग-अलग सर्गों में विभक्त है जो निम्न प्रकार है—

आदिनाथ चरित	५ सर्ग
चन्द्रप्रभ चरित	१ सर्ग
शान्तिनाथ चरित	६ सर्ग
नेमिनाथ चरित	५ सर्ग
पार्श्वनाथ चरित	५ सर्ग
महावीर चरित	५ सर्ग

२० व्रतकथा कोष—व्रतकथा कोष की एक हस्तलिखित प्रति जयपुर के पाटोदी के मन्दिर भण्डार में संग्रहीत है। इनमें विभिन्न व्रतो पर आधारित कथाओ का संग्रह है। ग्रन्थ की पूरी प्रति उपलब्ध नहीं होने से अभी तक यह निश्चित नही हो सका कि भट्टारक सकलकीर्ति ने कितनी व्रत कथाएँ लिखी थी।

२१ परमात्मराज स्तोत्र—यह एक लघु स्तोत्र है, जिसमें १६ पद्य है। स्तोत्र सुन्दर एवं भावपूर्ण है। इसकी १ प्रति जयपुर के दिगम्बर जैन मन्दिर पाटोदी के शास्त्र भण्डार में संग्रहीत है।

उक्त संस्कृत कृतियो के अतिरिक्त पंचपरमेष्ठी पूजा, अष्टाह्निका पूजा, सोलहकारण पूजा, गणधरवलय पूजा, द्वादशानुप्रेक्षा एवं सारचतुर्विंशतिका आदि और कृतियां है जो राजस्थान के शास्त्र-भण्डारों में उपलब्ध होती है। ये सभी कृतियां जैन समाज मे लोकप्रिय रही है तथा उनका पठन-पाठन भी खूब रहा है।

भट्टारक सकलकीर्ति की उक्त संस्कृत रचनाओ में कवि का पाण्डित्य स्पष्ट रूप से झलकता है। उनके काव्यो में उसी तरह की शैली, अलंकार, रस एवं छन्दो की परियोजना उपलब्ध होती है जो अन्य भारतीय संस्कृत काव्यों में मिलती है। उनके चरित काव्यो के पढ़ने से अच्छा रसास्वादन मिलता है। चरित काव्यो के नायक त्रेसठशलाका के लोकोत्तर महापुरुष हैं जो अतिशय पुण्यवान् हैं, जिनका सम्पूर्ण जीवन अत्यधिक पावन है। सभी काव्य शान्तरसपर्यवसानी है।

काव्य ज्ञान के समान भट्टारक सकलकीर्ति जैन सिद्धान्त के महान् वेत्ता थे। उनका मूलाचार प्रदीप, प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, सिद्धान्तसार दीपक एवं तत्त्वार्थसार दीपक तथा कर्मविपाक-जैसी रचनाएँ उनके अगाध ज्ञान के परिचायक है। इसमें जैन सिद्धान्त, आचार-शास्त्र एवं तत्त्वचर्चा के उन गूढ रहस्यों का निचोड है जो एक महान् विद्वान् अपनी रचनाओं में भर सकता है।

इसी तरह सद्भाषितावलि उनके सर्वांग ज्ञान का प्रतीक है—जिसमें सकलकीर्ति ने जगत् के प्राणियो को सुन्दर शिक्षाएँ भी प्रदान की हैं, जिससे वे अपना आत्मकल्याण भी करने की ओर अग्रसर हो सके। वास्तव में वे सभी विषयो के पारगामी विद्वान् थे—ऐसे सन्त विद्वान् को पाकर कौन देश गौरवान्वित नही होगा।

राजस्थानी रचनाएँ

सकलकीर्ति ने हिन्दी में बहुत ही कम रचना निबद्ध की है। इसका प्रमुख कारण सम्भवतः इनका संस्कृत भाषा की ओर अत्यधिक प्रेम था। इसके अतिरिक्त जो भी इनकी हिन्दी रचनाएँ मिली हैं वे सभी लघु रचनाएँ हैं जो केवल भाषा अध्ययन की दृष्टि से ही उल्लेखनीय कही जा सकती है। सकलकीर्ति का अधिकाश जीवन राजस्थान में व्यतीत हुआ था इसलिए इनकी रचनाओ में राजस्थानी भाषा की स्पष्ट छाप दिखलाई देती है।

१. णमोकार फल गीत—यह इनकी प्रथम हिन्दी रचना है। इसमें णमोकार मन्त्र का माहात्म्य एवं उसके फल का वर्णन है। रचना कोई विशेष बडी नही है। केवल १५ पद्यो में ही वर्णित विषय पूरा हो जाता है। कवि ने उदाहरणों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि णमोकार मन्त्र का स्मरण करने से अनेक विघ्नों को टाला जा सकता है। जिन पुरुषो के इस मन्त्र का स्मरण करने से विघ्न दूर हुए हैं उनके नाम भी गिनाये हैं। तथा उनमें धरणेन्द्र, पद्मावती, अजन चोर, सेठ सुदर्शन एवं चारुदत्त उल्लेखनीय है। कवि कहता है—

सर्व जुगल तापमि ह्व्यो पार्श्वनाथ जिनेन्द्र।
णमोकार फल लहीहुउ पंथियडारे पद्मावती धरणेन्द्र।
चोर अजन सूली धर्यो, श्रेष्ठि दियो णमोकार।
देवलोक जाइ करी, पंथियडारे सुख भोगवे आपार।
चारूदत्त श्रेष्ठि दियो घाला ने णमोकार।
देव भवनि देवज हुहो, सुखन विलासई पार॥
ग्रह डाकिनी शाकिणी फणी, व्याधिवह्नि जलराशि।
सकल बन्धन तूटए पंथियडारे विघ्न सबे जावे नाशि॥

कवि अन्त मे इस रचना को इस प्रकार समाप्त करता है—

चउबीसी अमंत्र हुई, महापंथ अनादि
सकलकीरति गुरु इम कहे,
पंथियडारे कोइ न जाणई
आदि जीवड लारे भव सागरि एह नाव।

२. आराधना प्रतिबोधसार—यह इनकी दूसरी हिन्दी रचना है। प्राकृत भाषा मे निबद्ध आराधनासार का कवि ने भाव मात्र लिखने का प्रयत्न किया है। इसमें सब मिलाकर ५५ पद्य है। प्रारम्भ में कवि ने णमोकार मन्त्र की प्रशसा की है तत्पश्चात् सयम को जीवन मे उतारने के लिए आग्रह किया है। संसार को क्षणभंगुर बताते हुए सम्राट् भरत, बाहुबलि, पाण्डव, रामचन्द्र, सुग्रीव, सुकुमाल, श्रीपाल आदि महापुरुषो के जीवन से शिक्षा लेने का उपदेश दिया है। इस प्रकार आगे तीर्थ क्षेत्रो का उल्लेख करते

हुए मनुष्य को अणुव्रत आदि पालने के लिए कहा गया है। इन सबका संक्षिप्त वर्णन है। रचना सुन्दर एवं सुपाठ्य है। रचना के सुन्दर पद्यों का रसास्वादन करने के लिए यहाँ दिया जाता है—

तप प्रायश्चित व्रत करि शोध, मन, वचन काया निरोधि।
तुं क्रोध माया मद छांडि, आपणंपु सयलइ मांड़ि॥
गया जिणवर जगि चउबीस, नहि रहि आवार चकीस।
गया बलिभद्र, न व्वर वीर, नव नारायण गया धीर॥
गया भरतेस देइ दानं, जिन शासन थापिय मानं।
गयो बाहुबलि जगमाल, जिणे हुइ न राल्यु साल॥
गया रामचन्द्र राणी रंगि, जिण सांचु जस अभंग।
गयो कुम्भकरण जगिसार, जिणो लियो तु महाव्रत भार॥

जे जात्रा करि जग मोहि, संभारै ते मन मांहि।
गिरनारी गयु तुं धीर, संभारिह बडावीर॥
पाँवा गिरि पुन्य भंडार, संभारै हवडा सार।
तारण तीरथ होइ, संभारै हवडा बडा जोइ॥
हवेइ पाचमो व्रत प्रतिपालि, तू परिग्रह दूरिय टालि।
हो धन कंचन माँह मोल्हि, सतोषीइं माँह समेल्हि॥
हवई चहुँगति फेरो टालि, मन जाति चहुँ दिशि बार।
हो नरगि दुख न विसार, तेह केता कहूँ अविचार॥

अन्त मे कवि ने रचना को इस प्रकार समाप्त किया है—

जे भणई सुणई नर नारि, ते जाइं भवनेइ पारि।
श्री सकलकीर्ति कहनुं विचार, आराधना प्रतिबोधसार॥

३ सारसीखामणिरास—सारसीखामणिरास राजस्थानी भाषा की लघु किन्तु सुन्दर कृति है। इसमे प्राणी मात्र के लिए शिक्षाप्रद सन्देश दिये गये हैं। रास में चार ढालें तथा तीन वस्तुबन्ध छन्द है। इनकी एक प्रति नैणवाँ (राजस्थान) के दिगम्बर मन्दिर बघेरवालो के शास्त्र भण्डार में संग्रहीत एक गुटके में लिपिबद्ध है। गुटका की प्रतिलिपि सवत् १६४४ वैशाख सुदी १५ को समाप्त हुई थी। इसी गुटके मे सोमकीर्ति, ब्रह्म यशोधर आदि कितने ही प्राचीन सन्तो के पाठों का संग्रह है। लिपिस्थान रणथम्भोर है जो उस समय भारत के प्रसिद्ध दुर्गों मे से एक माना जाता था। रास पाँच पत्रो में पूर्ण होता है। सर्वप्रथम कवि ने कहा कि यह सुन्दर देह बिना बुद्धि के बेकार है इसलिए सदैव सत् साहित्य का अध्ययन करना चाहिए। जीवन को संयमित बनाना चाहिए तथा अन्धविश्वासों में कभी नही पडना चाहिए। जीव दया की महत्ता को कवि ने निम्न शब्दों में व्यक्त किया है—

जीव दया द्रढ पालीइए, मन कोमल कीजि ।
आप सरीखा जीव सबै, मन माँहि धरीजइ ।।

असत्य वचन कभी नही बोलना चाहिए और न कर्कश तथा मर्मभेदी शब्द जिनसे दूसरो के हृदय में ठेस पहुँचे । किसी को पुण्य कार्य करते हुए नही रोकना चाहिए तथा दूसरो के अवगुणो को ढककर गुणों को प्रकट करना चाहिए ।

झूठा वचन न बोलीइए, ए करकस परिहए ।
मरम मे बोलु किहि तथा, ए चाडी मन करू ।।
धर्म करता न वारीइए, नवि पर नन्दीजि ।
परगुण ढांकी आप तणा, गुण नवि बोलीजइ ।।

सदैव त्याग को जीवन मे अपनाना चाहिए । आहारदान, औषधदान, साहित्यदान एवं अभयदान आदि के रूप मे कुछ न कुछ देते रहना चाहिए । जीवन इसी से निखरता है एवं उसमें परोपकार करते रहने की भावना उत्पन्न होती है ।

४ मुक्तावलि गीत—यह एक लघु गीत है जिसमें मुक्तावलि व्रत की कथा एवं उसके माहात्म्य का वर्णन है । रचना की भाषा राजस्थानी है जिसमे गुजराती भाषा के शब्दो का प्रयोग भी हुआ है । रचना साधारण है तथा वह केवल १५ पद्यो मे पूर्ण होती है ।

५. सोलहकारण रास—यह कवि की एक कथात्मक कृति है जिसमे सोलहकारण व्रत के माहात्म्य पर प्रकाश डाला गया है । भाषा की दृष्टि से यह रास अच्छी रचना है । कृति के अन्त मे सकलकीर्ति ने अपने आपको मुनि विशेषण से सम्बोधित किया है । इससे ज्ञात होता है कि यह उनकी प्रारम्भिक कृति होगी । रास का अन्तिम भाग निम्न प्रकार है—

एक चिति जे व्रत करइ, नर अहवा नारी ।
तीर्थंकर पद सो लहइ, जो समकित धारी ।।
सकलकीर्ति मुनि रासु कियउए सोलहकारण ।
पडहि गुणहि जो सांभल्हि तिन्ह सिव सुह कारण ।।

६ शान्तिनाथ फागु—इस कृति को खोज निकालने का श्रेय श्री कुन्दनलाल जैन को है । इस फागु काव्य मे शान्तिनाथ तीर्थंकर का संक्षिप्त जीवन वर्णित है । हिन्दी के साथ कही-कही प्राकृत गाथा एवं संस्कृत श्लोक भी प्रयुक्त हुए है । फागु की भाषा सरल एव मनोहारी है ।

भट्टारक शुभचन्द्र

[संवत् १४५० से १५१६ तक]

शुभचन्द्र के नाम से कितने ही आचार्य, भट्टारक, मुनि हुए हैं जिन्होंने साहित्य एवं संस्कृति की अपार सेवा की है। इनमे ११वी, १२वी शताब्दी मे होनेवाले आचार्य शुभचन्द्र का नाम उल्लेखनीय है जिन्होने ज्ञानार्णव-जैसे लोकप्रिय ग्रन्थ की रचना की थी। दूसरे शुभचन्द्र भट्टारक थे जो भ पद्मनन्दि के शिष्य थे और जिनके सम्बन्ध में यहाँ परिचय दिया जा रहा है। तीसरे शुभचन्द्र भी भट्टारक थे जो सकलकीर्ति की परम्परा मे होनेवाले भ. विजयकीर्ति के शिष्य थे। चौथे शुभचन्द्र मुनि थे जो आमेर गादी के भट्टारक जगत्कीर्ति के शिष्य थे। और जिनकी हिन्दी भाषा मे निबद्ध होली कथा की एक पाण्डुलिपि दिगम्बर जैन मन्दिर राजमहल (टोक) के शास्त्र भण्डार में सग्रहीत है। इस कृति का रचनाकाल सवत् १७५५ चैत्र वदी सप्तमी है। पाँचवें शुभचन्द्र (सवत् १५३०) भट्टारक कमलकीर्ति के शिष्य थे जो काष्ठासंघ माथुर गच्छ के भट्टारक थे। छठे शुभचन्द्र भट्टारक हर्षचन्द्र के शिष्य थे जिनका महाराष्ट्र प्रदेश से सम्बन्ध था।

प्रस्तुत भट्टारक शुभचन्द्र भ. प्रभाचन्द्र (प्रथम) के प्रशिष्य एवं भट्टारक पद्मनन्दि के शिष्य थे। ये मूलसंघ-बलात्कार गण-सरस्वतीगच्छ के भट्टारक थे। भट्टारक शुभचन्द्र का यह समारोह भट्टारक पद्मनन्दि के स्वर्गवास के तत्काल बाद देहली मे ही सम्पन्न हुआ था। एक भट्टारक पट्टावलि के अनुसार उस दिन संवत् १४५० माघ सुदी ५ का शुभ दिन था। ये जाति से ब्राह्मण थे। १९ वर्ष की अवस्था मे इन्होने घर-बार छोड दिया और २४ वर्ष के लम्बे समय तक इन्हे पद्मनन्दि के चरणकमलो मे रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। पट्टाभिषेक के समय उनकी ४३ वर्ष की अवस्था थी। सुन्दरता एवं लावण्य शरीर से फूट पडता था। गौरवर्ण एवं आकर्षक व्यक्तित्व के कारण ये सहज ही मे जनता को अपनी ओर लुभा लेते थे।

शुभचन्द्र का भट्टारक बनने के पूर्व का नाम क्या था तथा इनके परिवार में कौन-कौन सदस्य थे इसके बारे में कोई उल्लेख नही मिलता। इनके एक भाई का नाम मदनदेव था जिनके पढने के लिए सन् १४४० (संवत् १४९७) में मकचन्द्रकार ग्रन्थ की प्रतिलिपि की गयी थी।

व्यक्तित्व—शुभचन्द्र अनोखे व्यक्तित्व के धनी थे। उनके पश्चात् होनेवाले विभिन्न विद्वानों ने उनकी विद्वत्ता, वक्तृत्वकला, दार्शनिकता के सम्बन्ध मे काफी अच्छा

लिखा है। शुभचन्द्र के शिष्य एवं भ. जिनचन्द्र के शिष्य मुनि रत्नकीर्ति ने प्रवचनसार-प्राभृत की संस्कृत में टीका लिखो थी। इन्होंने भट्टारक शुभचन्द्र को यहाँ भोजमार्तण्ड लिखा है। पं मोघावी भट्टारक जिनचन्द्र के शिष्य थे। उन्होंने संवत् १५४१ में धर्म संग्रह श्रावकाचार की रचना की थी। इस ग्रन्थ की प्रशंसा में उन्होने भट्टारक शुभचन्द्र की अत्यधिक प्रशंसा की है। उनके अनुसार शुभचन्द्र प्रतिष्ठा विधान कराने में तथा धर्म की कथा कहने में अत्यधिक निपुण थे। इन्होंने जैनदर्शन एवं धर्म का उसी तरह प्रकाश किया था जिस प्रकार रात्रि को चन्द्रमा की किरणे आकाश मे प्रकाश फैला देती है। शुभचन्द्र वक्तृत्वकला में निपुण थे तथा जैन दर्शन के निष्णात पण्डित थे। उनसे तत्कालीन विद्वान् अष्टसहस्री पढा करते थे। वे चारित्र के धनी थे तथा तर्कशक्ति में न्याय वादियो के प्रमुख बन गये थे। बिजोलिया के शिलालेख मे इन्हे विद्वानो का सेवक लिखा है।

चित्तौड़ में गादी का स्थानान्तरण

२२ वर्ष तक भट्टारक रहने के पश्चात् देहली इन्हें अपने लिए उपयुक्त नगर नही लगा। मुसलिम शासको के आये दिन के झगडो एव उनकी धर्मान्धता के कारण इन्हे अपनी गादी का वहाँ से चित्तौड मे स्थानान्तरण करना पडा तथा सन् १४१५ मे इन्होने वहाँ मूलसघ की भट्टारक गादी को विधिवत् स्थापना कर दी। तथा वही से जैन धर्म, साहित्य एवं सस्कृति के विकास मे योग देने लगे।

चित्तौड उस समय राजस्थान का ही नही समस्त उत्तरी भारत का प्रसिद्ध नगर था। वहाँ के शासको की वीरता एवं पराक्रम के कारण मुसलिम शासक सहज ही मे उस पर आक्रमण करने मे डरते थे। इसलिए दिगम्बर एव श्वेताम्बर दोनो ही सम्प्रदायो के साधुओ ने उसे अपनी गतिविधियो का केन्द्र बनाया।

उस समय सबसे अधिक आकर्षण मन्दिर निर्माण, प्रतिष्ठा विधान एवं धार्मिक समारोहो के आयोजन मे ही था तथा भट्टारक शुभचन्द्र ने भी इस ओर ध्यान दिया और सवत् १४८०, १४८३ आदि सवतो मे कितनी प्रतिष्ठा समारोहो का संचालन किया।

शुभचन्द्र का राजस्थान मे जबरदस्त प्रभाव था। राजस्थान की प्रत्येक धार्मिक एव सास्कृतिक गतिविधियो मे उनका निर्देशन प्राप्त होता था। आवाँ की एक पहाडी पर उनकी एक निषेधिका बनी हुई है तथा टोडारामसिंह मे भी इनकी निषेधिका इस बात की ओर सकेत देती है कि उनकी कीर्ति एव यशोगाथा सारे राजस्थान मे व्याप्त थी। एक पट्टावलि मे उनका 'शुभ्रैर्जनै वन्दिता' इस विशेषण से स्तवन किया गया है। इन्होने लम्बे समय तक सारे देश मे सास्कृतिक जागृति बनाये रखने और अपने आकर्षक व्यक्तित्व के प्रभाव से सारे राजस्थान पर छाये रहे। सवत् १५०७ तक ये भट्टारक पद पर आसीन रहे और इस प्रकार ५७ वर्ष तक भट्टारक पद पर रहते हुए देश एव समाज की जो महान् सेवाएँ की उससे सारा समाज उनका चिरस्मरणीय रहेगा।

भट्टारक जिनचन्द्र

[संवत् १५०७ से १५७१ तक]

भट्टारक जिनचन्द्र १६वी शताब्दी के प्रसिद्ध भट्टारक एवं जैन सन्त थे। भारत की राजधानी देहली मे भट्टारकों की प्रतिष्ठा बढ़ाने में इनका प्रमुख हाथ रहा था। यद्यपि देहली में ही इनकी भट्टारक गादी थी लेकिन वहाँ से ही ये सारे राजस्थान का भ्रमण करते और साहित्य एवं सस्कृति का प्रचार करते। इनके गुरु का नाम शुभचन्द्र था और उन्ही के स्वर्गवास के पश्चात् संवत् १५०७ की जेष्ठ कृष्णा ५ को इनका बड़ी धूम-धाम से पट्टाभिषेक हुआ। एक भट्टारक पट्टावली के अनुसार इन्होने १२ वर्ष की आयु से ही घर-बार छोड दिया और भट्टारक शुभचन्द्र के शिष्य बन गये। १५ वर्ष तक इन्होने शास्त्रो का खूब अध्ययन किया। भाषण देने एवं वाद-विवाद करने की कला सीखी तथा २७वें वर्ष मे इन्हे भट्टारक पद पर अभिषिक्त कर दिया गया। जिनचन्द्र ६४ वर्ष तक इस महत्त्वपूर्ण पद पर आसीन रहे। इतने लम्बे समय तक भट्टारक पद पर रहना बहुत कम सन्तो को मिल सका है। वे जाति से बघेरवाल जाति के श्रावक थे।

जिनचन्द्र राजस्थान, उत्तर प्रदेश, पंजाब एवं देहली प्रदेश मे खूब विहार करते। जनता को वास्तविक धर्म का उपदेश देते। प्राचीन ग्रन्थों की नयी-नयी प्रतियाँ लिखवाकर मन्दिरो मे विराजमान करवाते, नये-नये ग्रन्थो का स्वयं निर्माण करते तथा दूसरो को इस ओर प्रोत्साहित करते। पुराने मन्दिरो का जीर्णोद्धार करवाते तथा स्थान-स्थान पर नयी-नयी प्रतिष्ठाएँ करवाकर जैन धर्म एव सस्कृति का प्रचार करते। आज राजस्थान के प्रत्येक दिगम्बर जैन मन्दिर मे इनके द्वारा प्रतिष्ठित एक-दो मूर्तियाँ अवश्य मिलेंगी। संवत् १५४८ मे जीवराज पापडीवाल ने जो बडी भारी प्रतिष्ठा करवायी थी वह सब इनके द्वारा ही सम्पन्न हुई थी। उस प्रतिष्ठा में सैकडों ही नही हजारो मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित करवाकर राजस्थान के अधिकाश मन्दिरो मे विराजमान की गयी थी। आवाँ (टोक, राजस्थान) मे एक मील पश्चिम की ओर एक छोटी-सी पहाड़ी पर नसियाँ है जिसमे भट्टारक शुभचन्द्र, जिनचन्द्र एवं प्रभाचन्द्र की निषेधिकाएँ स्थापित की हुई है। ये तीनो निषेधिकाएँ संवत् १५९३ ज्येष्ठ सुदी ३ सोमवार के दिन भट्टारक प्रभाचन्द्र के शिष्य मण्डलाचार्य धर्मचन्द्र ने साह कालू एवं इसके चार पुत्र एवं पौत्रो के द्वारा स्थापित करायी थीं। भट्टारक जिनचन्द्र की निषेधिका की ऊँचाई एवं चौडाई १४½ फ़ीट × ९ इंच है।

इसी समय आवाँ मे एक बडी भारी प्रतिष्ठा भी हुई थी जिसका ऐतिहासिक लेख वहीं के एक शान्तिनाथ के मन्दिर में लगा हुआ है। लेख संस्कृत मे है और उसमें भट्टारक जिनचन्द्र का निम्न शब्दो मे यशोगान किया गया है—

तत्पट्टस्थपरो धीमान् जिनचन्द्रः सुतत्त्ववित्।
अभूदस्मिन् च विख्यातो ध्यानार्थी दग्धकर्मकः ॥

साहित्य सेवा

जिनचन्द्र का प्राचीन ग्रन्थो के नवीनीकरण की ओर विशेष ध्यान था। इसलिए इनके द्वारा लिखवायी गयी कितनी ही हस्तलिखित प्रतियाँ राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारो मे उपलब्ध होती है। संवत् १५१२ की आषाढ कृष्ण १२ को नेमिनाथ चरित की एक प्रति लिखी गयी थी जिसे इन्हे घोघा बन्दरगाह मे नयनन्दि मुनि ने समर्पित की थी।[1] संवत् १५१५ मे नैणवा नगर मे इनके शिष्य अनन्तकीर्ति द्वारा नरसेनदेव की सिद्धचक्र कथा (अपभ्रंश) की प्रतिलिपि श्रावक नाराइण के पठनार्थ करवायी। इसी तरह सवत् १५२१ मे ग्वालियर मे पउमचरिउ की प्रतिलिपि करवाकर नेत्रनन्दि मुनि को अर्पण की गयी।[2] सवत् १५५८ की श्रावण-शुक्ल १२ को इनकी आम्नाय मे ग्वालियर के महाराजा मानसिंह के शासन काल में नागकुमार चरित की प्रति लिखवायी गयी।

मूलाचार की एक लेखक प्रशस्ति मे भट्टारक जिनचन्द्र की निम्न शब्दो में प्रशंसा की गयी है—

तदीयपट्टाम्बरभानुमाली क्षमादिनानागुणरत्नशाली।
भट्टारकश्रीजिनचन्द्रनामा सैद्धान्तिकाना भुवि योऽस्ति सीमा ॥

इसकी प्रति को संवत् १५१६ में झुंझनु (राजस्थान) मे साह पार्श्व के पुत्रो ने श्रुतपचमी उद्यापन पर लिखवायी थी। सवत् १५१७ मे झुझुणु मे ही तिलोयपण्णत्ति की प्रति लिखवायी गयी थी। प. मेधावी इनका एक प्रमुख शिष्य था जो साहित्य रचना मे विशेष रुचि रखता था। इन्होने नागौर मे धर्मसग्रहश्रावकाचार की सवत् १५४१ मे रचना समाप्त की थी। इसकी प्रशस्ति मे विद्वान् लेखक ने जिनचन्द्र की निम्न शब्दो मे स्तुति की है—

तस्मान्नीरनिधेरिवेन्दुरभवच्छ्रीमज्जिनेन्द्राग्रणी
स्याद्वादाम्बरमण्डले कृतगतिर्दिग्वाससा मण्डन।
यो व्याख्यानमरीचिभि कुवलये प्रह्लादन चक्रिवान्
सद्वृत्त. सकलकलंकविकल. षट्तर्कनिष्णातधी· ॥१२॥

---

१. देखिए भट्टारक पट्टावली, पृष्ठ सख्या १०८।
२. वही।

स्वयं भट्टारक जिनचन्द्र की अभी तक कोई महत्त्वपूर्ण रचना उपलब्ध नहीं हो सकी है लेकिन देहली, हिसार, आगरा आदि के शास्त्र भण्डारों की खोज के पश्चात् सम्भवतः कोई इनकी बड़ी रचना भी उपलब्ध हो सके। अबतक इनकी जो दो रचनाएँ उपलब्ध हुई है उनके नाम हैं सिद्धान्तसार और जिनचतुर्विंशति स्तोत्र। सिद्धान्तसार एक प्राकृत भाषा का ग्रन्थ है और उसमें जिनचन्द्र के नाम से निम्न प्रकार उल्लेख हुआ है[1] —

जिनचतुर्विंशति स्तोत्र की एक प्रति जयपुर के विजयराम पाण्ड्या के शास्त्र भण्डार के एक गुटके में संग्रहीत है। रचना संस्कृत में है और उसमे चौबीस तीर्थंकरो की स्तुति की गयी है।

प्रतिष्ठा समारोह

सर्वप्रथम इन्होंने संवत् १५०२ में वैशाख सुदी ३ के शुभ दिन पार्श्वनाथ प्रतिमा की प्रतिष्ठा सम्पन्न करवायी थी।[2] इसके अगले वर्ष संवत् १५०३ मे मार्गशिर सुदी पंचमी को इनके द्वारा प्रतिष्ठापित चौबीसी की एक प्रतिमा जयपुर के एक मन्दिर मे विराजमान है।[3] संवत् १५०४ में भट्टारक जिनचन्द्र नगर (राजस्थान) पधारे और वहाँ बघेरवाल समाज के प्रमुख बीसल एवं उनके परिवार द्वारा आयोजित प्रतिष्ठा मे सम्मिलित हुए। यहाँ इन्होने भगवान् अजितनाथ की एक प्रतिमा की प्रतिष्ठा सम्पन्न करवायी।[4] सवत् १५०९ में इन्होने घोघे ग्राम में शान्तिनाथ प्रतिमा की स्थापना की।[5] इसी वर्ष इनके शिष्य आचार्य विद्यानन्दि ने चौबीस प्रतिमा की विधिपूर्वक प्रतिष्ठा करवायी।[6]

भट्टारक जिनचन्द्र खण्डेलवाल एवं बघेरवाल जाति के श्रावको द्वारा अधिक सम्मानित थे। इसलिए उक्त जाति के श्रावको द्वारा आयोजित अधिकाश प्रतिष्ठा समारोहो मे वे ससम्मान सम्मिलित होते थे। सवत् १५२३ एवं १५२७ में बघेरवाल श्रावको द्वारा जो समारोह आयोजित हुए थे उनमे भट्टारक जिनचन्द्र अपने सघ के साथ पधारे थे और समारोहो में विशेष आकर्षण पैदा किया था। संवत् १५४८ मे वैशाख सुदी ३ के शुभदिन मुडासा शहर मे सबसे बडो प्रतिष्ठाविधि सम्पन्न हुई। भट्टारक जिनचन्द्र ने इस प्रतिष्ठा मे विशेष रुचि ली और हजारो मूर्तियों की प्रतिष्ठा करवाकर

१ पवयणपमाणलक्खण छंदालंकार रहियहियएण।
जिणाइंदेण पउत्त इणमागमभत्तिजुत्तेण ॥७८॥
(माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई)

२ मूर्तिलेख सग्रह, प्रथम भाग, पृष्ठ सख्या १६३।

३ ,, ,, पृष्ठ सख्या ६८।

४ ,, ,, पृष्ठ सख्या १७६।

५ राजस्थान के जैन सन्त पृष्ठ सख्या १८२।

६. मूर्तिलेख संग्रह, प्रथम भाग, पृष्ठ सख्या १७५।

राजस्थान के ही नही किन्तु देश के विभिन्न मन्दिरों में विराजमान कीं। इस प्रतिष्ठा के आयोजक थे जीवराज पापडीवाल जो खण्डेलवाल जाति के सूर्य थे। वास्तव में जिनचन्द्र के जीवन में इतनी भारी प्रतिष्ठा इसके पूर्व कभी नहीं हुई थी। इस प्रतिष्ठा समारोह के सफल संचालन के कारण उनकी कीर्ति चारों ओर फैल गयी और जिनचन्द्र भट्टारक शिरोमणि बन गये।

शिष्य परिवार

भट्टारक जिनचन्द्र के शिष्यो में रत्नकीर्ति, सिहकीर्ति, प्रभाचन्द्र, जगत्कीर्ति, चारुकीर्ति, जयकीर्ति, भीमसेन, मेधावी आदि के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। रत्नकीर्ति ने संवत् १५७२ में नागौर (राजस्थान) में तथा सिहकीर्ति ने अटेर में स्वतन्त्र भट्टारक गादी की स्थापना की। जिससे सारे राजस्थान में भट्टारको का पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो गया। इस प्रकार जिनचन्द्र अपने समय के समर्थ भट्टारक रहे।

भट्टारक प्रभाचन्द्र द्वितीय

[संवत् १५७१ से १५९२ तक]

प्रभाचन्द्र के नाम से चार प्रसिद्ध भट्टारक हुए हैं। प्रथम भट्टारक प्रभाचन्द्र वालचन्द्र के शिष्य थे जो सेनगण के भट्टारक थे तथा जो १२वी शताब्दी में हुए थे। दूसरे प्रभाचन्द्र भट्टारक रत्नकीर्ति के शिष्य थे जो बलात्कारगण-उत्तर शाखा के भट्टारक बने थे। ये चमत्कारिक भट्टारक थे जिनका परिचय पहले दिया जा चुका है। तीसरे प्रभाचन्द्र भट्टारक जिनचन्द्र के शिष्य थे और चौथे प्रभाचन्द्र भट्टारक ज्ञानभूषण के शिष्य थे। यहाँ भट्टारक जिनचन्द्र के शिष्य भट्टारक प्रभाचन्द्र के जीवन पर प्रकाश डाला जा रहा है।

एक भट्टारक पट्टावली के अनुसार प्रभाचन्द्र खण्डेलवाल जाति के श्रावक थे और वैद इनका गोत्र था। ये १५ वर्ष तक गृहस्थ रहे। एक बार भट्टारक जिनचन्द्र विहार कर रहे थे कि उनकी दृष्टि प्रभाचन्द्र पर पड़ी। इनकी अपूर्व सूझ-बूझ एवं गम्भीर ज्ञान को देखकर जिनचन्द्र ने इन्हे अपना शिष्य बना लिया। यह कोई संवत् १५५१ की घटना होगी। २० वर्ष तक इन्हे अपने पास रखकर खूब विद्याध्ययन कराया और अपने से भी अधिक शास्त्रो का ज्ञाता तथा वाद-विवाद में पटु बना दिया। संवत् १५७१ की फाल्गुन कृष्णा २ को इनका देहली मे धूमधाम से पट्टाभिषेक हुआ। उस समय ये पूर्ण युवा थे और अपनी अलौकिल वाक् शक्ति एवं साधु स्वभाव से बरबस सबके हृदय को स्वतः ही आकृष्ट कर लेते थे। एक भट्टारक पट्टावलि के अनुसार ये २५ वर्ष तक भट्टारक रहे। श्री. वी पी जोहरापुरकर ने इन्हे केवल ९ वर्ष तक भट्टारक पद पर रहना लिखा है।[१] इन्होने अपने समय में ही मण्डलाचार्यों की नियुक्ति की। इनमें धर्मचन्द्र को प्रथम मण्डलाचार्य बनने का सौभाग्य मिला। संवत् १५९३ मे मण्डलाचार्य धर्मचन्द्र द्वारा प्रतिष्ठित कितनी ही मूर्तियाँ मिलती है। इन्होने आँवा नगर में अपने तीन गुरुओ की निषेधिकाएँ स्थापित की जिससे यह भी ज्ञात होता है कि प्रभाचन्द्र का इसके पूर्व ही स्वर्गवास हो गया था।

प्रभाचन्द्र अपने समय के प्रसिद्ध एवं समर्थ भट्टारक थे। एक लेख प्रशस्ति में इनके नाम के पूर्व पूर्वांचलदिनमणि, षड्तर्कतार्किकचूडामणि आदि विशेषण लगाये हैं जिससे इनकी विद्वत्ता एवं तर्कशक्ति का परिज्ञान होता है।

साहित्य सेवा

प्रभाचन्द्र ने सारे राजस्थान मे विहार किया। शास्त्रभण्डारों का अवलोकन किया और उनमें नयी-नयी प्रतियाँ लिखवाकर प्रतिष्ठापित की। राजस्थान के शास्त्र-भण्डारों में इनके समय में लिखी हुई सैकडों प्रतियाँ संग्रहीत हैं और इनका यशोगान गाती हैं। संवत् १५७५ की मार्गशीर्ष शुक्ला ४ को बाई पार्वती ने पुष्पदन्त कृत जसहर-चरिउ की प्रति लिखवायी और भट्टारक प्रभाचन्द्र को भेंट स्वरूप दी।[1]

संवत् १५७९ के मंगसिर मास मे इनका टोंक नगर मे विहार हुआ। चारो ओर आनन्द एव उत्साह का वातावरण छा गया। इसी विहार की स्मृति में पण्डित नरसेन कृत 'सिद्धचक्रकथा' की प्रतिलिपि खण्डेलवाल जाति में उत्पन्न टोग्या गोत्रवाले साह धरमसी एवं उनकी भार्या खातू ने करवायी और उसे बाई पदमसिरी को स्वाध्याय के लिए भेंट दी।

संवत् १५८० में सिकन्दराबाद नगर में इन्ही के एक शिष्य ब्र. बीडा को खण्डेलवाल जाति मे उत्पन्न साह दौदू ने पुष्पदन्त कृत जसहरचरिउ की प्रतिलिपि लिखवाकर भेंट की। उस समय भारत पर बादशाह इब्राहीम लोदी का शासन था। उसके दो वर्ष पश्चात् सवत् १५८२ में घटियालीपुर में इन्ही के आम्नाय के एक मुनि हेमकीर्ति को श्रीचन्दकृत रत्नकरण्ड की प्रति भेंट की गयी। भेंट करनेवाली थी बाई मोली। इसी वर्ष जब इनका चम्पावती (चाटसूँ) नगर में विहार हुआ तो वहाँ के साह-गोत्रीय श्रावको द्वारा सम्यक्त्व-कौमुदी की एक प्रति ब्रह्म बूचा (बूचराज) को भेट दी गयी। ब्रह्म बूचराज भट्टारक प्रभाचन्द्र के शिष्य थे और हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् थे। संवत् १५८३ की आषाढ शुक्ला तृतीया के दिन इन्ही के प्रमुख शिष्य मण्डलाचार्य धर्मचन्द्र के उपदेश से महाकवि श्री यश कीर्ति विरचित 'चन्दप्पहचरित' की प्रतिलिपि की गयी जो जयपुर के आमेर शास्त्र भण्डार मे सग्रहीत है।

जब भट्टारक प्रभाचन्द्र चित्तौड पधारे तो उनका वहाँ भी जोरदार स्वागत किया गया तथा उनके उपदेश से 'मेघमालाव्रत काव्य' की पार्श्वनाथ मन्दिर मे रचना की गयी।

संवत् १५८४ मे महाकवि धनपाल कृत बाहुबलि चरित की बघेरवाल जाति में उत्पन्न साह माधो द्वारा प्रतिलिपि करवायी गयी और प्रभाचन्द्र के शिष्य ब्र. रत्नकीर्ति को स्वाध्याय के लिए भेंट दी गयी। इस प्रकार भट्टारक प्रभाचन्द्र ने राजस्थान में स्थान-स्थान में विहार करके अनेक जीर्ण ग्रन्थो का उद्धार किया और उनकी प्रतियाँ करवाकर शास्त्र भण्डारो में सग्रहीत की। वास्तव में यह उनकी सच्ची साहित्य सेवा थी जिसके कारण सैकडो ग्रन्थो की प्रतियाँ सुरक्षित रह सकी अन्यथा न जाने कब ही काल के गाल में समा जाती।

---

१ देखिए, लेखक द्वारा सम्पादित प्रशस्ति सग्रह, पृष्ठ सख्या १८३।

प्रतिष्ठा कार्य

भट्टारक प्रभाचन्द ने प्रतिष्ठा कार्यों में भी पूरी दिलचस्पी ली। भट्टारक गादी पर बैठने के पश्चात् कितनी ही प्रतिष्ठाओ का नेतृत्व किया एवं जनता को मन्दिर निर्माण की ओर आकृष्ट किया। संवत् १५७१ की ज्येष्ठ शुक्ला २ को षोडशकारण यन्त्र एवं दशलक्षण यन्त्र की स्थापना की। इसके दो वर्ष पश्चात् संवत् १५७३ की फाल्गुन कृष्णा ३ को एक दशलक्षण यन्त्र स्थापित किया। संवत् १५७८ की फाल्गुन सुदी ९ के दिन तीन चौबीसी की मूर्ति की प्रतिष्ठा करायी और इसी तरह संवत् १५८३ मे भी चौबीसी की प्रतिमा की प्रतिष्ठा इनके द्वारा ही सम्पन्न हुई। राजस्थान के कितने ही मन्दिरो में इनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियाँ मिलती हैं।

संवत् १५९३ में मण्डलाचार्य धर्मचन्द्र ने आँवा नगर मे होने वाले प्रतिष्ठा महोत्सव का नेतृत्व किया था उसमें शान्तिनाथ स्वामी की एक विशाल एवं मनोज्ञ मूर्ति की प्रतिष्ठा की गयी थी। चार फोट ऊँची एवं साढ़े तीन फ़ीट चौड़ी श्वेत पाषाण की इतनी मनोज्ञ मूर्ति इने-गिने स्थानो मे ही मिलती है। इसी समय के एक लेख में धर्मचन्द्र ने प्रभाचन्द्र का निम्न शब्दो में स्मरण किया है—

> तत्पट्टस्थ-श्रुताधारी प्रभाचन्द्रः श्रियानिधि.।
> दीक्षितो यो लसत्कीर्ति· प्रचण्ड. पण्डिताग्रणी ॥

प्रभाचन्द्र ने राजस्थान मे साहित्य तथा पुरातत्त्व के प्रति जो जन-साधारण में आकर्षण पैदा किया था वह इतिहास में सदा चिरस्मरणीय रहेगा। ऐसे सन्त को शतशः प्रणाम।

आचार्य सोमकीर्ति

[संवत् १५२६ से १५४० तक]

आचार्य सोमकीर्ति १६वी शताब्दी के उद्भट विद्वान्, प्रमुख साहित्य-सेवी, प्रतिष्ठाचार्य एवं उत्कृष्ट जैन सन्त थे। वे योगी थे। आत्मसाधना में तत्पर रहते और अपने शिष्यो, साथियो तथा अनुयायियों को उसपर चलने का उपदेश देते। वे स्वाध्याय करते, साहित्य सृजन करते एवं लोगो को उसकी महत्ता बतलाते। यद्यपि अभी तक उनका अधिक साहित्य नही मिल सका है लेकिन जितना भी उपलब्ध हुआ है उसपर उनकी विद्वत्ता की गहरी छाप है। वे सस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, राजस्थानी एव गुजराती आदि कितनी ही भाषाओ के ज्ञाता थे। पहले उन्होने जन साधारण के लिए हिन्दी राजस्थानी मे लिखा और अपनी विद्वत्ता की अमिट छाप छोडने के लिए कुछ रचनाएँ सस्कृत मे भी निबद्ध की। उनका प्रमुख क्षेत्र राजस्थान एवं गुजरात रहा और इन प्रदेशो मे जीवन-भर विहार करके जन-साधारण के जीवन को ज्ञान एवं आत्म-साधना की दृष्टि से ऊँचा उठाने का प्रयास करते रहे। उन्होने कितने ही मन्दिरो की प्रतिष्ठाएँ करवायी, सास्कृतिक समारोहो का आयोजन करवाया और इन सबके द्वारा सभी को सत्य मार्ग का अनुसरण करने के लिए प्रेरित किया। वास्तव मे वे अपने समय के भारतीय सस्कृति, साहित्य एवं शिक्षा के महान् प्रचारक थे।

आचार्य सोमकीर्ति काष्ठा सघ के नन्दीतट शाखा के सन्त थे तथा १०वी शताब्दी के प्रसिद्ध भट्टारक रामसेन की परम्परा मे होनेवाले भट्टारक थे। उनके दादा गुरु लक्ष्मीसेन एव गुरु भीमसेन थे। सवत् १५१८ (सन् १४६१) मे रचित एक ऐतिहासिक पट्टावली मे अपने आपको काष्ठा संघ का ८७वाँ भट्टारक लिखा है। इनके गृहस्थ जीवन के सम्बन्ध में हमें अबतक कोई प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नही हो सकी है। वे कहाँ के थे, कौन उनके माता-पिता थे, वे कब तक गृहस्थ रहे और कितने समय पश्चात् इन्होने साधु जीवन को अपनाया इसकी जानकारी अभी खोज का विषय है। लेकिन इतना अवश्य है कि ये संवत् १५१८ मे भट्टारक बन चुके थे और इसी वर्ष इन्होने अपने पूर्वजो का नाम लिपिबद्ध किया था[1]। श्री विद्याधर जोहरापुरकर ने

---

१. श्री भीमसेन पट्टाधरण गछ सरोमणि कुल तिलौ।
जणति सुजाणह जाण नर श्री सोमकीर्ति मुनिवर भलौ॥
पनरहसि अठार मास आषाढह जाणु।
अस्कवार पचमी बहुल पख्यह बखाणु॥

अपने भट्टारक सम्प्रदाय में इनका समय संवत् १५२६ से १५४० तक का भट्टारक काल दिया है। वह इस पट्टावली से मेल नही खाता। सम्भवतः उन्होंने यह समय इनकी संस्कृत रचना सप्तव्यसनकथा के आधार पर दे दिया मालूम देता है क्योकि कवि ने इस रचना को संवत् १५२६ में समाप्त किया था। इनकी तीन संस्कृत रचनाओं में से यह प्रथम रचना है।

सोमकीर्ति यद्यपि भट्टारक थे लेकिन अपने नाम के पूर्व आचार्य लिखना अधिक पसन्द करते थे। ये प्रतिष्ठाचार्य का कार्य भी करते थे और उनके द्वारा सम्पन्न प्रतिष्ठाओं का उल्लेख निम्न प्रकार मिलता है—

१. संवत् १५२७ वैशाख सुदी ५ को इन्होने वीरसेन के साथ नरसिंह एवं उसकी भार्या सापडिया के द्वारा आदिनाथ स्वामी की मूर्ति की स्थापना करवायी थी।[1]

२. संवत् १५३२ में वीरसेन सूरि के साथ शीतलनाथ की मूर्ति स्थापित की गयी थी।[2]

३. संवत् १५३६ मे अपने शिष्य वीरसेन सूरि के साथ हूँबड जातीय श्रावक भूपा भार्या राज के अनुरोध से चौबीसी की मूर्ति की प्रतिष्ठा करवायी।[3]

४. संवत् १५४० में भी इन्होंने एक मूर्ति की प्रतिष्ठा करवायी।[4]

ये मन्त्र शास्त्र के भी ज्ञाता एव अच्छे साधक थे। कहा जाता है कि एक बार इन्होने सुल्तान फिरोजशाह के राज्यकाल में पावागढ में पद्मावती की कृपा से आकाशगमन का चमत्कार दिखलाया।[5] अपने समय के मुगल सम्राट् से भी इनका अच्छा सम्बन्ध था। ब्र. श्री कृष्णदास ने अपने मुनिसुव्रत पुराण (र. का सं. १६८१) में सोमकीर्ति के स्तवन में इनके आगे 'यवनपतिकराम्भोजसंपूजिताह्रि' विशेषण जोडा है।[6]

पुव्वा भदद्द नक्षत्र श्री सोमकीत्रि पुरवरि।
सन्यासी वर पाठ तणु प्रबन्ध जिणी परि॥
जिनवर सुपास भविन कीउ, श्री सोमकीर्ति बहु भाव धरि।
जिनवत उरबि तलि विस्तरु श्री शान्तिनाथ सुपसाऊ करि॥

१ सवत् १५२७ वर्ष वैशाख वदी ५ गुरौ श्री काष्ठासघे नदतट गच्छे विद्यागणे भट्टारक श्री सोमकीर्ति आचार्य श्री वीरसेन युगवै प्रतिष्ठापिता। नरसिंह राज्ञा भार्या सांपडिया गौत्रे ..लाखा भार्या मांकू देव्हा भार्या मानू पुत्र बना सा. कान्हा देव्हा केन श्री आदिनाथ बिम्ब कारापिता।

—सिरमोरियों का मन्दिर, जयपुर

२ भट्टारक सम्प्रदाय, पृष्ठ सख्या २९३।

३ सवत् १५३६ वर्षे वेशाख सुदी १० बुधे श्री काष्ठासघे बागडगच्छे नन्दी तट गच्छे विद्यागणे भट्टारक श्री भीमसेन तत् पट्टे भट्टारक श्री सोमकीर्ति शिष्य आचार्य श्री वीरसेनयुक्तै प्रतिष्ठित हुंबड जातीय बध गात्रे गांधी भूपा भार्या राज सुत गांधी मना भार्या काऊ हठा भार्या लाडिकी संघवी मना केन श्री आदिनाथ चतुर्विशतिका प्रतिष्ठापिता।

—मन्दिर लूणकरणजी पाण्ड्या, जयपुर

४ भट्टारक सम्प्रदाय, पृष्ठ सख्या २९३।

५. भट्टारक सम्प्रदाय, पृष्ठ संख्या २९३।

६. प्रशस्ति संग्रह, पृष्ठ सख्या ४७।

शिष्यगण

सोमकीर्ति के वैसे तो कितने ही शिष्य थे जो इनके संघ मे रहकर धर्म साधन किया करते थे। लेकिन इन शिष्यो में यश.कीर्ति, वीरसेन, यशोधर आदि का नाम मुख्यत. गिनाया जा सकता है। इनकी मृत्यु के पश्चात् यश कीर्ति ही भट्टारक बने। ये स्वयं भी विद्वान् थे। इसी तरह आचार्य सोमकीर्ति के दूसरे शिष्य यशोधर की भी हिन्दी की कितनी ही रचनाएँ मिलती है। इनकी वाणी में जादू था इसलिए ये जहाँ भी जाते वही प्रशंसको की पक्ति खडी हो जाती थी। सघ मे मुनि, आर्यिका, ब्रह्मचारी एवं पण्डितगण थे जिन्हे धर्म-प्रचार एव आत्म-साधना की पूर्ण स्वतन्त्रता थी।

विहार

इन्होंने अपने विहार से किन-किन नगरो, गाँवों एवं देशो को पवित्र किया इसके कही स्पष्ट उल्लेख नही मिलते है लेकिन इनकी कुछ रचनाओ में जो रचना-स्थान दिया हुआ है उसी के आधार पर इनके विहार का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। संवत् १५१८ मे सोजत नगर मे थे और वहाँ इन्होने सम्भवत. अपनी प्रथम ऐतिहासिक रचना 'गुर्वावलि' को समाप्त किया था। सवत् १५३६ मे गोढिलीनगर में विराज रहे थे यही इन्होने यशोधर चरित्र (सस्कृत) को समाप्त किया था तथा फिर यशोधर चरित (हिन्दी) को भी इसी नगर मे निबद्ध किया था।

साहित्य सेवा

सोमकीर्ति अपने समय के प्रमुख साहित्यसेवी थे। सस्कृत एवं हिन्दी दोनो मे ही इनकी रचनाएँ उपलब्ध होती है। राजस्थान के विभिन्न शास्त्र भण्डारो मे इनकी अबतक निम्न रचनाएँ प्राप्त हो चुकी है— १. सप्तव्यसन कथा, २ प्रद्युम्न चरित्र, ३ यशोधर चरित्र।

राजस्थानी रचनाएँ

१. गुर्वावली, २. यशोधर रास, ३. ऋषभनाथ की धूलि, ४. मल्लिगीत, ५. आदिनाथ विनती, ६ त्रेपनक्रिया गीत

सप्तव्यसन कथा

यह कथा साहित्य का अच्छा ग्रन्थ है जिसमें सात व्यसनो[1] के आधार पर सात कथाएँ दी हुई है। ग्रन्थ के भी सात ही सर्ग है। आचार्य सोमकीर्ति ने इसे सवत् १५२६

१ जैनाचार्यों ने जुआ खेलना, चोरी करना, शिकार खेलना, वेश्या सेवन, परस्त्री सेवन तथा मद्य एव मांस सेवन करने को सप्त व्यसनों में गिनाया है।

में माघ सुदी प्रतिपदा को समाप्त किया ।[1]

(२) प्रद्युम्नचरित्र

यह इनका दूसरा प्रबन्ध काव्य है जिसमें श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न का जीवन चरित्र अंकित है। प्रद्युम्न का जीवन जैनाचार्यों को अत्यधिक आकर्षित करता रहा है। अबतक विभिन्न भाषाओं में लिखी हुई प्रद्युम्न के जीवन पर २५ से भी अधिक रचनाएँ मिलती है। प्रद्युम्न चरित सुन्दर काव्य है जो १६ सर्गों में विभक्त है। इसका रचना काल सं १५३१ पौष सुदी १३ बुधवार है ।[2]

(३) यशोधर चरित्र

कवि 'यशोधर' के जीवन से सम्भवत. बहुत प्रभावित थे इसलिए इन्होने संस्कृत एवं हिन्दी दोनो में ही यशोधर चरित गाया है। यशोधर चरित्र आठ सर्गों का काव्य है। कवि ने इसे संवत् १५३६ में गोढिली (मारवाड) नगर में निबद्ध किया था ।[3]

राजस्थानी रचनाएँ

(१) गुर्वावलि

यह एक ऐतिहासिक रचना है जिसमें कवि ने अपने संघ के पूर्वाचार्यों का संक्षिप्त वर्णन दिया है। यह गुर्वावलि संस्कृत एवं हिन्दी दोनो भाषाओ में लिखी हुई है। हिन्दी में गद्य-पद्य दोनो का ही उपयोग किया गया है। भाषा वैचित्र्य की दृष्टि से रचना का अत्यधिक महत्त्व है। सोमकीर्ति ने इसे संवत् १५१८ में समाप्त किया था इसलिए उस समय की प्रचलित हिन्दी गद्य की इस रचना से स्पष्ट झलक मिलती है। यह कृति हिन्दी गद्य साहित्य के इतिहास को विलुप्त कडी को जोडनेवाली है।

इस पट्टावली में काष्ठासंघ का अच्छा इतिहास है। कृति का प्रारम्भ काष्ठासंघ के ४ गच्छो मे होता है जो नन्दीतटगच्छ, माथुरगच्छ, बागडगच्छ एवं लाडबागड गच्छ

---

१ रस नयन-समेते बाणयुक्तेन चन्द्रे (१५२६)
गतवति सति नून विक्रमस्यैव काले ।
प्रतिपदि धवलायां माघमासस्य सोमे
हरिभदिनमनाज्ञे निर्मितो ग्रन्थ एष ॥७१॥

२ सवत्सरे सत्तिथिसंज्ञके वै वर्षेऽत्र त्रिशैकयुते (१५३१) पवित्रे।
विनिर्मितं पौषसुदेश्च तस्यां त्रयोदशीव बुधवारयुक्ता ॥१६६॥

३. नन्दोतटाख्यगच्छे वंशश्रीरामसेनदेवस्य।
जातो गुणार्णवैकश्च श्रीमान् श्रीभीमसैनेनति ॥६०॥
निर्मितं तस्य शिष्येण श्री यशोधरसज्ञक।
श्रीसोमकीर्तिमुनिना विशोध्याधीयतां बुधा ॥६१॥
वर्षे षट्त्रिंशसख्ये तिथिपरगणना युक्तसवत्सरे (१५३६) वै।
पञ्चम्यां पौषकृष्णे दिनकरदिवसे चोत्तरास्ये हि चंद्रे।
गौढिल्यां मेदपाटे जिनवरभवने शीतलेन्द्ररम्ये।
सामादिकीर्तिनेद नृपवनचरितं निर्मितं शुद्धभक्त्या ॥

के नाम से प्रसिद्ध थे। पट्टावली में आचार्य अर्हद्बलि को नन्दीतट गच्छ का प्रथम आचार्य लिखा है। इसके पश्चात् अन्य आचार्यों का संक्षिप्त इतिहास देते हुए ८७ आचार्यों का नामोल्लेख किया है। ८७वें भट्टारक आचार्य सोमकीर्ति थे। इस गच्छ के आचार्य रामसेन ने नरसिंहपुरा जाति की तथा नेमिसेन ने भट्टपुरा जाति की स्थापना की थी। नेमिसेन पर पद्मावती एवं सरस्वती दोनो की कृपा थी और उन्हें आकाश-गामिनी विद्या सिद्ध थी।

(२) यशोधर रास

यह कवि की दूसरी बडी रचना है जो इस प्रकार से प्रबन्ध काव्य है। इस रचना के सम्बन्ध में अभी तक किसी विद्वान् ने उल्लेख नही किया है। इसलिए यशोधर रास कवि की अलभ्य कृतियो मे से दूसरी रचना है। सोमकीर्ति ने संस्कृत में भी यशोधर चरित्र की रचना की थी जिसे उन्होने सवत् १५३६ में पूर्ण किया था। 'यशोधर रास' सम्भवत. इसके बाद की रचना है जो इन्होने अपने हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती भाषा-भाषी पाठको के लिए.निबद्ध की थी।

'आचार्य सोमकीर्ति' ने 'यशोधर रास' को गुढलीनगर के शीतलनाथ स्वामी के मन्दिर में कार्तिक सुदी प्रतिपदा को समाप्त किया था।[1]

'यशोधर रास' एक प्रबन्ध काव्य है, जिसमें राजा यशोधर के जीवन का मुख्यत· वर्णन है। सारा काव्य दश ढालो में विभक्त है। ये ढालें एक प्रकार से सर्ग का काम देती है। कवि ने यशोधर की जीवनकथा सीधी प्रारम्भ न करके साधु युगल से कहलायी है, जिसे सुनकर राजा मारिदत्त स्वयं भी हिंसक जीवन को छोडकर जैन साधु की दीक्षा धारण कर लेता है एव चण्डमारि देवी का प्रमुख उपासक भी हिंसावृत्ति को छोडकर अहिंसक जीवन व्यतीत करता है। 'रास' की समूची कथा अहिंसा को प्रतिपादित करने के लिए कही गयी है, किन्तु इसके अतिरिक्त रास मे अन्य वर्णन भी अच्छे मिलते है।

(३) आदिनाथ विनती

यह एक लघु स्तवन है जिसमे 'आदिनाथ' का यशोधर गान गाया गया है। यह स्तवन नैणवा के शास्त्र भण्डार के एक गुटके मे सग्रहीत है।

(४) त्रैपनक्रियागीत

श्रावको के पालने योग्य त्रैपन क्रियाओ की इस गीत मे विशेषता वर्णित की गयी है।

---

१ सोघीय एहज रास करीय साधुवली थापिह्यए।
कातीए उजलि पाखि पडिवा बुधवारि कीउए॥
सीतलु ए नाथि प्रासादि गुढली नयर सोहामणुए।
रिधि वृद्धि ए श्रीपास पासाउ हो जो नीति श्रीसंघह धरिय
श्री गुरुए चरण पसाउ श्री सोमकीरति सूरी भण्यए॥

(५) ऋषभनाथ की धूलि

इसमें ४ ढाल हैं, जिनमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के संक्षिप्त जीवनकथा पर प्रकाश डाला गया है । भाषा पूरे रूप में जनभाषा है ।

'सोमकीर्ति' ने संस्कृत एवं हिन्दी साहित्य के माध्यम से जगत् को अहिंसा का सन्देश दिया। यही कारण है कि इन्होंने यशोधर के जीवन को दोनों भाषाओं में निबद्ध किया। भक्तिकाव्य के लेखन में इनकी विशेष रुचि थी । इसीलिए इन्होंने 'ऋषभनाथ की धूलि' एवं 'आदिनाथ विनती' की रचना की थी । इनके अभी और भी पद मिलने चाहिए। सोमकीर्ति की इतिहास कृतियों में भी रुचि थी। गुर्वावलि इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है । यह रचना जैनाचार्यों एवं भट्टारकों की विलुप्त कड़ी को जोड़नेवाली है ।

कवि ने अपनी कृतियो में 'राजस्थानी भाषा' का प्रयोग किया है। ब्रह्म जिनदास के समान उसकी रचनाओ में गुजराती भाषा के शब्दों का इतना अधिक प्रयोग नही हो सका है । यही नही, इनकी भाषा में सरसता एवं लचकीलापन है । छन्दों की दृष्टि से भी वह राजस्थानी से अधिक निकट है ।

कवि की दृष्टि से वही राज्य एवं उसके ग्राम, नगर श्रेष्ठ माने जाने चाहिए, जिनमे जीववध नही होता है, सत्याचरण किया जाता हो तथा नारी समाज का जहाँ अत्यधिक सम्मान हो। यही नही, जहाँ के लोग अपने परिग्रह संचय की सीमा भी प्रतिदिन निर्धारित करते हो । और जहाँ रात्रि को भोजन करना भी वर्जित हो ।

वास्तव मे इन सभी सिद्धान्तो को कवि ने अपने जीवन में उतारकर फिर उनका व्यवहार जनता द्वारा सम्पादित कराया जाना चाहिए था ।

'सोमकीर्ति' ने अपने दोनो काव्यों में 'जैनदर्शन' के प्रमुख सिद्धान्त 'अहिंसा' एवं 'अनेकान्तवाद' का भी अच्छा प्रतिपादन किया है ।

भट्टारक ज्ञानभूषण

[संवत् १५३० से १५५७ तक]

भट्टारक ज्ञानभूषण अपने समय के सर्वाधिक लोकप्रिय भट्टारक थे। उत्तरी भारत में और विशेषत राजस्थान एवं गुजरात में उनका जबरदस्त प्रभाव था। मुस्लिम शासन होने पर भी वे बराबर पदयात्राएँ करते तथा बडे-बडे समारोहों का आयोजन करके जैनधर्म एवं संस्कृति का प्रचार किया करते थे।[1] विद्वत्ता मे उनकी बराबरी करनेवाले उस समय बहुत कम साधु थे। विद्वत्ता के अतिरिक्त उनकी भाषण शैली अत्यधिक पटु थी जो लोगो को सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेती थी। २५-३० वर्ष तक देश मे भगवान् महावीर के सिद्धान्तों का जिस धुआँधार रीति से प्रचार किया उससे समस्त जैन समाज गौरवान्वित हुआ था। उनके प्रशिष्य भट्टारक वीरचन्द्र ने उनके द्वारा देश-विदेश में जैनधर्म का प्रचार करना लिखा है। धर्म साहित्य एव सस्कृति के प्रचार-प्रसार मे इन्होंने जो योगदान दिया वह इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठो में अंकित रहेगा।

ज्ञानभूषण नाम के भी चार भट्टारक हुए हैं। इसमें सर्वप्रथम भट्टारक सकल-कीर्ति की परम्परा में भट्टारक भुवनकीर्ति के शिष्य थे। दूसरे ज्ञानभूषण भट्टारक वीरचन्द्र के शिष्य थे जिनका सम्बन्ध सूरत शाखा के भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति की परम्परा मे था। ये सवत् १६०० से १६१६ तक भट्टारक रहे। तीसरे ज्ञानभूषण का सम्बन्ध अटेर शाखा से रहा था और इनका समय १७वी शताब्दी का माना जाता है और चौथे ज्ञानभूपण नागौर गादी के भट्टारक रत्नकीर्ति के शिष्य थे। इनका समय १८वी शताब्दी का अन्तिम चरण था।

प्रस्तुत भट्टारक ज्ञानभूषण पहले भट्टारक विमलेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे और बाद मे इन्होने भट्टारक भुवनकीर्ति को भी अपना गुरु स्वीकार कर लिया। ज्ञानभूषण एवं ज्ञानकीर्ति ये दोनो ही सगे भाई एवं गुरु भाई थे और वे पूर्वी गोलालारे जाति के श्रावक थे। लेकिन सवत् १५३५ में सागवाड़ा एवं नोगाम में एक साथ दो प्रतिष्ठाएँ प्रारम्भ हुईं। सागवाडा मे होनेवाली प्रतिष्ठा के संचालक भट्टारक ज्ञानभूषण और नोगाम की प्रतिष्ठा महोत्सव का संचालन ज्ञानकीर्ति ने किया। यही से भट्टारक ज्ञानभूषण बृहद्

---

१ तम परि जितो उपना को ज्ञानभूषण मुनिराय।
देश-विदेशि विहार करि भव्य लगाया पार॥

—नेमिकुमार रास-भट्टारक वीरचन्द्र

शाखा के भट्टारक माने जाने लगे और भट्टारक ज्ञानकीर्ति लघु शाखा के गुरु कहलाने लगे।[1]

एक नन्दिसंघ की पट्टावली से ज्ञात होता है कि ये गुजरात के रहनेवाले थे। गुजरात में ही उन्होंने सागार धर्म धारण किया, अहीर (आभीर) देश में ग्यारह प्रतिमाएँ धारण कीं और बार-बार या बागड़ देश में दुर्धर महाव्रत ग्रहण किये। तलव देश के यतियो में इनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। तैलव देश के उत्तम पुरुषों ने उनके चरणों की वन्दना की, द्रविड़ देश के विद्वानों ने उनका स्तवन किया, महाराष्ट्र में उन्हें बहुत यश मिला, सौराष्ट्र के धनी श्रावकों ने उनके लिए महामहोत्सव किया। रायदेश (ईडर के आसपास का प्रान्त) के निवासियो ने उनके वचनों को अतिशय प्रमाण माना, मेरुपाट (मेवाड) के मूर्ख लोगों को उन्होंने प्रतिबोधित किया, मालवा के भव्य जनों के हृदय-कमल को विकसित किया, मेवात में उनके अध्यात्म रहस्यपूर्ण व्याख्यान से विविध विद्वान् श्रावक प्रसन्न हुए। कुरुजागल के लोगों का अज्ञान रोग दूर किया, बैराठ (जयपुर के आसपास) के लोगों को उभय मार्ग (सागार अनगार) दिखलाये, नमियाड़ (नीमाड) में जैन धर्म की प्रभावना की। भैरव राजा ने उनकी भक्ति की, इन्द्रराज ने चरण पूजे, राजाधिराज देवराज ने चरणों की आराधना की। जिन धर्म के आराधक मुदलियार, रामनाथराय, बोम्मरसराय, कलपराय, पाण्डुराय आदि राजाओ ने पूजा की और उन्होने अनेक तीर्थों की यात्रा की। व्याकरण-छन्द-अलंकार-साहित्य-तर्क-आगम-अध्यात्म आदि शास्त्ररूपी कमलो पर विहार करने के लिए वे राजहंस थे और शुद्ध ध्यानामृत-पान की उन्हे लालसा थी।[2] उक्त विवरण कुछ अतिशयोक्ति-पूर्ण भी हो सकता है लेकिन इतना तो अवश्य है कि ज्ञानभूषण अपने समय के प्रसिद्ध सन्त थे और उन्होने अपने त्याग एवं विद्वत्ता से सभी को मुग्ध कर रखा था।

ज्ञानभूषण भट्टारक भुवनकीर्ति के पश्चात् सागवाड़ा में भट्टारक गादी पर बैठे। अबतक सबसे प्राचीन उल्लेख [संवत् १५३१ वैशाख सुदी २ का मिलता है जब कि इन्होंने डूंगरपुर में आयोजित प्रतिष्ठा महोत्सव का संचालन किया था। उस समय डूंगर-पुर पर रावल सोमदास एवं रानी गुराई का शासन था।[3] श्री जोहरापुरकर ने ज्ञानभूषण का भट्टारक काल संवत् १५३४ से माना है।[4] लेकिन यह काल किस आधार पर निर्धारित किया है इसका कोई उल्लेख नही किया। श्री नाथूराम प्रेमी ने भी 'जैन साहित्य और इतिहास में' इनके काल के सम्बन्ध से कोई निश्चित मत नहीं लिखा। केवल इतना ही लिखकर छोड़ दिया कि विक्रम संवत् १५३४-३५ और १५३६ के

---

१ देखिए, भट्टारक पट्टावलि—शास्त्र भण्डार, भ. यश कीर्ति, दि. जैन सरस्वती भवन, ऋषभदेव (राज)।

२, देखिए, नाथूरामजी प्रेमी कृत जैन साहित्य और इतिहास, पृ. सं ३८१-८२।

३ संवत् १५३१ वर्षे वैसाख वदि ५ बुधे श्री मूलसंघे भ. श्री सकलकीर्तिस्तत्पट्टे भ. भुवनकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भ. श्री ज्ञानभूषणदेवस्तदुपदेशात् मेघा भार्या टीगू प्रणमंति श्री गिरिपुरे रावल श्री सोमदास राजी गुराई सुराज्ये।

४, देखिए, भट्टारक सम्प्रदाय, पृष्ठ संख्या १५८।

तीन प्रतिमा लेख और भी हैं जिनसे मालूम होता है कि उक्त संवतों में ज्ञानभूषण भट्टारक पद पर थे। डॉ. प्रेमसागर ने अपनी 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि'[1] में इनका भट्टारक काल संवत् १५३२-५७ तक समय स्वीकार किया है। लेकिन डूंगरपुरवाले लेख से यह स्पष्ट है कि ज्ञानभूषण संवत् १५३१ अथवा इससे पहले भट्टारक गादी पर बैठ गये थे। इस पद पर वे संवत् १५५७-५८ तक रहे। संवत् १५६० मे उन्होंने तत्त्वज्ञान तरंगिणी की रचना समाप्त की थी। इसकी पुष्पिका में इन्होंने अपने नाम के पूर्व 'मुमुक्षु' शब्द जोडा है जो अन्य रचनाओं में नही मिलता। इससे ज्ञात होता है कि इसी वर्ष अथवा इससे पूर्व ही इन्होंने भट्टारक पद छोड दिया था।

संवत् १५५७ तक ये निश्चित रूप से भट्टारक रहे। इसके पश्चात् इन्होने अपने शिष्य विजयकीर्ति को भट्टारक पद देकर स्वयं साहित्य साधक एवं मुमुक्षु बन गये। वास्तव मे यह उनके जीवन का उत्कृष्ट त्याग था क्योंकि उस युग में भट्टारको की प्रतिष्ठा, मान-सम्मान बडे ही उच्चस्तर पर थी। भट्टारको के कितने हो शिष्य एवं शिष्याएँ होती थी। श्रावक लोग उनके विहार के समय पलक पावडे बिछाये रहते थे तथा सरकार की ओर से भी उन्हे उचित सम्मान मिलता था। ऐसे उच्च पद को छोडकर केवल आत्मचिन्तन एव साहित्य साधना में लग जाना ज्ञानभूषण-जैसे सन्त से ही हो सकता था।

ज्ञानभूषण प्रतिभापूर्ण साधक थे। उन्होने आत्मसाधना के अतिरिक्त ज्ञानाराधना, साहित्य साधना, सास्कृतिक उत्थान एवं नैतिक धर्म के प्रचार मे अपना सम्पूर्ण जीवन खपा दिया। पहले उन्होने स्वय अध्ययन किया और शास्त्रो के गम्भीर अर्थ को समझा। तत्त्वज्ञान की गहराइयों तक पहुँचने के लिए व्याकरण, न्याय, सिद्धान्त के बडे-बडे ग्रन्थो का स्वाध्याय किया और फिर साहित्य-सृजन प्रारम्भ किया। सर्वप्रथम उन्होने स्तवन एवं पूजाष्टक लिखे फिर प्राकृत ग्रन्थो की टीकाएँ लिखी। रास एवं फागु साहित्य की रचना कर साहित्य को नवीन मोड दिया और अन्त में अपने सम्पूर्ण ज्ञान का निचोड तत्त्वज्ञान तरंगिणी में डाल दिया।

साहित्य-सृजन के अतिरिक्त सैकडो ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ करवाकर साहित्य के भण्डारों को भरा तथा अपने शिष्य-प्रशिष्यों को उनके अध्ययन के लिए प्रोत्साहित किया तथा समाज को विजयकीर्ति एव शुभचन्द्र-जैसे मेधावी विद्वान् दिये। बौद्धिक एवं मानसिक उत्थान के अतिरिक्त इन्होने सास्कृतिक पुनर्जागरण मे भी पूर्ण योग दिया। आज भी राजस्थान एव गुजरात प्रदेश के सैकडो स्थानों के मन्दिरों मे उनके द्वारा प्रतिष्ठापित मूर्तियाँ विराजमान है। सह-अस्तित्व की नीति को स्वयं मे एव जन-मानस में उतारने में उन्होने अपूर्व सफलता प्राप्त की थी और सारे भारत को अपने बिहार से पवित्र किया। देशवासियो को उन्होने अपने उपदेशामृत का पान कराया एवं उन्हे बुराइयो से

---

१. देखिए, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. संख्या ७३।

बचने के लिए प्रेरणा दी। ज्ञानभूषण का व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक था। श्रावकों एवं जनता को वश में कर लेना उनके लिए अत्यधिक सरल था। जब वे पदयात्रा पर निकलते तो मार्ग के दोनों ओर जनता कतार बांधे खड़ी रहती और उनके श्रीमुख से एक-दो शब्द सुनने को लालायित रहती। ज्ञानभूषण ने श्रावक धर्म का नैतिक धर्म के नाम से उपदेश दिया। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह के नाम पर एक नया सन्देश दिया। इन्हें जीवन में उतारने के लिए वे गाँव-गाँव जाकर उपदेश देते और इस प्रकार वे उस समय लोगों की श्रद्धा एवं भक्ति के प्रमुख सन्त माने जाने लगे।

प्रतिष्ठाकार्य संचालन

भारतीय एव विशेषत: जैन संस्कृति एवं धर्म की सुरक्षा के लिए उन्होंने प्राचीन मन्दिरो का जीर्णोद्धार, नवीन मन्दिर निर्माण, पंचकल्याणक प्रतिष्ठाएँ, सांस्कृतिक समारोह, उत्सव एव मेलो आदि के आयोजनों को प्रोत्साहित किया। ऐसे आयोजनो मे वे स्वयं तो भाग लेते ही थे अपने शिष्यों को भी भेजते एवं अपने भक्तो से भी उनमें भाग लेने के लिए उपदेश देते।

भट्टारक बनते ही इन्होंने सर्वप्रथम संवत् १५३१ में डूँगरपुर मे २३"×१८" अवगाहनावाले सहस्रकूट चैत्यालय की प्रतिष्ठा का सचालन किया, इनमे से ६ चैत्यालय तो डूँगरपुर से ऊँडा मन्दिर में ही विराजमान है। इस समय डूँगरपुर पर रावल सोमदास का राज्य था। इन्ही के द्वारा संवत् १५३४ फाल्गुन सुदी १० में आयोजित प्रतिष्ठा महोत्सव के समय की प्रतिष्ठापित मूर्तियाँ कितने ही स्थानों पर मिलती है।[1]

संवत् १५३५ में इन्होंने दो प्रतिष्ठाओं में भाग लिया जिसमे एक लेख जयपुर[2] के छाबडो के मन्दिर में तथा दूसरा लेख उदयपुर[3] के मन्दिर में मिलता है। संवत् १५४० मे हुंबड जातीय श्रावक लाखा एवं उसके परिवार ने इन्ही के उपदेश से आदिनाथ स्वामी की प्रतिमा की प्रतिष्ठा करवायी थी।[4] इसके एक वर्ष पश्चात् ही नागदा जाति के श्रावक-श्राविकाओं ने एक नवीन प्रतिष्ठा का आयोजन किया जिसमे भट्टारक

---

१. सवत् १५३४ वर्षे फाल्गुण सुदी १० गुरौ श्री मूलसंघे भ सकलकीर्ति तत्पट्टे भ. श्री भवनकीर्तिस्त. भ. ज्ञानभूषणगुरूपदेशात् हूंबड ज्ञातीय साह वाइरो भार्या किवाई सुत सा, डुंगा भगिनी वीरदास भगनी प्रनाडी भात्रेय साम्ता एते नित्यं प्रणमंति।

२. सवत् १५३५ वर्षे माघ सुदी ५ गुरौ श्री मूलसघे भट्टारक श्रीभवनकीर्ति त भ, श्री ज्ञानभूषण गुरूपदेशात् · गोत्रे सा. माला भ. त्रापु पुत्र सघपति सं, गोइन्द भार्या राजलदे भ्रातृ स भाजा भ लोलन सुत जीवा जोगा जिणदास सांका सुरताण एतैः अष्टप्रातिहार्यचतुर्विंशतिका प्रणमति।

३. सवत् १५३५ श्री मूलसघे भ श्री भुवनकीर्ति त, भ श्री ज्ञानभूषण गुरूपदेशात् श्रेष्ठि हासा भार्या हासले सुत समधरा भार्या पामो सुत नाथा भार्या सारू भ्राता गोइआ भार्या पाँचू भ्राता महिराज भ्रा जैसा रूपा प्रणमंति।

४. सवत् १५४० वर्षे वैशाख सुदी ११ गुरौ श्री मूलसंघे भ. श्री सकलकीर्ति तत्पट्टे भ भुवनकीर्ति तत्पट्टे भ. ज्ञानभूषण गुरूपदेशात् हूंवड ज्ञातीय सा लाखा भार्या माल्हणदे सुत हीरा भार्यां हरषू भ्रा लाला रामति तत् पुत्र द्वौ. धन्ना, मन्ना राजा बिरुषा साहा जैसा वेणा आणंद बाका राहुया अभय कुमार एते श्री आदिनाथ प्रणमंति।

ज्ञानभूषण प्रमुख अतिथि थे। इस समय की प्रतिष्ठापित चन्द्रप्रभ स्वामी की एक प्रतिमा डूंगरपुर के एक प्राचीन मन्दिर में विराजमान है।[1] इसके पश्चात् तो प्रतिष्ठा महोत्सवों की धूम-सी मच गयी। संवत् १५४३, ४४ एवं संवत् १५४५ में विविध प्रतिष्ठा समारोह सम्पन्न हुए। १५५२ में डूंगरपुर में एक बृहद् आयोजन हुआ जिसमें विविध सांस्कृतिक कार्यक्रम सम्पन्न हुए। इसी समय की प्रतिष्ठापित नेमिनाथ की प्रतिमा डूंगरपुर के ऊँडे मन्दिर में विराजमान है।[2] यह सम्भवतः आपके कर-कमलों से सम्पादित होनेवाला अन्तिम समारोह था। इसके पश्चात् संवत् १५५७ तक इन्होंने कितने आयोजनो में भाग लिया इसका अभी कोई उल्लेख नही मिल सका है। संवत् १५६०[3] व १५६१[4] में सम्पन्न प्रतिष्ठाओं के अवश्य उल्लेख मिले है। लेकिन वे दोनो ही इनके पट्ट शिष्य भट्टारक विजयकीर्ति द्वारा सम्पन्न हुए थे। उक्त दोनों ही लेख डूंगरपुर के मन्दिर में उपलब्ध होते हैं।

साहित्य साधना

ज्ञानभूषण भट्टारक बनने से पूर्व और इस पद को छोड़ने के पश्चात् भी साहित्य-साधना में लगे रहे। वे जबरदस्त साहित्य-सेवी थे। प्राकृत, सस्कृत, हिन्दी, गुजराती एव राजस्थानी भाषा पर इनका पूर्ण अधिकार था। इन्होने सस्कृत एव हिन्दी मे मौलिक कृतियाँ निबद्ध की और प्राकृत ग्रन्थो की सस्कृत टीकाएँ लिखी। यद्यपि संख्या की दृष्टि से इनकी कृतियाँ अधिक नही है फिर भी जो कुछ है वे ही इनकी विद्वत्ता एव पाण्डित्य को प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त है। श्री नाथूरामजी प्रेमी ने इनके तत्त्वज्ञानतरंगिणी, सिद्धान्तसार भाष्य, परमार्थोपदेश, नेमिनिर्वाण की पजिका टीका, पंचास्तिकाय, दशलक्षणोद्यापन, आदीश्वर फाग, भक्तामरोद्यापन, सरस्वती पूजा ग्रन्थों का उल्लेख किया है।[5] पण्डित परमानन्द जी ने उक्त रचनाओ के अतिरिक्त सरस्वती स्तवन, आत्म सम्बोधन आदि का और उल्लेख किया है।[6] इधर राजस्थान के जैन ग्रन्थ भण्डारो की

१. सवत् १५४१ वर्षे बेसाख सुदी ३ सामे श्री मूलसघे भ ज्ञानभूषण गुरूपदेशात नागदा ज्ञातीय पंडवाल गोत्रे सा वाछा भार्या जसमी सुत देपाल भार्या गुरी सुत सिहिसा भार्या चमकू एते चन्द्रप्रभं नित्य प्रणमति।

२. संवत् १५५२ वर्षे ज्येष्ठ वदी ७ शुक्रे मूलसघे सरस्वतीगच्छे ब·ात्कारगणे भ. श्री सकलकीर्ति तत्पट्टे भट्टारक श्री भुवनकीर्ति तत्पट्ट भ. श्री ज्ञानभूषण गुरूपदेशात् हूबड ज्ञातीय डू डूकरण भार्या साणी सुत नाना भार्या हीरू सुत सांगा भार्या पहुती नेमिनाथ एतैं नित्य प्रणमति।

३ सवत् १५६० वर्षे श्री मूलसघे भट्टारक श्री ज्ञानभूषण तत्पट्टे भ श्री विजयकीर्ति गुरूपदेशात बाई श्री ग्रार्द्धन श्री बाई श्री विनय श्री विमान पवितव्रत उद्यापने श्री चन्द्रप्रभ·....।

४ संवत् १५६१ वर्षे चैत्र वदी ८ शुक्रे श्री मूलसघे सरस्वतीगच्छे भट्टारक श्री सकलकीर्ति तत्पट्टे भट्टारक श्री भुवनकीर्ति तत्पट्टे भट्टारक ज्ञानभूषण तत्पट्टे भ. विजयकीर्ति गुरूपदेशात हूबड ज्ञातीय श्रेष्ठि लखमण भार्या मरगदी सुत श्रे. समधर भार्या मचकूं सुत श्रे. गंगा भार्या वल्हि सुत हरखा हीरा भठा नित्यं श्री आदीश्वर प्रणमति बाई मचकू पिता दासी रामा भार्या पूरी पुत्री रंगी एते प्रणमंति।

५ देखिए, प. नाथूरामजी प्रेमी कृत जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ ३८२।

६ देखिए, पं. परमानन्दजी का 'जैन-ग्रन्थ प्रशस्ति-सग्रह'।

जब से लेखक ने खोज एवं छानबीन की है तब से उक्त रचनाओं के अतिरिक्त इनके और भी ग्रन्थों का पता लगा है। अबतक इनकी जितनी रचनाओं का पता लग पाया है उनके नाम निम्न प्रकार हैं—

संस्कृत ग्रन्थ

१. आत्मसम्बोधन काव्य, २. ऋषिमण्डल पूजा[1], ३. तत्त्वज्ञानतरंगिणी, ४. पूजाष्टक टीका, ५. पंचकल्याणकोद्यापन पूजा[2], ६. भक्तामर पूजा[3], ७. श्रुतपूजा[4], ८. सरस्वती पूजा[5], ९. सरस्वती स्तुति[6], १०. शास्त्र मण्डल पूजा[7], ११. दशलक्षण व्रतोद्यापन पूजा[8],

हिन्दी रचनाएँ

१२. आदीश्वर फाग, १३. जलगालण रास, १४. पोसह रास, १५. षटकर्म रास, १६ नागद्रा रास, १७ पंचकल्याणक[9]।

१. तत्त्वज्ञानतरंगिणी

इसे ज्ञानभूषण की उत्कृष्ट रचना कही जा सकती है। इसमें शुद्ध आत्मतत्त्व की प्राप्ति के उपाय बतलाये गये है। रचना अधिक बडी नही है किन्तु कवि ने उसे १८ अध्यायो मे विभाजित किया है। इसकी रचना सं. १५६० में हुई थी जब वे भट्टारक पद छोड चुके थे और आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिए मुमुक्षु बन चुके थे। रचना काव्यत्वपूर्ण एवं विद्वत्ता को लिये हुए है।

२. पूजाष्टक टीका

इसकी एक हस्तलिखित प्रति सम्भवनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर उदयपुर में संग्रहीत है। इसमें स्वयं ज्ञानभूषण द्वारा विरचित आठ पूजाओं की स्वोपज्ञ टीका है। कृति में १० अधिकार है और उसकी अन्तिम पुष्पिका निम्न प्रकार है—

इति भट्टारक श्री भुवनकीर्त्तिशिष्यमुनिज्ञानभूषणविरचितायां स्वकृताष्टकदशक-टीकायां विद्वज्जनवल्लभासंज्ञाया नन्दीश्वरद्वीपजिनालयार्चनवर्णनीय नामा दशमोधिकार.॥

---

१ राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रन्थ सूची, भाग चतुर्थ, पृ. सं. ४६३।
२. वही, पृष्ठ ६५०।
३. वही, पृष्ठ ५२३।
४ वही, पृष्ठ ५३७।
५. वही, पृष्ठ ५१५।
६. वही, पृष्ठ ६५७।
७ वही, पृष्ठ ८३०।
८. वही, पृष्ठ ८३०।
९. वही, पृष्ठ ११८७।

यह पत्ता ग्रन्थ ज्ञानभूषण ने जब मुनि थे तब निबद्ध किया गया था। इसका रचना काल संवत् १५२८ एवं रचना स्थान डूंगरपुर का आदिनाथ चैत्यालय है।[1]

३. आदीश्वर फाग

'आदीश्वर फाग' इनकी हिन्दी रचनाओं में प्रसिद्ध रचना है। फागु संज्ञक काव्यों में इस कृति का विशिष्ट स्थान है। जैन कवियो ने काव्य के विभिन्न रूपों में संस्कृत एवं हिन्दी में साहित्य लिखा है। उससे उनके काव्य रसिकता की स्पष्ट झलक मिलती है। जैन कवि पक्के मनोवैज्ञानिक थे। पाठको की रुचि का वे पूरा ध्यान रखते थे इसलिए कभी फागु, कभी रास, कभी वेलि एव कभी चरित संज्ञक रचनाओ से पाठको के ज्ञान की अभिवृद्धि करते रहते थे।

आदीश्वर फाग इनकी उत्कृष्ट रचना है, जो दो भाषा मे निबद्ध है। इसमें भगवान् आदिनाथ के जीवन का संक्षिप्त वर्णन है जो पहले संस्कृत एव फिर हिन्दी में वर्णित है। कृति में दोनो भाषाओ के ५०१ पद्य है जिनमें २६२ हिन्दी के तथा शेष २३९ पद्य संस्कृत के हैं। रचना की श्लोक संख्या ५९१ है।

रचनाकाल

यद्यपि 'ज्ञानभूषण' ने इस रचना का कोई समय नहीं दिया है, फिर भी यह संवत् १५६० पूर्व की रचना है—इसमें कोई सन्देह नही है। क्योकि तत्त्वज्ञानतरगिणी (सवत् १५६०) भट्टारक ज्ञानभूषण की अन्तिम रचना गिनी जाती है।[2]

४. उपलब्धि स्थान

'ज्ञानभूषण' की यह रचना लोकप्रिय रचना है। इसलिए राजस्थान के कितने ही शास्त्र-भण्डारो में इसकी प्रतियाँ मिलती है। आमेर शास्त्र भण्डार में इसकी एक प्रति सुरक्षित है।

५. पोषह रास

यह यद्यपि व्रत-विधान के माहात्म्य पर आधारित रास है, लेकिन भाषा एवं शैली की दृष्टि से इसमे रासक काव्य-जैसी सरसता एवं मधुरता आ गयी है। 'पोषह रास' के कर्ता के सम्बन्ध मे विभिन्न मत है। पं. परमानन्द जी एवं डॉ प्रेमसागरजी

---

१ श्रीमद्द विक्रमभूपराज्यसमयातीते वजसुव्रींद्रियक्षेणी–
सम्मितहायके गिरपुरे नाभेयचैत्यालये
अस्ति श्रीभुवनादिकोर्त्तिमुनयस्तस्यांसि ससेविना,
स्वाक्ते ज्ञानविभूषणेन मुनिना टीका शुभेय कृता ।।१।।

२ डॉ. प्रमपागरजो ने इस कृति का जो सवद् १५५१ रचनाकाल बतलाया है वह सम्भवस सही नहीं है। जिम पद्य को उन्होंने रचनाकालवाला पद्य माना है, वह तो उसकी श्लोक सख्यावाला पद्य है। हिन्दी जैन भक्तिकाव्य और कवि, पृ स. ७५.

के मतानुसार यह कृति भट्टारक वीरचन्द के शिष्य भट्टारक ज्ञानभूषण की होनी चाहिए, जब कि स्वयं कृति में इस सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं मिलता। कवि ने कृति के अन्त में अपने नाम का निम्न प्रकार उल्लेख किया है :

> बारि रमणिय मुगतिज सम अनुप सुख अनुभवइ
> भव म कारि पुनरपि न आवइ इह वू फलबस गमइ।
> ते नर पोसह कान मावइ एणि परि पोसह घरइज नर नारि सुजण।
> ज्ञानभूषण गुरू इम भणइ, ते नर करइ बरवाण ॥१११॥

वैसे इस रास की 'भाषा' अपभ्रंश प्रभावित भाषा है, किन्तु उसमें लावण्य की भी कभी नहीं है।

> संसार तणउ विनासु किम दुसइ राम चिंतवइ।
> त्रोडयु मीहनुपास वलीयवती तेह नित चीइ ॥९८॥

इस रास की राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों में कितनी ही प्रतियाँ मिलती हैं।

६. षट्कर्म रास

यह कर्म-सिद्धान्त पर आधारित लघु रासक काव्य है जिसमें इस प्राणी को प्रतिदिन देवपूजा, गुरूपासना, स्वाध्याय, संयम, तप एवं दान—इन षट्कर्मों के पालन करने का सुन्दर उपदेश दिया गया है। इसमें ५३ छन्द हैं और अन्तिम छन्द में कवि ने अपने नाम का किस प्रकार परि-उल्लेख किया है, उसे देखिए—

> सुणउ श्रावक सुणउ श्रावक एह षट्कर्म।
> घरि रहइता जे आचरइ, ते नर पर भवि स्वर्ग पामई।
> नरपति पद पामी करीय, नर सघला नइ पाइ नामइ।
> समकित घरता जु घरइ, श्रावक ए आचार।
> ज्ञानभूषण गुरु इम भणाइ, ते पामइ भवपार ॥

७ जलगालन रास

यह एक लघु रास है, जिसमें जल छानने की विधि का वर्णन किया गया है। इसकी शैली भी षट्कर्म रास एवं पोसह रास-जैसी है। इसमें ३३ पद्य हैं। कवि ने अपने नाम का अन्तिम पद्य मे उल्लेख किया है।

> गलउ पाणीय गलउ पाणीय ये तन मन रंगि,
> हृदय सदय कोमल घरु घरम तणूं एह मूल जाणउ।
> कुह्यू नीलू गन्ध करइ ते पाणी तुमि धरिम आणउ।
> पाणीय आणीय यतन करी, जे गणसिइ नर-नारि।
> श्री ज्ञानभूषण गुरु इम भणइ, ते तरसिइ संसारि ॥३३॥

'भट्टारक ज्ञानभूषण' की मृत्यु संवत् १५६० के बाद किसी समय हुई होगी। लेकिन निश्चित तिथि की अभी तक खोज नही हो सकी है।

ग्रन्थ-लेखन कार्य

उक्त रचनाओ के अतिरिक्त अक्षयनिधि पूजा आदि और भी कृतियाँ हैं।

रचनाएँ निबद्ध करने के अतिरिक्त ज्ञानभूषण ने ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ करवाकर शास्त्र भण्डारों मे संग्रहीत कराने में भी खूब रस लिया है। आज भी राजस्थान के शास्त्र भण्डारों में इनके शिष्य-प्रशिष्यो द्वारा लिखित कितनी ही प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं जिनका कुछ उल्लेख निम्न प्रकार मिलता है—

१. संवत् १५४० आसोज बदी १२ शनिवार को ज्ञानभूषण के उपदेश से धनपाल कृत भविष्यदत्त चरित्र की प्रतिलिपि मुनि श्री रत्नकीर्ति को पठनार्थ भेंट दी गयी।[1]

२. सवत् १५४१ माह वदी ३ सोमवार डूँगरपुर में इनकी गुरु बहन शान्ति गोतम श्री के पठनार्थ आशाधर कृत धर्मामृत पंजिका की प्रतिलिपि की गयी।[2]

३. सवत् १५५३ में गिरिपुर (डूँगरपुर) के आदिनाथ चैत्यालय में सकलकीर्ति कृत प्रश्नोत्तर श्रावकाचार की प्रतिलिपि इनके उपदेश से हूंवड ज्ञातीय श्रेष्ठि ठाकुर ने लिखवाकर माघनन्दि मुनि को भेंट की।[3]

४. सवत् १५४९ आषाढ सुदी २ सोमवार को इनके उपदेश से वसुनन्दि पंचविंशति की प्रति ब्र माणिक के पठनार्थ लिखी गयी।[4]

५ सवत् १५५५ में अपनी गुरु बहन के लिए ब्रह्म जिनदास कृत हरिवंश पुराण की प्रतिलिपि करायी गयी।[5]

६ संवत् १५५५ आषाढ वदी १४ कोटस्याल के चन्द्रप्रभ चैत्यालय में ज्ञानभूषण के शिष्य ब्रह्म नरसिंह के पढ़ने के लिए कातन्त्र रूपमाला वृत्ति की प्रतिलिपि करवाकर भेट की गयी।[6]

७. संवत् १५५७ मे इनके उपदेश से महेश्वर कृत शब्दभेदप्रकाश की प्रतिलिपि की गयी।[7]

८. संवत् १५५६ में ज्ञानभूषण के भाई आ. रत्नकीर्ति के शिष्य ब्र. रत्नसागर

---

१ प्रशस्ति सग्रह, पृष्ठ स १४६।

२. ग्रन्थ सख्या २६०, शास्त्र भण्डार ऋषभदेव।

३ ग्रन्थ सख्या २०४, सम्भवनाथ मन्दिर, उदयपुर।

४ भट्टारकीय शास्त्र भण्डार, अजमेर, ग्रन्थ संख्या १२२।

५. प्रशस्ति सग्रह, पृष्ठ ७३।

६ सम्भवनाथ मन्दिर शास्त्र भण्डार उदयपुर, ग्रन्थ संख्या २०६।

७. ग्रन्थ संख्या-११२, अग्रवाल मन्दिर, उदयपुर।

ने गन्धार मन्दिर के पार्श्वनाथ चैत्यालय में पुष्पदन्त कृत यशोधरचरित्र की प्रतिलिपि करवायी थी।[1]

९. संवत् १५५७ अषाढ़ वदी १४ के दिन ज्ञानभूषण के उपदेश से हूँबड जातीय श्री श्रेष्ठी जइता भार्यों पाँचू ने महेश्वर कवि द्वारा विरचित शब्दभेदप्रकाश की प्रतिलिपि करवायी।[2]

१०. संवत् १५५८ में ब्र. जिनदास द्वारा रचित हरिवंश पुराण की प्रति इन्ही के प्रमुख शिष्य विजयकीर्ति को देउल ग्राम में भेंट दी गयी।[3]

ज्ञानभूषण के पश्चात् होनेवाले कितने ही विद्वानों ने इनका आदरपूर्वक स्मरण किया। भट्टारक शुभचन्द्र की दृष्टि में न्यायशास्त्र के पारंगत विद्वान् थे एवं उन्होंने अनेक शास्त्रार्थों में विजय प्राप्त की थी। सकलभूषण ने इन्हें ज्ञान से विभूषित एवं पाण्डित्यपूर्ण बतलाया है तथा इन्हे सकलकीर्ति की परम्परा मे होनेवाले भट्टारकों में सूर्य के समान कहा है।

ज्ञानभूषण की मृत्यु संवत् १५६० के बाद किसी समय हुई होगी ऐसा विद्वानों का अभिमत है।

---

१. प्रशस्ति संग्रह, पृ. ३८६।
२ ग्रन्थ सख्या ९८, अग्रवाल मन्दिर, उदयपुर।
३ ग्रन्थ सख्या २४७, शास्त्र भण्डार, उदयपुर।

भट्टारक विजयकीर्ति

[संवत् १५५७ से १५७३ तक]

१५वी शताब्दी मे भट्टारक सकलकीर्ति ने गुजरात एवं राजस्थान में अपने त्यागमय एवं विद्वत्तापूर्ण जीवन से भट्टारक संस्था के प्रति जनता की गहरी आस्था प्राप्त करने में महान् सफलता प्राप्त की थी। उनके पश्चात् इनके दो सुयोग्य शिष्य एवं प्रशिष्य भट्टारक भुवनकीर्ति एव भट्टारक ज्ञानभूषण ने उसकी नीव को और भी दृढ करने मे अपना योग दिया। जनता ने इन साधुओ का हार्दिक स्वागत किया और उन्हे अपने मार्गदर्शन एवं धर्मगुरु के रूप में स्वीकार किया। समाज में होनेवाले प्रत्येक धार्मिक एवं सास्कृतिक तथा साहित्यिक समारोहो में इनसे परामर्श लिया जाने लगा तथा यात्रा-संघो एवं बिम्ब-प्रतिष्ठाओ में इनका नेतृत्व स्वत. ही अनिवार्य मान लिया गया। इन भट्टारको के विहार के अवसर पर धार्मिक जनता द्वारा इनका अपूर्व स्वागत किया जाता और उन्हे अधिक से अधिक सहयोग देकर उनके महत्त्व को जन-साधारण के सामने रखा जाता। ये भट्टारक भी जनता के अधिक से अधिक प्रिय बनने का प्रयास करते थे। ये अपने सम्पूर्ण जीवन को समाज एवं संस्कृति की सेवा में लगाते और अध्ययन, अध्यापन एवं प्रवचनो द्वारा देश मे एक नया उत्साहप्रद वातावरण पैदा करते।

विजयकीर्ति ऐसे ही भट्टारक थे जिनके बारे मे अभी बहुत कम लिखा गया है। ये भट्टारक ज्ञानभूषण के शिष्य थे और उनके पश्चात् भट्टारक सकलकीर्ति द्वारा प्रतिष्ठापित भट्टारक गादी पर बैठे थे। इनके समकालीन एवं बाद मे होनेवाले कितने ही विद्वानो ने अपनी ग्रन्थ प्रशस्तियो मे इनका आदर-भाव से स्मरण किया है। इनके प्रमुख शिष्य भट्टारक शुभचन्द्र ने तो इनकी अत्यधिक प्रशसा की है और इनके सम्बन्ध मे कुछ स्वतन्त्र गीत भी लिखे है। विजयकीर्ति अपने समय के समर्थ भट्टारक थे। उनकी प्रसिद्धि एवं लोकप्रियता काफी अच्छी थी। यही बात है कि ज्ञानभूषण ने उन्हे अपना पट्टाधिकारी स्वीकृत किया और अपने ही समक्ष उन्हे भट्टारक पद देकर स्वय साहित्य सेवा मे लग गये।

विजयकीर्ति के प्रारम्भिक जीवन के सम्बन्ध मे अभी कोई निश्चित जानकारी उपलब्ध नही हो सकी है लेकिन भट्टारक शुभचन्द्र के विभिन्न गीतो के आधार पर ये शरीर से कामदेव के समान सुन्दर थे। इनके पिता का नाम साह गंगा तथा माता का नाम कुअरि था।

साहा गंगा तनयं करउ विनयं शुद्ध गुरं
शुभ वंसह जातं कुअरि मातं परमपरं
साक्षादि सुबुद्ध जी कोइ शुद्धं दलित तमं।
सुरसेवत पायं मारीत मायं भवित मतं ॥१०॥

—शुभचन्द्र कृत गुरुछन्द गीत

बाल्यकाल में ये अधिक अध्ययन नही कर सके थे। लेकिन भट्टारक ज्ञानभूषण के सम्पर्क मे आते ही इन्होंने सिद्धान्त ग्रन्थ का गहरा अध्ययन किया। गोमट्टसार, लब्धिसार, त्रिलोकसार आदि सैद्धान्तिक ग्रन्थो के अतिरिक्त न्याय, काव्य, व्याकरण आदि के ग्रन्थों का भी अच्छा अध्ययन किया और समाज में अपनी विद्वत्ता की अद्भुत छाप जमा दी।

लब्धि सु गुमट्टसार सार त्रैलोक्य मनोहर।
कर्कश तर्क वितर्क काव्य कमलाकर दिणकर।
श्री मूलसघि विख्यात नर विजयकीर्ति वाछित करण।
जा चाँदसूर ता लगी तयो जयह सूरि शुभचन्द्र सरण।

इन्होने जब साधु जीवन मे प्रवेश किया तो ये अपनी युवावस्था के उत्कर्ष पर थे। सुन्दर तो पहले से ही थे किन्तु यौवन ने उन्हे और भी निखार दिया था। इन्होने साधु बनते ही अपने जीवन को पूर्णत. संयमित कर लिया और कामनाओ एवं षट्रस व्यजनो से दूर हटकर ये साधु जीवन की कठोर साधना मे लग गये। ये अपनी साधना में इतने तल्लीन हो गये कि देश-भर मे इनके चरित्र की प्रशंसा होने लगी।

भट्टारक शुभचन्द्र ने इनकी सुन्दरता एवं संयम का एक रूपक गीत में बहुत ही सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। रूपक गीत का सक्षिप्त निम्न प्रकार है—

जब कामदेव को भट्टारक विजयकीर्ति की सुन्दरता एवं कामनाओ पर विजय का पता चला तो वह ईर्ष्या से जल भुन गया और क्रोधित होकर सन्त के संयम को डिगाने का निश्चय किया।

नाद एह वेरि वग्गि रगि कोई नावीमो।
मूलसंघि पट्ट बंध विविह भावि भावीयो।
तसह भेरी ढोल नाद वाद तेह उपन्नपे।
भणि मार तेह नारि कवण आज नीपन्नी।

कामदेव ने तत्काल देवागनाओ को बुलाया और विजयकीर्ति के संयम को भंग करने की आज्ञा दी। लेकिन जब देवागनाओ ने विजयकीर्ति के बारे में सुना तो उन्हें अत्यधिक दुख हुआ और सन्त के पास जाने में कष्ट अनुभव करने लगी। इस पर कामदेव ने उन्हें निम्न शब्दों से उत्साहित किया—

वयण सुनि नव कामिणी दुख धरिह महंत।
कही विमासण मझहवी नवि वारयो रहि कंत ॥१३॥

रे रे कामणि म करि तु दुखह
इन्द्र नरेन्द्र मगाव्या भिखह ।
हरि हर बंभमि कीया रंकह ।
लोय सब्ब मम वंसाहुँ निसंकह ॥१४॥

इसके पश्चात् क्रोध, मान, मद एव मिथ्यात्व की सेना खड़ी की गयी। चारों ओर वसन्त ऋतु-जैसा सुहावनी ऋतु कर दी गयी जिसमे कोयल कुहू-कुहू करने लगी और भ्रमर गुंजरने लगे। भेरी बजने लगी। इन सबने सन्त विजयकीर्ति के चारों ओर जो मायाजाल बिछाया उसका वर्णन कवि के शब्दों में पढिए—

बाल्लत खेलंत चालत धावंत धूणत
धूजंत हाक्कंत पूरंत मोडत
तुदत भजंत खजत मुक्कंत मारत रंगेण ।
फाडंत जाणंत धालंत फेडंत खग्गेण ।
जाणीय मार गमण रमणं य तीसो ।
वोत्यावइ निज वलं सकल सुधीसो ।
राय गणंयत गयो बहु युद्‌धु कती ॥१८॥

कामदेव की सेना आपस मे मिल गयी। बाजे बजने लगे। कितने ही सैनिक नाचने लगे। धनुषबाण चलने लगे और भीषण नाद होने लगा। मिथ्यात्व तो देखते ही डर गया और कहने लगा कि इस सन्त ने तो मिथ्यात्वरूपी महान् विकार को पहले ही पी डाला है। इसके पश्चात् कुमति की बारी आयी लेकिन उसे भी कोई सफलता नही मिली। मोह की सेना भी शीघ्र ही भाग गयी। अन्त में स्वयं कामदेव ने कर्मरूपी सेना के साथ उसपर आक्रमण किया।

उधर विजयकीर्ति ध्यान में तल्लीन थे। उन्होने शम, दम एवं यम के द्वारा कामदेव और उसके साथियो की एक भी नही चलने दी। जिससे मदनराज को उसी क्षण वहाँ से भागना पडा।

झूटा झूंट करीय तिहाँ लग्गालमयणराय तिहाँ तत्क्षण भग्गा ।
आगति यो मयणाधिय नासई, ज्ञान खडक मुनि अंतिहि प्रकासइ ॥२७॥

इस प्रकार इस गीत में शुभचन्द्र ने विजयकीर्ति के चरित्र की निर्मलता, ध्यान की गहनता एवं ज्ञान की महत्ता पर अच्छा प्रकाश डाला है। इस गीत मे उनके महान् व्यक्तित्व की झलक मिलती है।

विजयकीर्ति के महान् व्यक्तित्व की सभी परवर्ती कवियो एवं भट्टारकों ने प्रशसा की है। ब्र. कामराज ने उन्हे सुप्रचारक के रूप मे स्मरण किया है।[1] भट्टारक

---

१ विजयकीर्तिया भवन भट्टारकोपदिशिने ॥८॥
—जयकुमार पुराण

सकलभूषण ने यशस्वी, महामना, मोक्षसुखाभिलाषी आदि विशेषणों से उनकी कीर्ति का बखान किया है।[1] शुभचन्द्र तो उनके प्रधान शिष्य थे ही, उन्होंने अपनी प्रायः सभी कृतियों में उनका उल्लेख किया है। श्रेणिक चरित्र में यतिराज, पुण्यमूर्ति आदि विशेषणों से अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है।

जयति विजयकीर्तिः पुण्यमूर्तिः सुकीर्तिः
जयतु च यतिराजो भूमिपैः स्पृष्टपादः।
नयनलिनहिमांशु ज्ञानभूपस्य पट्टे
विविधपरविवादि क्ष्मंधरे वज्रपात.॥

—श्रेणिकचरित्र २

भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति एवं लक्ष्मीचन्द्र चादवाडा ने भी अपनी कृतियों में विजयकीर्ति का निम्न शब्दों में उल्लेख किया है—

१. विजयकीर्ति तस पटधारी, प्रगट्या पूरण सुखकार रे।

—प्रद्युम्नप्रबन्ध

२. तिन पट विजयकीर्ति जैवंत, गुरु अन्यमति परवत समान।

—श्रेणिकचरित्र

सांस्कृतिक सेवा

विजयकीर्ति का समाज पर जबरदस्त प्रभाव होने के कारण समाज की गतिविधियों में उनका प्रमुख हाथ रहता था। इनके भट्टारक काल में कितनी ही प्रतिष्ठाएँ हुईं। मन्दिरो का निर्माण एवं जीर्णोद्धार किया गया। इसके अतिरिक्त सास्कृतिक कार्यक्रमों के सम्पादन में भी इनका योगदान उल्लेखनीय रहा। सर्वप्रथम इन्होंने संवत् १५५७-१५६० और उसके पश्चात् संवत् १५६१, १५६४, १५६८, १५७० आदि वर्षों में सम्पन्न होनेवाली प्रतिष्ठाओं में भाग लिया और जनता को मार्गदर्शन दिया। इन संवतो में प्रतिष्ठित मूर्तियाँ डूँगरपुर, उदयपुर आदि नगरों के मन्दिरो में मिलती हैं। संवत् १५६१ में इन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र की महत्ता को प्रतिष्ठापित करने के लिए रत्नत्रय की मूर्ति को प्रतिष्ठापित किया।

स्वर्णकाल

विजयकीर्ति के जीवन का स्वर्णकाल संवत् १५५२ से १५७० तक का माना जा सकता है। इन १८ वर्षों में इन्होने देश को एक नयी सास्कृतिक चेतना दी तथा अपने त्याग एवं तपस्वी जीवन से देश को आगे बढाया। संवत् १५५७ में इन्हे

---

१ भट्टारक' श्रीविजयादिकीर्तिस्तदीयपट्टे वरलब्धकीर्ति'।
महामना मोक्षसुखाभिलाषी बभूव जैनावनी यार्च्यपाद'॥
—उपदेशरत्नमाला

२. भट्टारक सम्प्रदाय, पृष्ठ १४४।

भट्टारक पद अवश्य मिल गया था। उस समय भट्टारक ज्ञानभूषण जीवित थे क्योंकि उन्होंने संवत् १५६० में 'तत्त्वज्ञान तरंगिणी' की रचना समाप्त की थी। विजयकीर्ति ने सम्भवतः स्वयं कोई कृति नहीं लिखी। वे केवल अपने विहार एवं प्रवचन से ही मार्ग-दर्शन देते रहे। प्रचारक की दृष्टि से उनका काफ़ी ऊँचा स्थान बन गया था और वे बहुत-से राजाओं द्वारा भी सम्मानित थे।[1] वे शास्त्रार्थ एवं वाद-विवाद भी करते थे और अपने अकाट्य तर्कों से अपने विरोधियों से अच्छी टक्कर लेते थे। जब वे बहस करते तो श्रोतागण मन्त्रमुग्ध हो जाते और उनकी तर्कों को सुनकर उनके ज्ञान की प्रशंसा किया करते। भट्टारक शुभचन्द्र ने अपने एक गीत में इनके शास्त्रार्थ का निम्न प्रकार वर्णन किया है—

वादीय वाद विटंब वादि सिगाल मद गंजन।
वादीय कुंद कुदाल वादि श्रावय मन रंजन।
वादि तिमिर हर भूरि वारि नीर सह सुधाकर
वादि बिम्बन वीर वादि निगाण गुण सागर।
वादीन विवुध सरसति गछि मूलसंघि दिगम्बर रह।
कहिइ ज्ञानभूषण तो पट्टी श्री विजयकीर्ति जागी यतिवरह ॥५॥

इनके चरित्र, ज्ञान एवं संयम के सम्बन्ध में इनके शिष्य शुभचन्द्र ने कितने ही पद्य लिखे हैं उनमें से कुछ का रसास्वादन कीजिए—

सुरनर खग भर चारुचंद्र चचित चरणद्वय।
समयसार का सार हंस भर चिचित चिन्मय।
दक्ष पक्ष शुभ मुक्ष लक्ष्य लक्षण पतिनायक
ज्ञान दान निगान अथ चातक जलदायक।
कमनीय मूर्ति सुन्दर सुकर धम्म शर्म कल्याण कर
जय विजयकीर्ति सूरीश कर श्री श्री वर्द्धन सौख्य वर ॥७॥
विशद विसवद वादि वरन कुण्ड गरुं भेषज।
दुर्नय वनद समीर वीर वन्दित पद पंकज।
पुन्य पयोधि सुचन्द्र चामीकर सुन्दर।
स्फूर्ति कीर्ति विख्यात सुमूर्ति सोभित सुभ संवर।
संसार संघ बहु दयी हर नागरमनि चारित्र धरा।
श्री विजयकीर्ति सूरीस जयवर श्री वर्द्धन पंकहर ॥८॥

---

१. य पूज्यो नृपमल्लिभैरवमहादेवेन्द्रमुख्यैर्नृपैः।
षट्तर्कागमशास्त्रकोविदमतिर्जाग्रद्यशश्चन्द्रमा॥
भव्याम्भोरुहभास्कर शुभकर संसारविच्छेदकः।
सोऽव्याच्छ्रीविजयादिकीर्तिमुनिपो भट्टारकाधीश्वरः॥
—भट्टारक सम्प्रदाय, पृष्ठ स. १४४।

'भट्टारक विजयकीर्ति' के समय में सागवाड़ा एवं नौतनपुर की समाज दो जातियों में विभक्त थी। 'विजयकीर्ति' बड़साजनों के गुरु कहलाने लगे थे। जब वे नौतनपुर आये तो विद्वान् श्रावकों ने उनसे शास्त्रार्थ करना चाहा लेकिन उनकी विद्वत्ता के सामने वे नहीं ठहर सके।[1]

शिष्य परम्परा

विजयकीर्ति के कितने ही शिष्य थे। उनमें भट्टारक शुभचन्द्र, बूचराज, ब्र. यशोधर आदि प्रमुख थे। बूचराज ने एक विजयकीर्ति गीत लिखा है, जिसमें विजयकीर्ति के उज्ज्वल चरित्र की अत्यधिक प्रशंसा की गयी है। वे सिद्धान्त के मर्मज्ञ थे तथा चारित्र सम्राट् थे।[2] इनके एक अन्य शिष्य ब्र. यशोधर ने अपने कुछ पदों में विजयकीर्ति का स्मरण किया है तथा एक स्वतन्त्र गीत में उनकी तपस्या, विद्वत्ता एवं प्रसिद्धि के बारे में अच्छा परिचय दिया है। गीत[3] का अन्तिम भाग निम्न प्रकार है—

अनेक राजा चलण सेवि मालवी मेवाड।
गूजर सोरठ सिन्धु सहिजि अनेक भड भूपाल।
दक्षण मरहठ चीण कुंकण पूरवि नाम प्रसिद्ध।
छत्रीस लक्षण कला बहुतरि अनेक विद्यारिधि।
आगू वेद सिद्धान्त व्याकरण भावि भवीयण सार।
नाटक छन्द प्रमाण सूझि निज जपि नवकार॥
श्री काष्ठा संघि कुल तिलुरे यती सरोमणि सार।
श्री विजयकीरति गिरुउ गणधर श्री संघकरि जयकार॥४॥

उक्त गीत से ज्ञात होता है कि विजयकीर्ति केवल जैन समाज द्वारा ही सम्मानित नहीं थे किन्तु वे मालवा, मेवाड, गुजरात, सौराष्ट्र, सिन्ध, महाराष्ट्र एवं कोकड़ प्रदेश के अनेक शासकों द्वारा भी सम्मानित थे तथा जब कभी वे इन प्रदेशों में विहार करते वहाँ के शासकों एवं समाज द्वारा उनका शानदार स्वागत किया जाता था।

---

१. तिणि दिन बडिसाजनि सागवाडि सौतिनाथनि प्रतिष्ठा श्री विजयकीर्ति कीनी।
   वही भट्टारक पट्टावलि शास्त्र भण्डार, डूंगरपुर।
२ पूरा पद देखिए—लेखक द्वारा सम्पादित राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रन्थ सूची, चतुर्थ भाग, पृ. स ६६८-६७।
३. विजयकीर्ति गीत, रजिस्टर नं. ७, पृ. स. ६०, महावीर भवन, जयपुर।

भट्टारक शुभचन्द्र

[संवत् १५७३ से १६१३ तक]

शुभचन्द्र भट्टारक विजयकीर्ति के शिष्य थे। वे अपने समय के प्रसिद्ध भट्टारक, साहित्य-प्रेमी, धर्म-प्रचारक एवं शास्त्रो के प्रबल विद्वान् थे। जब वे भट्टारक बने उस समय भट्टारक सकलकीर्ति, एवं उनके पट्ट शिष्य भुवनकीर्ति, प्रशिष्य ज्ञानभूषण एवं विजयकीर्ति ने अपनी सेवा, विद्वत्ता एवं सास्कृतिक अभिरुचि से इतना अच्छा वातावरण बना लिया था कि इन सन्तो के प्रति जैन समाज में ही नही किन्तु जैनेतर समाज मे भी अगाध श्रद्धा उत्पन्न हो चुकी थी। शुभचन्द्र ने भट्टारक ज्ञानभूषण एवं भट्टारक विजयकीर्ति का शासन काल देखा था। विजयकीर्ति के तो लाडले शिष्य ही नही थे किन्तु उनके शिष्यो में सबसे अधिक प्रतिभावान् भी थे। इसलिए विजयकीर्ति की मृत्यु के पश्चात् इन्हे ही उस समय के सबसे प्रतिष्ठित एवं सम्मानित पद पर प्रतिष्ठापित किया गया।

इनका जन्म सवत् १५३०–४० के मध्य कभी हुआ होगा। ये जब बालक थे तभी से इनका इन भट्टारको से सम्पर्क स्थापित हो गया। प्रारम्भ मे इन्होने अपना समय संस्कृत एव प्राकृत भाषा के ग्रन्थो के पढने मे लगाया। व्याकरण एव छन्दशास्त्र में निपुणता प्राप्त की और फिर भट्टारक ज्ञानभूषण एवं भट्टारक विजयकीर्ति के सान्निध्य में रहने लगे। श्री वी. पी. जोहरापुरकर के मतानुसार ये सवत् १५७३ मे भट्टारक बने।[1] और वे इसी पद पर सवत् १६१३ तक रहे। इस तरह शुभचन्द्र ने अपने जीवन का अधिक भाग भट्टारक पद पर रहते हुए ही व्यतीत किया। बलात्कारगण की ईडर शाखा की गद्दी पर इतने समय तक सम्भवत ये ही भट्टारक रहे। इन्होंने अपनी प्रतिष्ठा एवं पद का खूब अच्छी तरह सदुपयोग किया और इन ४० वर्षों मे राजस्थान, पजाब, गुजरात एवं उत्तरप्रदेश मे भगवान् महावीर के शासन का जबरदस्त प्रभाव स्थापित किया।

भट्टारक बनने के पश्चात् इनकी कीर्ति चारो ओर व्याप्त हो गयी। राजस्थान के अतिरिक्त इन्हें गुजरात, महाराष्ट्र, पंजाब एवं उत्तर प्रदेश के अनेक गाँव एवं नगरो से निमन्त्रण मिलने लगे। जनता इनके श्रीमुख से धर्मोपदेश सुनने को अधीर हो उठती इसलिए ये जहाँ भी जाते भक्तजनो के पलक पावडे बिछ जाते। इनकी वाणी मे

---

१. देखिए, भट्टारक सम्प्रदाय, ,, सख्या १५८।

आकर्षण था इसलिए एक ही बार के सम्पर्क में वे किसी भी अच्छे व्यक्ति को अपना भक्त बनाने में समर्थ हो जाते। ये अपने साथ ग्रन्थों के ढेर के ढेर एवं लेखन सामग्री रखते। नवीन साहित्य के निर्माण में इनकी अधिक रुचि थी। इनकी विद्वत्ता से मुग्ध होकर भक्तजन इनसे ग्रन्थ निर्माण के लिए प्रार्थना करते और ये उनके आग्रह से उसे पूरा करने का प्रयत्न करते। अपने शिष्यों द्वारा ये ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ करवाते और फिर उन्हें शास्त्र भण्डारों में विराजमान करने के लिए अपने भक्तों से आग्रह करते। संवत् १५९० में ईडर नगर के हूँवड जातीय श्रावको ने ब्र. तेजपाल के द्वारा पुण्यास्रव कथाकोश की प्रति लिखवाकर इन्हें भेंट की थी। संवत् १५९९ में डूँगरपुर के आदिनाथ चैत्यालय में इन्हीं के उपदेश से अंगप्रज्ञप्ति की प्रतिलिपि करवाकर विराजमान की गयी थी। चन्दना चरित को इन्होंने वाग्वर (बागड) में निबद्ध किया और कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका को संवत् १६१३ में सागवाडा में समाप्त की। इसी तरह संवत् १६१७ में पाण्डव-पुराण को हिसार (पंजाब) में निबद्ध किया गया। इन्होंने देश के सभी भागो में विहार किया और देश एवं समाज में धर्म के प्रति निष्ठा उत्पन्न की।

विद्वत्ता

शुभचन्द्र शास्त्रो के पूर्ण मर्मज्ञ थे। ये षट्भाषा कवि-चक्रवर्ती कहलाते थे। छह भाषाओ मे सम्भवत. संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी. गुजराती एवं राजस्थानी भाषाएँ थी। ये त्रिविध विद्याधर (शब्दागम, युक्त्यागम एवं परम्परागम) के ज्ञाता थे। पट्टावलि के अनुसार ये प्रमाण परीक्षा, पत्र परीक्षा, पुष्प परीक्षा (?) परीक्षा-मुख, प्रमाण-निर्णय, न्यायमकरन्द, न्यायकुमुदचन्द्र, न्यायविनिश्चय, श्लोकवार्तिक, राजवार्तिक, प्रमेय-कमल-मार्त्तण्ड, आप्तमीमासा, अष्टसहस्री, चिन्तामणिमीमांसा, विवरण वाचस्पति, तत्त्व कौमुदी आदि न्याय ग्रन्थो के, जैनेन्द्र, शाकटायन, ऐन्द्र, पाणिनी, कलाप आदि व्याकरण ग्रन्थो के, त्रैलोक्यसार, गोम्मट्टसार, लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकयप्रज्ञप्ति, सुविज्ञप्ति, अध्यात्माष्ट-सहस्री (?) और छन्दोलंकार आदि महाग्रन्थो के पारगामी विद्वान् थे।[1]

शिष्य परम्परा

भट्टारको के संघ में कितने ही मुनि, ब्रह्मचारी, साध्वियाँ तथा विद्वान्-गण रहा करते थे। इसलिए इनके संघ में भी कितने ही साधु थे जिनमें सकलभूषण, ब्र. तेजपाल, वर्णी क्षेमचन्द्र, सुमतिकीर्ति, श्री भूषण आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। आचार्य सकलभूषण ने अपने उपदेश रत्नमाला मे भट्टारक शुभचन्द्र का नाम बडे ही आदर के साथ लिया है और अपने आपको उनका शिष्य लिखने में गौरव का अनुभव किया है। यही नही करकण्डुचरित्र को तो शुभचन्द्र ने सकलभूषण की सहायता से ही समाप्त किया था। वर्णी श्रीपाल ने इन्हें पाण्डवपुराण की रचना में सहायता की थी जिसका

१. देखिए, नाथूरामजी प्रेमी कृत—जैन साहित्य और इतिहास, पृ. सं. ३८३।

उल्लेख शुभचन्द्र ने पाण्डवपुराण की प्रशस्ति में सुन्दर ढंग से किया है।

भट्टारक वीरचन्द्र ने अपनी कृति नेमिकुमारराय में शुभचन्द्र की विद्वत्ता, वक्तृत्वकला एवं तपस्या की अत्यधिक प्रशंसा की है।[1] जिससे ऐसा लगता है कि शुभचन्द्र अपने समय के भट्टारक शिरोमणि थे।[2]

प्रतिष्ठा समारोहों का संचालन

अन्य भट्टारको के समान इन्होने भी कितनी ही प्रतिष्ठा-समारोहों में भाग लिया और वहां होनेवाले प्रतिष्ठा विधानो को सम्पन्न कराने मे अपना पूर्ण योग दिया। भट्टारक शुभचन्द्र द्वारा प्रतिष्ठित आज भी कितनी ही मूर्तियां उदयपुर, सागवाडा, डूंगरपुर, जयपुर आदि मन्दिरो में विराजमान है। पंचायतो की ओर से ऐसे प्रतिष्ठा-समारोहों में सम्मिलित होने के लिए इन्हे विधिवत् निमन्त्रण-पत्र मिलते थे। और वे संघ सहित प्रतिष्ठाओ में जाते तथा उपस्थित जनसमुदाय को धर्मोपदेश का पान कराते। ऐसे ही अवसरो पर ये अपने शिष्यो का कभी-कभी दीक्षा समारोह भी मनाते जिससे साधारण जनता भी साधु जीवन की ओर आकर्षित होती। सवत् १६०७ मे इन्ही के उपदेश से पंचपरमेष्ठी की मूर्ति की स्थापना की गयी थी।[3]

इसी समय की प्रतिष्ठापित एक ११½" × ३०" अवगाहनावाली नन्दीश्वर द्वीप के चैत्यालयो की प्रतिमा जयपुर के लश्कर के मन्दिर मे विराजमान है। यह प्रतिष्ठा सागवाडा मे स्थित आदिनाथ के मन्दिर में महाराजाधिराज श्री आसकरण के शासन काल मे हुई थी। इसी तरह सवत् १५८१ में इन्ही के उपदेश से हूँबड जातीय श्रावक साह हीरा राजू आदि ने प्रतिष्ठा महोत्सव सम्पन्न करवाया था।[4]

---

१ शिष्यस्तस्य समृद्धिबुद्धिविशदो यस्तर्कवेदीवरो,
वैराग्यादिविशुद्धिवृन्दजनक श्रीपालवर्णी महान्।
संशोध्याखिलपुस्तक वरगुणं सत्पाण्डवानामिद
तेनालेखि पुराणमर्थनिकर पूर्वं वरे पुस्तके॥

२. तप कुलि कमल प्रकासीउ, भट्टारक शुभचन्द्र सूरि।
वाणीइ सुर नर मोहीआ, कुमती नाण दूरि॥८॥
सु कहता सुभ कीर्ति जे, जेहनो दानी विदेसी
विसात मद गज भजनों, रजनों राय नरेस॥९॥
भ कहितां भक्ति करो, जिणवर तणी सचग।
सास्त्र सीधात रचि घणा, मनि बहु धाणी चग॥१०॥
च किहिता जे चन्द्रमा, जयम कमलनो करि विकास।
सत्य धर्मामृत उपदेशिमे, छोडवि संसार पाम॥११॥
द्र कहिता वच द्रव्यन करि, ते सरस वखाण।
भट्टारक भव भव हरि श्री शुभचन्द्र सुजाण॥१२॥

३. सम्वत १६०७ वर्षे वैशाख वदी २ गुरु श्री मूलसंघे भ श्री शुभचन्द्र गुरूपदेशात् हूँबड संखेश्वरा गोत्रे सा जिना।
—भट्टारक सम्प्रदाय—पृ सं. १४५।

४. संम्वत १६८१ वर्ष पौष वदी १३ शुक्रे श्री मूलसघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ. श्री ज्ञानभूषण तत्पट्टे श्री भ. विजयकीर्ति तत्पट्टे भट्टारक श्री शुभचन्द्र गुरूपदेशात् हूबड जाति साह हीरा भा राजू सुत स तारा द्वि भार्या पोई सुत सं माका भार्या हीरा दे·· ··· भा नारग दे भ्रा रत्नपाल भा. विराला दे सुत रखभदास नित्यं प्रणमति।

साहित्यिक सेवा

शुभचन्द्र ज्ञान के सागर एवं अनेक विद्याओं में पारंगत विद्वान् थे। वे वक्तृत्व-कला में पटु तथा आकर्षक व्यक्तित्ववाले सन्त थे। इन्होंने जो साहित्य सेवा अपने जीवन में की थी वह इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। अपने संघ की व्यवस्था तथा धर्मोपदेश एवं आत्मसाधना के अतिरिक्त जो भी समय इन्हें मिला उसका साहित्य-निर्माण में ही सदुपयोग किया गया। वे स्वयं ग्रन्थो का निर्माण करते, शास्त्र भण्डारो की सम्हाल करते, अपने शिष्यों से प्रतिलिपियाँ करवाते तथा जगह-जगह शास्त्रागार खोलने की व्यवस्था कराते थे। वास्तव में ऐसे ही सन्तों के सत्प्रयास से भारतीय साहित्य सुरक्षित रह सका है।

पाण्डवपुराण इनकी संवत् १६०८ की कृति है। उस समय साहित्यिक-जगत् में इनकी ख्याति चरमोत्कर्ष पर थी। समाज में इनकी कृतियाँ प्रिय बन चुकी थी और उनका अत्यधिक प्रचार हो चुका था। संवत् १६०८ तक जिन कृतियों को इन्होने समाप्त कर लिया था[1] उनमें (१) चन्द्रप्रभ चरित्र (२) श्रेणिक चरित्र (३) जीवन्धर चरित्र (४) चन्दना कथा (५) अष्टाह्लिका कथा (६) सद्वृत्तिशालिनी (७) तीन चौबीसी पूजा (८) सिद्धचक्र पूजा (९) सरस्वती पूजा (१०) चिन्तामणिपूजा (११) कर्मदहन पूजा (१२) पार्श्वनाथ काव्य पंजिका (१३) पल्य व्रतोद्यापन (१४) चारित्र शुद्धिविधान (१५) सशयवदन विदारण (१६) अपशब्द खण्डन (१७) तत्त्व निर्णय (१८) स्वरूप सम्बोधन वृत्ति (१९) अध्यात्म तरगिणी (२०) चिन्तामणि प्राकृत व्याकरण (२१) अंग-प्रज्ञप्ति आदि के नाम उल्लेखनीय है। उक्त साहित्य भट्टारक शुभचन्द्र के कठोर परिश्रम एवं त्याग का फल है। इसके पश्चात् इन्होने और भी कृतियाँ लिखी।[2] संस्कृत रचनाओं के अतिरिक्त इनकी कुछ रचनाएँ हिन्दी में भी उपलब्ध होती है। लेकिन कवि ने पाण्डव-पुराण मे उनका कोई उल्लेख नही किया है। राजस्थान के प्राय· सभी ग्रन्थ भण्डारों में इनकी अबतक जो कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं वे निम्न प्रकार है।

संस्कृत रचनाएँ

१. ऋषिमण्डल पूजा—राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारो की ग्रन्थसूची-
पंचम भाग, पृष्ठ संख्या ७८७

२. अनन्त व्रत पूजा	,,	१००७
३. अम्बिका कल्प	,,	४२६
४. अष्टाह्लिका व्रतकथा	,,	९८५

१. संवत १५८१ वर्षे पौष बदी १३ शुक्रे श्री मूलसंघ सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ. श्री ज्ञानभूषण तत्पट्टे भ. श्री शुभचन्द्र गुरूपदेशात् हूंबड जाति साह हीरा भा राजू सुत स. तारा द्वि भार्या पोई सुत स माका भार्या हीरा दे··· .भा. नारग दे भ्रा. रत्नपाल भा. विराला वे सुत रखभदास नित्यं प्रणमति।

२ विस्तृत प्रशस्ति के लिए देखिए, लेखक द्वारा सम्पादित सग्रह, पृ. सं. ७।

५. अष्टाह्निका पूजा
६. अढाई द्वीप पूजा
७. करकण्डु चरित्र
८. कर्मदहन पूजा
९. कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका
१०. गणधरवलय पूजा
११. गुरावली पूजा
१२. चतुर्विंशति पूजा
१३ चन्दना चरित्र
१४ चन्दनषष्टिव्रत पूजा
१५ चन्द्रप्रभचरित्र
१६. चरित्र शुद्धि विधान
१७. चिन्तामणि पार्श्वनाथ पूजा
१८. जीवन्धर चरित्र
१९. तेरह द्वीप पूजा
२० तीन चौबीसी पूजा
२१ तीस चौबीसी पूजा
२२ त्रिलोक पूजा
२३ त्रेपनक्रियागति
२४. नन्दीश्वर पक्ति पूजा
२५ पंचकल्याणक पूजा
२६. पंचगुणमाल पूजा
२७. पचपरमेष्ठी पूजा
२८ पल्यव्रतोद्यापन
२९ पाण्डवपुराण
३०. पार्श्वनाथ काव्य पजिका
३१. प्राकृत लक्षण टीका
३२ पुष्पाजलिव्रत पूजा
३३. प्रद्युम्न चरित
३४. बारह सौ चौंतीस व्रत पूजा
३५. लघुसिद्ध चक्र पूजा
३६ बृहद् सिद्ध पूजा
३७. श्रेणिकचरित्र
३८. समयसार टीका

३९. सहस्रगुणितपूजा
४०. सुभाषितार्णव

हिन्दी रचनाएँ

१. तत्त्वसार कथा
२. दान छन्द
३. गुरु छन्द
४. महावीर छन्द
५. नेमिनाथ छन्द
६. विजयकीर्ति छन्द
७ अष्टाह्निका गीत

उक्त सूची के आधार पर निम्न तथ्य निकाले जा सकते है—

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, सज्जन चित्त वल्लभ, अम्बिका कल्प, गणधर वलय पूजा, चन्दनषष्टिव्रतपूजा, तेरहद्वीप पूजा, पंच कल्याणक पूजा, पुष्पांजलि व्रत पूजा, सार्द्धद्वयद्वीप पूजा एव सिद्धचक्र पूजा आदि संवत् १६०८ के पश्चात् अर्थात् पाण्डवपुराण के बाद की कृतियाँ हैं ।

२. सद्वृत्तिशालिनी, सरस्वती पूजा, संशय-वदन-विदारण, अपशब्दखण्डन, तत्त्वनिर्णय, स्वरूपसम्बोधनवृत्ति एवं अंगप्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थ अभी तक राजस्थान के किसी भण्डार में उपलब्ध नहीं हो सके हैं ।

३ हिन्दी रचनाओं का कवि द्वारा उल्लेख नहीं किया जाना इन रचनाओ का विशेष महत्त्व की कृतियाँ नही होना बतलाया जाता है क्योकि गुरु छन्द एवं विजयकीर्ति छन्द तो कवि की उस समय की रचनाएँ मालूम पडती है जब विजयकीर्ति का यश उत्कर्ष पर था।

इस प्रकार भट्टारक शुभचन्द्र १६–१७वी शताब्दी के यशस्वी भट्टारक थे जिनकी कीर्ति एवं प्रशंसा में जितना भी कहा जाये वही अल्प होगा । ये साहित्य के कल्पवृक्ष थे जिससे जिसने जिस प्रकार का साहित्य माँगा वही उसे मिल गया । वे सरल स्वभावी एवं व्युत्पन्नमति सन्त थे । भक्तजनों के सिर इनके पास जाते ही स्वतः ही श्रद्धा से झुक जाते थे । सकलकीर्ति के सम्प्रदाय के भट्टारकों में इतना अधिक साहित्यौ-पासक भट्टारक कभी नहीं हुआ । जब वे कही विहार करते तो सरस्वती स्वयं उनपर पुष्प बखेरती थी । भाषण करते समय ऐसा प्रतीत होता था मानो दूसरे गणधर ही बोल रहे हो ।

१. करकण्डु चरित्र

करकण्डु राजा का जीवन इस काव्य की मुख्य कथावस्तु है । यह एक प्रबन्ध काव्य है जिसमें १५ सर्ग हैं। इसकी रचना संवत् १६६१ में जवालपुर में समाप्त हुई थी । उस नगर के आदिनाथ चैत्यालय में कवि ने इसकी रचना की । सकलभूषण जो

इस रचना में सहायक थे शुभचन्द्र के प्रमुख शिष्य थे और उनकी मृत्यु के पश्चात् सकलभूषण को ही भट्टारक पद पर सुशोभित किया गया था। रचना पठनीय एवं सुन्दर है।

२ अध्यात्मतरंगिणी

आचार्य कुन्दकुन्द का समयसार अध्यात्म विषय का उत्कृष्ट ग्रन्थ माना जाता है। जिस पर संस्कृत एव हिन्दी में कितनी ही टीकाएँ उपलब्ध होती हैं। अध्यात्म-तरगिणी सवत् १५७३ की रचना है जो आचार्य अमृतचन्द्र के समयसार के कलशों पर आधारित है। यह रचना कवि की प्रारम्भिक रचनाओं में से है। ग्रन्थ की भाषा क्लिष्ट एव समासबहुल है। लेकिन विषय का अच्छा प्रतिपादन किया गया है। ग्रन्थ का एक पद्य देखिए—

जयतु जितविपक्ष. पालिताशेषशिष्यो
विदितनिजस्वतत्त्वश्चोदितानेकमत्त्व. ।
अमृतविधुयतीश. कुन्दकुन्दो गणेश.
श्रुतमुजिनविवाद. स्याद्विवादाधिवाद. ॥

इसकी एक प्रति कामा के शास्त्र भण्डार में सग्रहीत है। प्रति १०" × ४½" आकार की है तथा जिसमें १३० पत्र है। यह प्रति संवत् १७९५ पौष वदी १ शनिवार की लिखी हुई है।

३ कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका

प्राकृत भाषा में निबद्ध स्वामी कार्तिकेय की 'बारस अणुपेक्खा' एक प्रसिद्ध कृति है। इसमें आध्यात्मिक रस कूट-कूटकर भरा हुआ है। तथा संसार की वास्तविकता का अच्छा चित्रण मिलता है। इसी कृति की संस्कृत टीका भट्टारक शुभचन्द्र ने लिखी जिससे इसके अध्ययन, मनन एव चिन्तन का समाज में और भी अधिक प्रचार हुआ। इस ग्रन्थ को लोकप्रिय बनाने म इस टीका को भी काफी श्रेय रहा। टीका करने मे इन्हे अपने शिष्य सुमतिकीर्ति से सहायता मिली जिसका इन्होने ग्रन्थ प्रशस्ति में साभार उल्लेख किया है।[1] ग्रन्थ रचना के समय कवि हिसार (हरियाणा) नगर मे थे और इसे इन्होने सवत् १६०० माघ सुदी ११ के दिन समाप्त की थी।[2]

---

१. तदन्वये श्रीविजयादिकीर्ति तत्पट्टधारी शुभचन्द्रदेव ।
तेनेयमाकारि विशुद्धटीका श्रीमत्सुमत्यादिसुकीर्तिकीर्ते ॥४५॥

२ श्रीमत् विक्रमभूपते परमिते वर्ष शते षोडशे,
माघे मासिदशाग्रवह्निमहिते ख्याते दशम्यां तिथौ ।
श्रीमच्छ्रीमहीमार-सार-नगरे चैत्यालये श्रीपुरो ।
श्रीमच्छ्रीशुभचन्द्रदेवविहिता टीका सदा नन्दतु ॥५॥

अपनी शिष्य परम्परा में सबसे अधिक व्युत्पन्नमति एवं शिष्य वर्णी क्षीमचन्द्र के आग्रह से इसकी टीका लिखी गयी थी।[1] टीका सरल एवं सुन्दर है तथा गाथाओ के भावो की ऐसी व्याख्या अन्यत्र मिलना कठिन है। ग्रन्थ में १२ अधिकार है। प्रत्येक अधिकार में एक-एक भावना का वर्णन है।

४. जीवन्धर चरित्र

यह इनका प्रबन्ध काव्य है जिसमें जीवन्धर के जीवन पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। काव्य में १३ सर्ग है। कवि ने जीवन्धर के जीवन को धर्मकथा के नाम से सम्बोधित किया है। इसकी रचना संवत् १६०३ में समाप्त हुई थी। इस समय शुभचन्द्र किसी नवीन नगर में विहार कर रहे थे। नगर मे चन्द्रप्रभ जिनालय था और उसी मे एक समारोह के साथ इस काव्य की समाप्ति की थी।[2]

५. चन्द्रप्रभ चरित्र

चन्द्रप्रभ आठवें तीर्थंकर थे। इन्ही के पावन चरित्र का कवि ने इस काव्य के १२ सर्गो मे वर्णन किया है। काव्य के अन्त मे कवि ने अपनी लघुता प्रदर्शित करते हुए लिखा है कि न तो वह छन्द अलंकारो से परिचित है और न काव्य-शास्त्र के नियमों मे पारंगत है। उसने न जैनेन्द्र व्याकरण पढ़ा है, न कलाप एवं शाकटायन व्याकरण देखी है। उसने त्रिलोकसार एवं गोम्मटसार-जैसे महान् ग्रन्थो का अध्ययन भी नही किया है। किन्तु रचना भक्तिवश की गयी है।

६. चन्दना चरित्र

यह एक कथा काव्य है जिसमे चन्दना के पावन एवं उज्ज्वल जीवन का वर्णन किया गया है। इसके निर्माण के लिए कितने ही शास्त्रो एवं पुराणो का अध्ययन करना पडा था। एक महिला के जीवन को प्रकाश में लानेवाला यह सम्भवतः प्रथम काव्य है। काव्य मे पाँच सर्ग हैं। रचना साधारणत अच्छी है तथा पढ़ने योग्य है। इसकी रचना बागड प्रदेश के डूँगरपुर नगर में हुई थी।

हिन्दी कृतियाँ

१. महावीर छन्द

यह महावीर स्वामी के स्तवन के रूप में है। पूरे स्तवन में २७ पद्य हैं। स्तवन की भाषा संस्कृत-प्रभावित है तथा काव्यत्व पूर्ण है। आदि और अन्तिम भाग देखिए—

---

१ वर्णी श्रीक्षीमचन्द्रेण विनयेन कृतप्रार्थना।
शुभचन्द्र-गुरो स्वामिन् कुरु टीकां मनोहराम् ॥६॥

२. श्रीमद्‌ विक्रम-भूपतेर्वसुहतद्वैते शते सप्तह
वेदैन्यूनतरे समे शुभतरेऽपि मासे वरे च शुचौ।
वारे गोष्पतिके त्रयोदशतिथौ सन्नूतने पत्तने
श्री चन्द्रप्रभधाम्नि वै विरचितं चेद मया तोषयत ॥७॥

आदि भाग

प्रणमीय वीर विबुह जण रे जण, मदमई मान महाभय भंजण ।
गुण गण वर्णन करीय बखाणु, यतो जण योगीय जीवन जाणु ।।
मेह गेह गुह देश विदेहह, कुंडलपुर वर पुहवि सुदेहह ।
सिद्धि वृद्धि वर्द्धक सिद्धारथ, नरवर पूजित नरपति सारथ ।।

अन्तिम भाग

सिद्धारथ सुत सिद्धि वृद्धि वाछित वरदायक,
प्रियकारिणी वर पुत्र सप्तहस्तोन्नत कायक ।
द्वासप्तति वर वर्ष आयु सिहाकसु मडित,
चामीकर वर वर्ण शरण गोतम यती मंडित ।
गर्भ दोष दूषण रहित शुद्ध गर्भ कल्याण करण,
'शुभचन्द्र' सूरि सेवत सदा पुहवि पाप पकह हरण ।।

२. विजयकीर्ति छन्द

यह कवि की ऐतिहासिक कृति है। कवि द्वारा जिसमे अपने गुरु 'भट्टारक विजयकीर्ति' की प्रशसा मे उक्त छन्द लिखा गया है। इसमे २९ पद्य है—जिसमे भट्टारक विजयकीर्ति को कामदेव ने किस प्रकार पराजित करना चाहा और उसमे उसे स्वय को किस प्रकार मुँह की खानी पडी इसका अच्छा वर्णन दे रखा है। जैन साहित्य मे ऐसी बहुत कम कृतियाँ है जिनमे किसी एक सन्त के जीवन पर कोई रूपक काव्य लिखा गया हो।

रूपक काव्य की भाषा एव वर्णन शैली दोनो ही अच्छी है। इसके नायक है 'भट्टारक विजयकीर्ति' और प्रतिनायक कामदेव है। मत्सर, मद, माया, सप्तव्यसन आदि कामदेव की सेना के सैनिक थे तथा क्रोध, मान, माया और लोभ उसकी सेना के नायक थे। 'भट्टारक विजयकीर्ति' कब घबरानेवाले थे, उन्होने शम, दम एव यम की सेना को उनसे भिडा दिया। जीवन मे पालित महाव्रत उनके अंगरक्षक थे तब फिर किसका साहस था जो उन्हे पराजित कर सकता था। अन्त मे इस लडाई मे कामदेव बुरी तरह पराजित हुआ और उसे वहाँ से भागना पडा—

भागो रे मयण जाई अनग वेगि रे थाई ।
पिसिर मनर माहि मुकरे ठाम ।
रीति र पायरि लागी मुनि काहने वर मागी,
दुखि र काटि र जागी जंपई नाम ।।
मयण नाम र फेडी आपणी सेना रे तेडी,
आपइ ध्यानती रेडी यतीय वरो ।

श्री विजयकीर्ति यति अभिनवो
गछपति पूरव प्रकट कीनि मुकनिकरो ॥२८॥

३. गुरु छन्द

यह भी ऐतिहासिक छन्द है जिसमें 'भट्टारक विजयकीर्ति' का गुणानुवाद किया गया है। इस छन्द से विजयकीर्ति के माता-पिता कुँअरि एवं गंगासहाय के नामो का प्रथम बार परिचय मिलता है। छन्द में ११ पद्य है।

४. नेमिनाथ छन्द

२५ पद्यो मे निबद्ध इस छन्द में भगवान् नेमिनाथ के पावन जीवन का वर्णन किया गया है। इसकी भाषा भी संस्कृतनिष्ठ है। विवाह मे किस प्रकार आभूषणों एवं वाद्ययन्त्रो के शब्द हो रहे थे—इसका एक वर्णन देखिए—

तिहा तड तडई तब लीय ना दिन वलीय भेद भंभा बजाई
भकारि रूडि सहित चूंडी भेर नादह गज्जई।
झण झणण करती टणण धरती सद्ध बोल्लई भल्लरी।
घूम घूमक करती कण हरती एहवज्जि सुन्दरी ॥१८॥
तण तणण टंका नाद सुन्दर ताति मन्दर वण्णिया
धम धमह नादि धणण करती घुग्घरी सुहकारीया।
झुझुक बोलइ सिद्धि सोहइ एह भुंगल सारय।
कण कणण क्रो को नादि वादि सुद्ध सादि रम्भण ॥१९॥

५ दान छन्द.

यह एक लघु पद है, जिसमे कृपणता की निन्दा की प्रशंसा की गयी है। इसमे केवल २ पद्य है।

उक्त सभी पाँचो कृतियाँ दिगम्बर जैन मन्दिर, पाटोदी, जयपुर के शास्त्र भण्डार के एक गुटके मे सग्रहीत है।

६ तत्त्वसार दूहा :

'तत्त्वसार दूहा' की एक प्रति कुछ समय पूर्व जयपुर के ठोलियो के मन्दिर के शास्त्र भण्डार मे उपलब्ध हुई थी। रचना मे जैन सिद्धान्त के अनुसार सात तत्त्वो का वर्णन किया गया है। इसलिए यह एक सैद्धान्तिक रचना है। तत्त्वो के अतिरिक्त साधारण जनता की समझ मे आ सकनेवाले अन्य कितने ही विषयो को कवि ने अपनी इस रचना मे लिया है। १६वी शताब्दी में ऐसी रचनाओ के अस्तित्व से प्रकट होता है कि उस समय हिन्दी भाषा का अच्छा प्रचलन था। तथा काव्य, कथाचरित, फागु,

बेलि आदि काव्यात्मक विषयो के अतिरिक्त सैद्धान्तिक विषयों पर भी रचनाएँ प्रारम्भ हो गयी थी।

'तत्त्वसार दूहा' में ९१ दोहे एवं चौपाई है। भाषा पर गुजराती का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, क्योकि भट्टारक शुभचन्द्र का गुजरात से पर्याप्त सम्पर्क था। यह रचना 'दुलहा' नामक श्रावक के अनुरोध से लिखी गयी थी। कवि ने उसके नाम का कितने ही पद्यो में उल्लेख किया है—

रोग रहित संगति सुखी रे, मम्पदा पूरण ठाण।
धर्म बुद्धि मन शुद्धडी, 'दूल्हा' अनुक्रमि जाण ॥९॥

तत्त्वो का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि जिनेन्द्र ही एक परमात्मा हैं और उनकी वाणी ही सिद्धान्त है। जीवादि सात तत्त्वो पर श्रद्धान करना ही सच्चा सम्यग्दर्शन है।

देव एक जिनदेव रे, आगम जिन सिद्धान्त।
तत्त्व जीवादिक सद्दहण, होइ सम्मत अभ्रान्त ॥१७॥

मोक्ष तत्त्व का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—

कर्म कलक विकरनो रे, नि शेष होयि नाश।
मोक्ष तत्त्व श्री जिनकही, वाणया भानु अन्यास ॥२६॥

आत्मा का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है कि किसी की आत्मा उच्च अथवा नीच नही है, कर्मो के कारण ही उसे उच्च एव नीच की सज्ञा दी जाती है और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र के नाम से सम्बोधित किया जाता है। आत्मा तो राजा है—वह शूद्र कैसे हो सकती है।

उच्च नीच नवि अप्पा हुयि, कर्म कलंक तणो की तु सोई।
बभण क्षत्रिय वैश्य न शूद्र, अप्पा राजा नवि होय शुद्र ॥७॥

आत्मा की प्रशसा मे कवि ने आगे भी लिखा है—

अप्पा धनी नवि नवि निर्घन्न, नवि दुर्बल नवि अप्पा घन्न।
मूर्ख हर्ष द्वेष नविने जीव, नवि सुखो नवि दुखी अतीव ॥७१॥
सुक्ख अनन्त बल वली, रे अनन्त चतुष्टय ठाम।
इन्द्रिय रहित मनो रहित, शुद्ध चिदानन्द नाम ॥७७॥

रचना काल

कवि ने अपनी यह रचना कब समाप्त की थी—इसका उसने कोई उल्लेख नही किया है, लेकिन सम्भवत ये रचनाएँ उनके प्रारम्भिक जीवन की रचनाएँ रही हो। इसलिए इन्हे सोलहवी शताब्दी के अन्तिम चरण की रचना मानना ही उचित होगा।

भट्टारक रत्नकीर्ति

[संवत् १६०० से १६५६ तक]

वह विक्रमीय १७वी शताब्दी का समय था। भारत में बादशाह अकबर का शासन होने से अपेक्षाकृत शान्ति थी किन्तु बागड एवं मेवाड प्रदेश में राजपूतो एवं मुगल शासको में अनबन रहने के कारण सदैव ही युद्ध का खतरा तथा धार्मिक संस्थानो एव सास्कृतिक केन्द्रो के नष्ट किये जाने का भय बना रहता था। लेकिन बागड प्रदेश में भट्टारक सकलकीर्ति ने १४वी शताब्दी में धर्म प्रचार तथा साहित्य प्रचार की जो लहर फैलायी थी वह अपनी चरम सीमा पर थी। भट्टारको, मुनियो, साधुओं, ब्रह्मचारियों एवं स्त्री सन्तो का विहार होता रहता था एवं वे अपने सदुपदेशो द्वारा जनमानस को पवित्र किया करते थे। गृहस्थों मे उनके प्रति अगाध श्रद्धा थी एवं जहाँ उनके चरण पडते थे वहाँ जनता अपनी पलके बिछाने को तैयार रहती थी। ऐसे ही समय मे घोघा नगर के हूबड जातीय श्रेष्ठी देवीदास के यहाँ एक बालक का जन्म हुआ।[1] माता सहजलदे विविध कलाओ से युक्त बालक को पाकर फूली नही समायी। जन्मोत्सव पर नगर में विविध प्रकार के उत्सव किये गये। वह बालक बडा होनहार था, बचपन में उस बालक को किस नाम से पुकारा जाता था इसका कही उल्लेख नही मिलता।

जीवन एवं कार्य

बडे होने पर वह बाल विद्याध्ययन करने लगा तथा थोडे ही समय में उसने प्राकृत एवं संस्कृत ग्रन्थो का गहरा अध्ययन कर लिया। एक दिन अकस्मात् ही उसका भट्टारक अभयनन्दि से साक्षात्कार हो गया। भट्टारकजी उसे देखते ही बडे प्रसन्न हुए एवं उसकी विद्वत्ता एवं वाक्चातुर्य से प्रभावित होकर उसे अपना शिष्य बना लिया। अभयनन्दि ने पहले उसे सिद्धान्त, काव्य, व्याकरण, ज्योतिष एवं आयुर्वेद आदि विषयो के ग्रन्थो का अध्ययन करवाया।[1] वह व्युत्पन्न मति था इसलिए शीघ्र ही उसने उनपर अधिकार पा लिया। अध्ययन समाप्त होने के बाद अभयनन्दि ने उसे अपना पट्ट शिष्य घोषित कर दिया। ३२ लक्षणों एवं ७२ कलाओ से सम्पन्न विद्वान् युवक को कौन

---

१ हुंबड वशे विबुध विख्यात रे,
मात सेहेजलदे देवीदास तातरे।
कुँअर कलानिधि कोमल काय रे,
पद पूजो प्रेम पातक पलाय रे।

रत्नकीर्ति गीत—गणेश कृत

अपना शिष्य बनाना नही चाहेगा। संवत् १६४३ मे एक विशेष समारोह के साथ उसका महाभिषेक कर दिया गया और उसका नाम रत्नकीर्ति रखा गया। इस पद पर वे सवत् १६५६ तक रहे। अत इनका काल अनुमानत. संवत् १६०० से १६५६ तक माना जा सकता है।

सन्त रत्नकीर्ति उस समय पूर्ण युवा थे। उनकी सुन्दरता देखते ही बनती थी। जब वे धर्म-प्रचार के लिए विहार करते तो उनके अनुपम सौन्दर्य एव विद्वत्ता से सभी मुग्ध हो जाते थे। तत्कालीन विद्वान् गणेश कवि ने भट्टारक रत्नकीर्ति की प्रशसा करते हुए लिखा है—

अरघ शशि सम सोहे शुभ भाल रे।
वदन कमल शुभ नयन विशाल रे।
दशन दाडिम सम रसना रसाल रे।
अधर बिबीफल विजित प्रवाल रे।
कण्ठ कम्बू सम रेखा त्रय राजे रे।
कर किसलिय सम नख छवि छाज रे॥

वे जहाँ भी विहार करते सुन्दरियाँ उनके स्वागत मे विविध मगल गीत गाती। ऐसे ही अवसर पर गाये हुए गीत का एक भाग देखिए—

कमल वदन करुणालय कहीये,
कनक वरण सोहे कान्त मोरी सहीय रे।
कजल दल लोचन पापना मोचन,
कलाकार प्रगटो विख्यात मोरी सहीय रे॥

बलसाड नगर मे सघपति मल्लिदास ने जो विशाल प्रतिष्ठा करवायी थी वह रत्नकीर्ति के उपदेश से ही सम्पन्न हुई थी। मल्लिदास हूँबड जाति के श्रावक थे तथा अपार सम्पत्ति के स्वामी थे। इस प्रतिष्ठा मे सन्त रत्नकीर्ति अपने सघ सहित सम्मिलित हुए थे तथा एक विशाल जलयात्रा हुई थी जिसका विस्तृत वर्णन तत्कालीन कवि जयसागर ने अपने एक गीत मे किया है—

जलयात्रा जुगते जाय, त्याहा माननी मगल गाय।
संघपति मल्लिदास सोहन्त, सघवेण मोहणदे कन्त।
सारी शृगार सोलमु सार, मन धरयो हरषा अपार।
च्याला जलयात्रा काजे बाजित बहु विध बाजे।

---

१ अभयनन्द पाटे उदयो दिनकर, पच महाव्रत धारी।
सास्त्र सिधान्त पुराण ए जा, सो तर्क वितर्क विचारी।
गोमटसार सगीत सिरोमणि, जाणे गोयम अवतारी।
साहा देवदास केरो सुत सुखकर सेजलदे उरे अवतारी।
गणेश कहे तम्हो वन्दा रे, भवियण कुमति कुसंग निवारी॥२॥

वर ढोल निशान नफेरी, दड गडी दमाम सुभेरी ।
सणाई सरूपा साद, झल्लरी कसाल सुनाद ।
बन्धूक निशाण न फाट, बोले, विरद बहु विध भाट ।
पालखी चामर शुभ छत्र, गजगामिनी नाचे विचित्र ।
घाट चुनडी कुम्भ सोहाबे, चन्द्राननी ओढीने आवे ।

शिष्य-परिवार

रत्नकीर्ति के कितने ही शिष्य थे । वे सभी विद्वान् एवं साहित्य-प्रेमी थे । इनके शिष्यो की कितनी ही कविताएँ उपलब्ध हो चुकी हैं । इनमें कुमुदचन्द्र, गणेश, जयसागर एवं राघव के नाम विशेषत. उल्लेखनीय हैं । कुमुदचन्द्र को संवत् १६५६ में इन्होने अपने पट्ट पर बिठलाया । ये अपने समय के समर्थ प्रचारक एव साहित्य सेवी थे । इनके द्वारा रचित पद, गीत एवं अन्य रचनाएँ उपलब्ध हो चुकी हैं । कुमुदचन्द्र ने अपनी प्राय प्रत्येक रचना में अपने गुरु रत्नकीर्ति का स्मरण किया है । कवि गणेश ने भी इनके स्तवन मे बहुत-से पद लिखे हैं—एक वर्णन पढ़िए—

वदने चन्द हरावयो सीअले जीत्यो अनंग ।
सुन्दर नयणा नीरखामे, लाजा मीन कुरंग ।
जुगल श्रवण शुभ सोभतारे नास्या सूकनी चंच ।
अधर अरुण रँगे ओपमा, दन्त मुक्त परपच ।
जुहवा जतीणी जाणे सखी रे, अनोपम अमृत वेल ।
ग्रीवा कम्बु कोमलरी रे, उन्नत भुजनी बेल ।

इसी प्रकार इनके एक शिष्य राघव ने इनकी प्रशंसा करते हुए लिखा है कि वे खान मलिक द्वारा सम्मानित भी किये गये थे—

लक्षण बत्तीस सकल अगि बहोत्तरि
खान मलिक दिये मान जी ।

कवि के रूप में

रत्नकीर्ति को अपने समय का एक अच्छा कवि कहा जा सकता है । अभी तक इनके ३६ पद प्राप्त हो चुके हैं । पदों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वे सन्त होते हुए भी रसिक कवि थे । अतः इनके पदों का विषय मुख्यत नेमिनाथ का विरह रहा है । राजुल की तडफन से ये बहुत परिचित थे । किसी भी बहाने राजुल नेमि का दर्शन करना चाहती थी । राजुल बहुत चाहती थी कि वे (नयन) नेमि के आगमन का इन्तजार न करें लेकिन लाख मना करने पर भी नयन उनके आगमन की बाट जोहना नही छोडते—

बरज्यो न माने नयन निठोर ।
सुमिरि सुमिरि गुन भये सजल घन, उमँगी चले मति फोर ॥१॥
चंचल चपल रहत नहिं रोके, न मानत जु निहोर ।
नित उठि चाहत गिरि को मारग, जेहि विधि चन्द्र चकोर ॥बरज्यो ॥२॥
तन मन धन योवन नही भावत, रजनी न भावत भोर ।
रत्नकीरति प्रभु वेगो मिलो, तुम मेरे मन के चोर ॥३॥ बरज्यो ।

एक अन्य पद मे राजुल कहती है कि नेमि ने पशुओ की पुकार तो सुन ली लेकिन उसको पुकार क्यो नही सुनी । इसलिए यह कहा जा सकता है कि वे दूसरो का दर्द जानते ही नही है—

सखी री नेमि न जानी पीर ।
बहोत दिवाजे आये मेरे घरि, संग लेई हलधर वीर ॥१॥ सखी री ।
नेमि मुख निरखी हरषी मनसूं, अब तो होइ मन धीर ।
तामे पसूय पुकार सुनी करी, गयो गिरिवर के तीर ॥२॥ सखी री ।
चन्दवदनी पोकारती डारती, मण्डन हार उर चीर ।
रतनकीरति प्रभु भये वैरागी, राजुल चित कियो धीर ॥३॥ सखी री ।

एक पद में राजुल अपनी सखियो से नेमि से मिलाने की प्रार्थना करती है। वह कहती है कि नेमि के बिना यौवन, चन्दन, चन्द्रमा ये सभी फीके लगते है। माता-पिता, सखियाँ एवं रात्रि सभी दुख उत्पन्न करनेवाली है। इन्ही भावो को रत्नकीर्ति के एक पद मे देखिए —

सखि ! को मिलावे नेम नरिंदा ।
ता बिन तन मन योवन रजत है, चारु चन्दन अरु चन्दा ॥१॥ सखि ।
कानन भुवन मेरे जीया लागत, दु सह मदन को फन्दा ।
तात मात अरु सजनी रजनी, वे अति दु ख को कन्दा ॥२॥ सखि ।
तुम तो शकर सुख के दाता, करम अति काए मन्दा ।
रतनकीरति प्रभु परम दयालु, सेवत अमर नरिन्दा ॥३॥ सखि. ।

अन्य रचनाएँ

इनकी अन्य रचनाओ मे नेमिनाथ फाग एवं नेमिनाथ बारहमासा के नाम उल्लेखनीय है। नेमिनाथ फाग मे ५७ पद्य है। इसकी रचना हाँसोट नगर में हुई थी। फाग मे नेमिनाथ एवं राजुल के विवाह, पशुओ की पुकार सुनकर विवाह किये बिना ही वैराग्य धारण कर लेना और अन्त मे तपस्या करके मोक्ष जाने की अति संक्षिप्त कथा दी हुई है। राजुल की सुन्दरता का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है—

चन्द्रवदनी मृगलोचनी, मोचनी खंजन मीन ।
वासग जीत्यो वेणिइं, श्रेणिय मधुकर दीन ।
युगल गल्ल दाये शशि, उपमा नाशा कीर ।
अधर विद्रुम सम उपता, दन्तन निर्मल नीर ।
चिबुक कमल पर षट पद, आनन्द करे सुधापान ।
ग्रीवा सुन्दर सोभती, कम्बु कपोलने वान ॥१२॥

नेमिबारहमासा इनकी दूसरी बडी रचना है। इसमे १२ त्रोटक छन्द है। कवि ने इसे अपने जन्मस्थान घोघा नगर मे चैत्यालय मे लिखो थी। रचनाकाल का उल्लेख नही दिया गया है। इसमे राजुल एव नेमि के १२ महीने किस प्रकार व्यतीत होते हैं यही वर्णन करना रचना का मुख्य उद्देश्य है।

अब तक कवि की ६ रचनाएं एव ३८ पदो की खोज की जा चुकी है।

इस प्रकार सन्त रत्नकीर्ति अपने समय के प्रसिद्ध भट्टारक एव साहित्य-सेवी विद्वान् थे। इनके द्वारा रचित पदो की प्रथम पंक्ति निम्न प्रकार है—

१ सारंग ऊपर सारग सोहे सारंगत्यासार जी
२ सुण रे नेमि सामलीया साहेब क्यो बन छोरी जाय
३ सारंग सजी सारग पर आवे
४. वृषभ जिन सेवो बहु प्रकार
५. सखी री सावन घटाई सतावे
६ नेम तुम कैसे चले गिरिनार
७ कारण कोउ पीया को न जाणे
८ राजुल गेहे नेमी जाय
९. राम सतावे रे मोही रावन
१०. अब गिरी वरज्यो न माने मोरो
११ नेमि तुम आयो धरिय घरे
१२ राम कहे अवर जया मोही मारी
१३ दशानन वीनती कहत होइ दास
१४ बरज्यो न माने नयन निठोर
१५ झीलते कहा करयो यदुनाथ
१६ सरदी की रयनि सुन्दर सोहात
१७. सुन्दरी सकल सिगार करे गोरी
१८ कहा थे मडन करु कजरा नैन भरु
१९. सुनो मेरी सयनी धन्य या रयनी रे
२०. रथडी नीहालती रे पूछति सहे सावन नी बाट
२१. सखी को मिलावो नेम नरिन्दा

२२. सखी री नेम न जानी पीर
२३ वन्देहू जनता शरण
२४ श्रीराग गावत सुर किन्नरी
२५. श्रीराग गावत मारगधरी
२६. आज आली आये नेम नो साउरी
२७ बली बन्धो का न बरज्यो अपनो
२८ आजो रे सखि सामलियो बहालो रथि परि रूडो भावे रे
२९. गोखि चडी जू ए रायुल राणी नेमिकुवर वर आवे रे
३० आवो सोहामणी सुन्दरी वृन्द रे पूजिये प्रथम जिणद रे
३१. ललना समुद्र विजय सुत साम सरे यदुपति नेमकुमार हो
३२. सुखि सखि राजुल कहे हैडे हरप न माय लाल रे
३३ ससधर बदन सोहामणि रे, गजगामिनी गुणमाल रे
३४. वणारसी नगरी नो राजा अश्वसेन गुणधार
३५ श्रीजिन सनमति अवतर्या ना रगी रे
३६ नेम जी दयालडारे तू तो यादव कुल सिणगार
३७. कमल वदन करुणा निलय
३८ सुदर्शन नाम के मे वारि

अन्य कृतियाँ

३९. महावीर गीत
४० नेमिनाथ फागु
४१ नेमिनाथ का बारहमासा
४२ सिद्ध धूल
४३. बलिभद्रनी वीनती
४४. नेमिनाथ वीनती

मूल्यांकन

भट्टारक रत्नकीर्ति दिगम्बर जैन कवियो मे प्रथम कवि है जिन्होने इतनी अधिक संख्या मे हिन्दी पद लिखे हैं। ऐसा मालूम पडता है कि उस समय कबीरदास, सूरदास एवं मीरा के पदो का देश मे पर्याप्त प्रचार हो गया था और उन्हे अत्यधिक चाव से गाया जाता था। इन पदो के कारण देश मे भगवद् भक्ति की ओर लोगो का स्वतः ही झुकाव हो रहा था। ऐसे समय मे जैन साहित्य में इस कमी की पूर्ति के लिए भट्टारक रत्नकीर्ति ने इस दिशा में प्रयास किया और अध्यात्म एव भक्तिपरक पदो के साथ-साथ विरहात्मक पद भी लिखे और पाठको के समक्ष राजुल के जीवन को एक नये रूप

में प्रस्तुत किया। ऐसा लगता है कि कवि राजुल एवं नेमिनाथ की भक्ति में अधिक रुचि रखते थे इसलिए उन्होंने अपनी अधिकांश कृतियाँ इन्ही दो पर आधारित करके लिखी। नेमिनाथ गीत एवं नेमिनाथ बारहमासा के अतिरिक्त अपने हिन्दी पदों में राजुल-नेमि के सम्बन्ध को अत्यधिक भावपूर्ण भाषा मे उपस्थित किया। सर्वप्रथम इन्होने राजुल को एक नारी के रूप में प्रस्तुत किया। विवाह होने के पूर्व की नारी दशा को एवं तोरणद्वार से लौट जाने पर नारी हृदय को खोलकर अपने पदो में रख दिया। वास्तव में यदि रत्नकीर्ति के इन पदो का गहरा अध्ययन किया जाये तो कवि की कृतियो मे हमे कितने ही नये चरणो की स्थापना मिलेगी। विवाह के पूर्व राजुल अपने पूरे शृंगार के साथ पति की बारात देखने के लिए महल की छत पर सहेलियो के साथ उपस्थित होती है। इसके पश्चात् पति के अकस्मात् वैराग्य धारण कर लेने के समाचारों से उसका शृंगार वियोग में परिणत हो जाता है। दोनो ही वर्णनो को कवि ने अपने पदो में उत्तम रीति से प्रस्तुत किया है।

भट्टारक रत्नकीर्ति की सभी रचनाएँ भाषा, भाव एव शैली सभी दृष्टियो से अच्छी रचनाएँ है। कवि हिन्दी के जबरदस्त प्रचारक थे। संस्कृत के ऊँचे विद्वान् होने पर भी उन्होंने हिन्दी भाषा को ही अधिक प्रश्रय दिया और अपनी कृतियाँ इसी भाषा मे लिखी। उन्होने राजस्थान के अतिरिक्त गुजरात मे भी हिन्दी रचनाओ का ही प्रचार किया और इस तरह हिन्दी-प्रेमी कहलाने मे अपना गौरव समझा। यही नही, रत्नकीर्ति के सभी शिष्य-प्रशिष्यो ने इस भाषा मे लिखने का उपक्रम जारी रखा और हिन्दी साहित्य को समृद्ध बनाने मे अपना पूर्ण योग दिया।
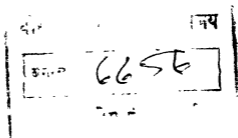
भट्टारक कुमुदचन्द्र

बारडोली गुजरात का प्राचीन नगर है। सन् १९२१ मे यहाँ स्व सरदार वल्लभ भाई पटेल ने भारत की स्वतन्त्रता के लिए सत्याग्रह का बिगुल बजाया था और बाद मे वही की जनता द्वारा उन्हे 'सरदार' की उपाधि दी गयी थी। आज से ३५० वर्ष पूर्व भी यह नगर अध्यात्म का केन्द्र था। यहाँ पर ही सन्त कुमुदचन्द्र को उनके गुरु भट्टारक रत्नकीर्ति एव जनता ने भट्टारक-पद पर अभिषिक्त किया था। इन्होने यहाँ के निवासियो मे धार्मिक चेतना जाग्रत् की एव उन्हे सच्चरित्रता, सयम एव त्यागमय जीवन अपनाने के लिए बल दिया। इन्होने गुजरात एव राजस्थान मे साहित्य, अध्यात्म एवं धर्म की त्रिवेणी बहायी थी।

सन्त कुमुदचन्द्र वाणी मे मधुर, शरीर से सुन्दर तथा मन से स्वच्छ थे। जहाँ भी उनका विहार होता जनता उनके पीछे हो जाती। उनके शिष्यो ने अपने गुरु की प्रशसा मे विभिन्न पद लिखे है। सयमसागर ने उनके शरीर को बत्तीस लक्षणों से सुशोभित, गम्भीर बुद्धि के धारक तथा वादियो के पहाड को तोडने के लिए वज्र-समान कहा है।[1] उनके दर्शनमात्र मे ही प्रसन्नता होती थी। वे पाँच महाव्रत, तेरह प्रकार के चारित्र को धारण करनेवाले एव बाईस परीषह को सहनेवाले थे।[2] एक दूसरे शिष्य धर्मसागर ने उनकी पात्रकेशरी, जम्बूकुमार, भद्रबाहु एव गौतम गणधर से तुलना की है।[3]

उनके विहार के समय कुकुम छिडकने तथा मोतियो का चौक पूरने एवं बधावा गाने के लिए भी कहा जाता था।[4] उनके एक और शिष्य गणेश ने उनके निम्न शब्दो मे प्रशंसा की है—

> कला बहोत्तर अग रे, सीयले जीत्यो अनग।
> माहत मुनी मूलसंघ के सेवो सुरतरुजी ॥

---

१ ते बहु पूँखि उपना वीर रे, बत्तीस लक्षण सहित शरीर रे।
बुद्धि बहोत्तरि छे गभीर रे, वादो नग खण्डन वज्र समधीर रे ॥

२ पच महाव्रत पाले चग रे, त्रयोदश चारित्र छे अभग रे।
बावीस परीसा सहे अगि रे, दरशन दीठे रग रे।

३. पात्रकेशरी सम जाणियेरे, जाणो वे जम्बु कुमार रे।
भद्रबाहु यतिवर जया, कलिकाले रे गोयम अवतार रे ॥

४ सुन्दरि रे सहु आवो, तम्हे कुकम छडो देवडावो।
वारु मोतिये चोक पूरावो, रूडा सह गुरु कुमुदचन्दने बधावे ॥

सेवो सज्जन आनन्द धनि कुमुदचन्द मुणिद,
रतनकीरति पाटि चन्द के गछपति गुण निलोजी ॥१॥

जीवों की दया करने के कारण लोग उन्हें दया का वृक्ष कहते थे। विद्याबल से उन्होने अनेक विद्वानों को अपने वश में कर लिया था। उनकी कीर्ति चारों ओर फैल गयी थी तथा राजा-महाराजा एवं नवाब उनके प्रशंसक बन गये थे।

कुमुदचन्द्र का जन्म गोपुर ग्राम मे हुआ था। पिता का नाम सदाफल एवं माता का नाम पद्माबाई था। इन्होने मोढ वश में जन्म लिया था।[1] इनका जन्म का नाम क्या था, इसके विषय मे कोई उल्लेख नही मिलता। वे जन्म से होनहार थे।

बचपन से ही वे उदासीन रहने लगे और युवावस्था से पूर्व ही इन्होने संयम धारण कर लिया। इन्द्रियों के ग्राम को उजाड दिया तथा कामदेवरूपी नाग को जीत लिया।[2] अध्ययन की ओर इनका विशेष ध्यान था। ये रात-दिन व्याकरण, नाटक, न्याय, आगम एवं छन्द-अलंकार-शास्त्र आदि का अध्ययन किया करते थे।[3] गोम्मटसार आदि ग्रन्थो का इन्होने विशेष अध्ययन किया था। विद्यार्थी अवस्था में ही ये भट्टारक रत्नकीर्ति के शिष्य बन गये। इनकी विद्वत्ता, वाक्चातुर्य एवं अगाध ज्ञान को देखकर भट्टारक रत्नकीर्ति इन पर मुग्ध हो गये और इन्हे अपना प्रमुख शिष्य बना लिया। धीरे-धीरे इनकी कीर्ति बढने लगी। रत्नकीर्ति ने बारडोली नगर मे अपना पट्ट स्थापित किया था और सवत् १६५६ (सन् १५९९) वैशाख मास में इनका जैनो के प्रमुख सन्त (भट्टारक) के पद पर अभिषेक कर दिया।[4] यह सारा कार्य संघपति कान्हजी संघ बहन जीवादे, सहस्रकरण एव उनकी धर्मपत्नी तेजलदे, भाई मल्लदास एवं बहन मोहनदे, गोपाल आदि को उपस्थिति मे हुआ था। तथा इन्होंने कठिन परिश्रम

---

१ मोढ वंश शृंगारशिरामणि, साह सदाफल तात रे।
जाया जतिवर जुग जयवन्तो, पद्माबाई सोहात रे॥

२ बालपणे जिणे सयम लाधो, धरायो वेराग रे।
इन्द्रिय ग्राम उजारया हेला, जाल्यो मद नाग रे।

३ अहनिशि छन्द व्याकरण नाटिक भणे न्याय आगम अलंकार।
वादो गज केसरी विरुद्ध बारु वहे, सरस्वती गच्छ सिणगार रे।

४ सवत् सोल छपन्ने वेशाखे प्रकट पटोधर् थाप्या रे।
रत्नकीर्ति गार बारडालो वर सूर मत्र शुभ आप्या रे।
भाई रे मन मोहन मुनिवर सरस्वती गच्छ सोहत।
कुमुदचन्द भट्टारक उदयो भवियण मन मोहत रे॥

—गुरुस्तुति, गणेश कृत

बारडोली मध्ये रे, पाट प्रतिष्ठा कीध मनोहार।
एक शत आठ कुम्भ रे, ढाल्या निर्मल जल अतिसार॥
सूर मन्त्र आपयो रे, सकलसंघ सान्निध्य जयकार।
कुमुदचन्द्र नाम कहू_व रे, संघवि कुटम्ब प्रतपो उदार॥

—गुरुगीत, गणेश कृत

करके इस महोत्सव को सफल बनाया था।[1] तभी से कुमुदचन्द बारडोली के सन्त कहलाने लगे।

बारडोली नगर के एक लम्बे समय तक आध्यात्मिक, साहित्यिक एव धार्मिक गति-विधियो का केन्द्र रहा। सन्त कुमुदचन्द्र के उपदेशामृत को सुनने के लिए वहाँ धर्मप्रेमी सज्जनो का हमेशा ही आना-जाना रहता। कभी तीर्थयात्रा करनेवालो का संघ उनका आशीर्वाद लेने आता तो कभी अपने-अपने निवास-स्थान के रजकणो को सन्त के पैरो से पवित्र कराने के लिए उन्हे निमन्त्रण देनेवाले वहाँ आते। संवत् १६८२ में इन्होने गिरिनार जानेवाले एक संघ का नेतृत्व किया।[2] इस सघ के सघपति नागजी भाई थे, जिनकी कीर्ति चन्द्र-सूर्य-लोक तक पहुँच चुकी थी। यात्रा के अवसर पर ही कुमुदचन्द्र सघ सहित घोघा नगर आये, जो उनके गुरु रत्नकीर्ति का जन्मस्थल था। बारडोली वापस लौटने पर श्रावको ने अपनी अपार सम्पत्ति का दान दिया।[3]

कुमुदचन्द्र आध्यात्मिक एव धार्मिक सन्त होने के साथ-साथ साहित्य के परम आराधक थे। अब तक इनकी छोटी-बडी २८ रचनाएँ एव ३० से भी अधिक पद प्राप्त हो चुके है। ये सभी रचनाएँ राजस्थानी भाषा मे है, जिन पर गुजराती का प्रभाव है। ऐसा ज्ञात होता है कि ये चिन्तन, मनन एव धर्मोपदेश के अतिरिक्त अपना सारा समय साहित्य-सृजन मे लगाते थे। इनकी रचनाओ म गीत अधिक है, जिन्हे ये अपने प्रवचन के समय श्रोताओ के साथ गाते थे।[4] नेमिनाथ के तोरण द्वार पर आकर वैराग्य धारण करने की अद्भुत घटना मे ये अपने गुरु रत्नकीर्ति के समान बहुत प्रभावित थे, इसीलिए इन्होने नेमिनाथ एव राजुल पर कई रचना लिखी है। उनमे नेमिनाथ बारहमासा,

---

१ सघपति कहान जी सघवेण जीवादेनो कन्त।
सहेसकरण सोहे रे तरुणो तेजलदे जयवन्त॥
मल्ल दास मनहरु रे नारी मोहन दे अति सन्त।
रमादे वीर भाई रे गोपाल वेजलदे मन मोहन्त

—गुरुगीत

सघवी कहान जी भाइया वीर भाई रे।
मल्लिदास जमला गोपाल रे॥
रूपने संवत्सरे उत्सव अति कर्या रे।
सघ मेली बाल गोपाल रे॥

—गीत गणेश कृत

२ सवत सोल ब्यासीये संवत्सर गिरिनारि यात्रा कीधा।
श्री कुमुदचन्द्र गुरु नामि संघपति तिलक कहवा ॥१३॥

—गीत धर्मसागर कृत

३ इणि परिउत्सव करता आव्या घोघानगर मझारि।
नेमि जिनेश्वर नाम जपन्ता उतर्या जलनिधिपार।
गाजते बाजते साहमा करीने आव्या बारडोली ग्राम
याचक जन सन्तोष्या भूतलि राख्या नाम॥

४ देश विदेश विहार करे गुरु प्रति बोध प्राणी।
धर्म कथा रसने वरसन्तो, मीठी छे वाणी रे भाय॥

नेमीश्वर गीत, नेमिजिन गीत आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। राजुल का सौन्दर्य वर्णन करते हुए इन्होंने लिखा है—

> रूपे फूटडी मिटे जूठडी बोले मीठडी बाणी।
> विद्रुम उठडो पल्लव गोठडी रसनी कोटडो बखाणी रे ॥
> सारंग वयणी सारंग नयणी सारंग मनी श्यामा हरी
> लबी कटि भमरी वंकी शकी करिनी मार रे ॥

कवि ने अधिकाश छोटी रचनाएँ लिखी हैं। उन्हे कण्ठस्थ भी किया जा सकता है। बडी रचनाओ में आदिनाथ विवाहलो, नेमीश्वरहमचो एवं भरत बाहुबलि छन्द है। शेष रचनाएँ गीत एव विनतियो के रूप में है। यद्यपि सभी रचनाएँ सुन्दर एवं भावपूर्ण है लेकिन भरत बाहुबलि छन्द, आदिनाथ विवाहलो एवं नेमीश्वर हमची इनकी उत्कृष्ट रचनाएँ है। भरत बाहुबलि एक खण्डकाव्य है, जिसमें मुख्यतः भरत और बाहुकलि के युद्ध का वर्णन किया गया है।

२. आदिनाथ विवाहलो

इसका दूसरा नाम ऋषभ विवाहलो भी है। यह भी छोटा खण्डकाव्य है, जिसमे ११ ढाले है। प्रारम्भ में ऋषभदेव को माता को १६ स्वप्नो का आना, ऋषभदेव का जन्म होना तथा नगर मे विभिन्न उत्सवो का आयोजन का वर्णन किया गया है। फिर ऋषभ के विवाह का वर्णन है। अन्त की ढाल मे उनका वैराग्य धारण करके निर्वाण प्राप्त करना भी बतला दिया गया है। कुमुदचन्द्र ने इसे भी संवत् १६७८ मे घोघा नगर मे रचा था।

३. नेमिनाथ बारहमासा

नेमिनाथ के विरह मे राजुल किस प्रकार तडफती थी तथा उसके बारह महीने किस प्रकार व्यतीत हुए, इसका नेमिनाथ बारहमासा मे सजीव वर्णन किया है। इसी तरह का वर्णन कवि ने प्रणय गीत एवं हिडोलना-गीत मे भी किया है।

> फागुण केसु फूलीयो, नर नारी रमे वर फाग जी।
> हास विनोद करे घणा, किम नाहे धरयो वैराग जी।
>
> —नेमिनाथ बारहमासा

> सीयालो सगलो गयो, पणि नावियो यदुराय।
> तेह बिना मुझने झूरता, एह दोहडा रे वरसा सो थापके।
>
> —प्रणय-गीत

४. वणजारा गीत

वणजारा गीत मे कवि ने ससार का सुन्दर चित्र उतारा है। यह मनुष्य वणजारे के रूप में यो ही ससार से भटकता रहता है। वह दिन-रात पाप कमाता है और संसार-बन्धन से कभी भी नही छूटता।

> पाप करया ते अनन्त, जीवदया पाली नही।
> साचो न बोलियो बोल, भरम मो साबहु बोलिया ॥

शील गीत मे कवि ने चरित्र प्रधान जीवन पर अत्यधिक जोर दिया है। मानव को किसी भी दिशा मे आगे बढने के लिए चरित्र बल की आवश्यकता है। साधु-सन्तो एवं संयमी जनो को स्त्रियो मे अलग ही रहना चाहिए—आदि का अच्छा वर्णन मिलता है। इसी प्रकार कवि की सभी रचनाएँ सुन्दर है।

पदो के रूप मे कुमुदचन्द्र ने जो साहित्य रचना की है वह और भी उच्चकोटि की है। भाषा, शैली एव भाव सभी दृष्टियो से ये पद सुन्दर है। 'मैं तो नर भव वादि गवायो' पद मे कवि ने उन प्राणिया की सच्ची आत्मपुकार प्रस्तुत की है, जो जीवन मे कोई भी शुभ कार्य नही करते है। अन्त मे हाथ मलते ही चले जाते है।

'जो तुम दीन दयाल कहावत' पद भी भक्ति रस की सुन्दर रचना है। भक्ति एवं अध्यात्म-पदो के अतिरिक्त नेमि-राजुल सम्बन्धी भी पद है, जिनमे नेमिनाथ के प्रति राजुल की सच्ची पुकार मिलती है। नेमिनाथ के बिना राजुल को न प्यास लगती है और न भूख सताती है। नीद नही आती है और बार-बार उठकर गृह का आँगन देखती रहती है। यहाँ पाठको के पठनार्थ दो पद दिये जा रहे है—

राग-धनश्री

> मैं तो नर भव वादि गमायो।
> न कियो जप तप व्रत विधि सुन्दर, काम भलो न कमायो।
> मै तो. ....॥१॥
>
> विकट लोभ ते कपट कूट करी, निपट विषय लपटाओ।
> विटल कुटिल शठ सगति बैठो, साधु निकट विघटायो ॥ मै तो. ।२।
> कृपण भयो कछु दान न दीनो, दिन दिन दाम मिलायो।
> जब जीवन जजाल पड्यो तब, पर त्रिया तनु चितलायो ॥ मै तो ।३।
> अन्त समय कोउ सग न आवत, झूठहि पाप लगायो।
> कुमुदचन्द्र कहे चूक परी मोही, प्रभु पद जस नही गायो ॥ मै तो. ।४।

सखी री अब तो रह्यौ नहिं जात ।
प्राणनाथ की प्रीति न बिसरत, क्षण क्षण छीजत गात ।। सखी ।।१।।
नहिं न भूख नहिं तिसु लागत, घरहि घरहि मुरझात ।
मन तो उरझी रह्यो मोहन सुं, सेवन ही सुरझात ।। सखी ।।२।।
नाहिने नींद परती निसिवासर, होत बिसुरत प्रात ।
चन्दन चन्द्र सजल नलिनीदल, मन्द मारुत न सुहात ।। सखी ।।३।।
गृह आगन देख्यो नही भावत, दीन भई बिललात ।
विरही बाउरी फिरत गिरि-गिरि, लोकन तें न लजात ।। सखी ।।४।।
पीउ विन पलक कल नही जीउकूं न रुचित रासिक गुबात ।
'कुमुदचन्द्र' प्रभु सरस दरस कूं, नयन चपल ललचात ।। सखी ।।५।।

राग-धनश्री

व्यक्तित्व

सन्त कुमुदचन्द्र संवत् १६५६ तक भट्टारक पद पर रहे। इतने लम्बे समय में इन्होने देश में अनेक स्थानो पर विहार किया और जन-साधारण को धर्म एवं अध्यात्म का पाठ पढाया। ये अपने समय के असाधारण सन्त थे। उनकी गुजरात तथा राजस्थान में अच्छी प्रतिष्ठा थी। जैन साहित्य एवं सिद्धान्त का उन्हें अप्रतिम ज्ञान था। वे सम्भवतः आशु कवि भी थे, इसलिए श्रावको एवं जन-साधारण को पद्य रूप में ही कभी-कभी उपदेश दिया करते थे। इनके शिष्यो ने जो कुछ इनके जीवन एवं गतिविधियों के बारे में लिखा है, वह इनके अभूतपूर्व व्यक्तित्व की एक झलक प्रस्तुत करता है।

शिष्य-परिवार

वैसे तो भट्टारकों के बहुत-से शिष्य हुआ करते थे जिनमें आचार्य, मुनि, ब्रह्मचारी, आर्यिका आदि होते थे। अभी जो रचनाएँ उपलब्ध हुई है, उनमें अभयचन्द्र, ब्रह्मसागर, धर्मसागर, संयमसागर, जयसागर एवं गणेशसागर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। ये सभी शिष्य हिन्दी एव संस्कृत के भारी विद्वान् थे और इनकी बहुत-सी रचनाएँ उपलब्ध हो चुकी हैं। अभयचन्द्र इनके पश्चात् भट्टारक बने। इनके एवं इनके शिष्य-परिवार के विषय में आगे प्रकाश डाला जायेगा।

कुमुदचन्द्र की अब तक २८ रचनाएँ एवं पद उपलब्ध हो चुके हैं, उनके नाम निम्न प्रकार है—

मूल्यांकन

भट्टारक रत्नकीर्ति ने जो साहित्य-निर्माण की पावन-परम्परा छोडी थी, उसे उनके उत्तराधिकारी भट्टारक कुमुदचन्द्र ने अच्छी तरह से निभाया। यही नही कुमुद-

चन्द्र ने अपने गुरु से भी अधिक कृतियाँ लिखी और भारतीय समाज को अध्यात्म एवं भक्ति के साथ-साथ शृंगार एवं वीर रस का भी आस्वादन कराया। कुमुदचन्द्र के समय देश पर मुगल शासन था, इसलिए जहाँ-तहाँ युद्ध होते रहते थे। जनता में देशरक्षा के प्रति जागरूकता थी, इसलिए कवि ने भरत-बाहुबलि छन्द में जो युद्ध-वर्णन किया है वह तत्कालीन जनता की मांग के अनुसार था। इससे उन्होंने यह भी सिद्ध किया कि जैन-कवि यद्यपि साधारणत अध्यात्म एव भक्तिपरक कृतियाँ लिखने में ही अधिक रुचि रखते है लेकिन आवश्यकता हो तो वे वीर रस-प्रधान रचना भी देश एवं समाज के समक्ष उपस्थित कर सकते है।

कुमुदचन्द्र के द्वारा निबद्ध पद-साहित्य भी हिन्दी-साहित्य की उत्तम निधि है। उन्होंने 'जो तुम दीनदयाल कहावत' पद मे अपने हृदय को भगवान् के समक्ष निकालकर रख दिया है और वह अपने भक्तो के प्रति की जानेवाली उपेक्षा की ओर भी प्रभु का ध्यान आकृष्ट करना चाहता है और फिर 'अनाथनि कुं कछु दीजे' के रूप में प्रभु और भक्त के सम्बन्धो का बखान करता है। 'मैं तो नर भव वादि गमायो'—पद मे कवि ने उन मनुष्यो को चेतावनी दी है, जो जीवन का कोई सदुपयोग नही करते और यो ही जगत् म आकर चल देते है। यह पद अत्यधिक सुन्दर एवं भावपूर्ण है। इसी तरह कुमुदचन्द्र ने नेमिनाथ-राजुल के जीवन पर जो पद-साहित्य लिखा है, वह भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। 'सखी री अब तो रह्यो नहिं जात' मे राजुल की मनोदशा का अच्छा चित्र उपस्थित किया है। इसी तरह 'आली री बिरखा ऋतु आजु आयी' में राजुल के रूप मे विरहिणी नारी के मन मे उठनेवाले भावो को प्रस्तुत किया है। इस प्रकार कुमुदचन्द्र ने अपने पद-साहित्य में अध्यात्म, भक्ति एवं वैराग्यपरक पद-रचना के अतिरिक्त 'राजुल-नेमि' के जीवन पर जो पद-साहित्य लिखा है, वह भी हिन्दी-पद-साहित्य एवं विशेषत जैन-साहित्य मे एक नयी परम्परा को जन्म देने वाला रहा था। आगे होनेवाले कवियो ने इन दोनो कवियो को इस शैली का पर्याप्त अनुसरण किया था।

भट्टारक चन्द्रकीर्ति

[संवत् १६०० से १६६० तक]

भ. रत्नकीर्ति ने साहित्य निर्माण का जो वातावरण बनाया था तथा अपने शिष्य-प्रशिष्यों को इस ओर कार्य करने के लिए प्रोत्साहित किया था, इसी के फल-स्वरूप ब्रह्म जयसागर, कुमुदचन्द्र, चन्द्रकीर्ति, संयमसागर, गणेश और धर्मसागर-जैसे प्रसिद्ध सन्त साहित्यरचना की ओर प्रवृत्त हुए। 'आ. चन्द्रकीर्ति' भट्टारक रत्नकीर्ति प्रिय शिष्यों मे से थे। ये मेधावी एवं योग्यतम शिष्य थे तथा अपने गुरु के प्रत्येक कार्य में सहयोग देते थे।

चन्द्रकीर्ति के गुजरात एवं राजस्थान प्रदेश प्रमुख क्षेत्र थे। कभी-कभी ये अपने गुरु के साथ और कभी स्वतन्त्र रूप से इन प्रदेशों में विहार करते थे। वैसे बारडोली, भडौच, डूँगरपुर, सागवाडा आदि नगर इनके साहित्य निर्माण के स्थान थे। अब तक इनकी निम्न कृतियां उपलब्ध हुई है—

१. सोलहकारण रास
२. जयकुमाराख्यान
३. चारित्र चुनडी
४ चौरासी लाख जीवनयोनि वीनती

उक्त रचनाओ के अतिरिक्त इनके कुछ हिन्दी पद भी उपलब्ध हुए हैं।

१. सोलहकारण रास

यह कवि की लघु कृति है। इसमें षोडशकारण व्रत का माहात्म्य बतलाया गया है। ४६ पद्योवाले इस रास में रागौडी, देशी, दूहा, राग देशाख, त्रोटक, चाल, राग धन्यासी आदि विभिन्न छन्दो का प्रयोग हुआ है। कवि ने रचनाकाल का उल्लेख तो नही किया है किन्तु रचनास्थान भड़ौच का अवश्य निर्दिष्ट किया है। भडौच नगर में जो शान्तिनाथ का मन्दिर था वही इस रचना का समाप्ति स्थान था।[1]

---

१. श्री भरुयच नगरे सोहामणुं श्री शान्तिनाथ जिनराय रे।
प्रासादे रचना रचि, श्री चन्द्रकीरति गुण गाय रे ॥४४॥

२ जयकुमार आख्यान

यह कवि का सबसे बडा काव्य है जो ४ सर्गों में विभक्त है। जयकुमार प्रथम तीर्थंकर भट्टारक ऋषभदेव के पुत्र सम्राट् भरत के सेनाध्यक्ष थे। इन्ही जयकुमार का इसमें पूरा चरित्र वर्णित है। आख्यान वीर रस प्रधान है। इसकी रचना बारडोली नगर के चन्द्रप्रभ चैत्यालय में संवत् १६५५ की चैत्र शुक्ला दशमी के दिन समाप्त हुई थी।

जयकुमार को सम्राट् भरत सेनाध्यक्ष पद पर नियुक्त करके शान्ति पूर्वक जीवन बिताने लगे। जयकुमार ने अपने युद्ध-कौशल से सारे साम्राज्य पर अखण्ड शासन स्थापित किया। व सौन्दर्य के खजाने थे। एक बार वाराणसी के राजा अकम्पन ने अपनी पुत्री सुलोचना के विवाह के लिए स्वयंवर का आयोजन किया। स्वयंवर में जयकुमार भी सम्मिलित हुए। इसी स्वयवर में 'सम्राट् भरत' के एक राजकुमार अर्ककीर्ति भी गये थे, लेकिन जब सुलोचना ने जयकुमार के गले में माला पहना दी तो वह अत्यन्त क्रोधित हुए। अर्ककीर्ति एवं जयकुमार मे युद्ध हुआ और अन्त में जयकुमार का सुलोचना के स . विवाह हो गया।

इस आख्यान के प्रथम अधिकार मे जयकुमार-सुलोचना विवाह का वर्णन है। दूसरे और तीसरे अधिकार में जयकुमार के पूर्व भवो का वर्णन और चतुर्थ एवं अन्तिम अधिकार में जयकुमार के निर्वाण प्राप्ति का वर्णन किया गया है।

आख्यान में वीर रस, शृंगार रस एव शान्त रस का प्राधान्य है। इसकी भाषा राजस्थानी डिंगल है। यद्यपि रचना-स्थान बारडोली नगर है, लेकिन गुजराती शब्दो का बहुत ही कम प्रयोग किया गया है, इससे कवि का राजस्थानी प्रेम झलकता है।

कवि ने इसे संवत् १६५५ मे समाप्त किया था। इसे यदि अन्तिम रचना भी माना जाये तो उसका समय सवत् १६६० तक का निश्चित होता है। इसके अतिरिक्त कवि ने अपने गुरु के रूप में केवल रत्नकीर्ति का ही नामोल्लेख किया है, जबकि संवत् १६६० तक तो रत्नकीर्ति के पश्चात् कुमुदचन्द्र भी भट्टारक हो गये थे, इसलिए यह भी निश्चित-सा है कि कवि ने रत्नकीर्ति से ही दीक्षा ली थी और उनकी मृत्यु के पश्चात् वे सघ से अलग ही रहने लगे थे। ऐसी अवस्था मे कवि का समय यदि संवत् १६०० से १६६० तक मान लिया जाये तो कोई आश्चर्य नही होगा।

अन्य कृतियाँ

जयकुमाराख्यान एवं सोलहकारण रास के अलावा अन्य सभी रचनाएँ लघु रचनाएँ हैं। किन्तु भाव एवं भाषा की दृष्टि से उल्लेखनीय कवि का एक पद देखिए :—

राग प्रभाति

जागता जिनवर जे दिन निरख्यो
धन्य ते दिवस चिन्तामणि सरिखो।

सुप्रभाति मुख कमल जु दीठुं
वचन अमृत थकी अधिकजु मीठु (१)
सफल जनम हुवो जिनवर दीठा ।
करण सफल सुण्या तुह्म गुण मीठा (२)
धन्य ते जे जिनवर पद पूजे
श्री जिन तुम्ह बिन देव न दूजो (३)
स्वर्ग मुगति जिन दरसनि पामे,
'चन्द्रकीरति' सूरि सीसज नामे (४)

भट्टारक अभयचन्द्र

[संवत् १६८५ से १७२१ तक]

अभयचन्द्र नाम के दो भट्टारक हुए हैं। प्रथम अभयचन्द्र भट्टारक लक्ष्मीचन्द्र के शिष्य थे, जिन्होने एक स्वतन्त्र भट्टारक-सस्था को जन्म दिया। उनका समय विक्रम की सोलहवी शताब्दी का द्वितीय चरण था। दूसरे अभयचन्द्र इन्ही की परम्परा में होने वाले भट्टारक कुमुदचन्द्र के शिष्य थे। यहाँ इन्ही दूसरे अभयचन्द्र का परिचय दिया जा रहा है।

अभयचन्द्र भट्टारक थे और कुमुदचन्द्र को मृत्यु के पश्चात् भट्टारक गादी पर बैठे थे। यद्यपि अभयचन्द्र का गुजरात से काफी निकट का सम्बन्ध था, लेकिन राजस्थान मे भी इनका बराबर विहार होता था और ये गाँव-गाँव एवं नगर-नगर में भ्रमण करके जनता से सीधा सम्पर्क बनाये रखते थे। अभयचन्द्र अपने गुरु के योग्यतम शिष्य थे। उन्होने भट्टारक रत्नकीर्ति एव भट्टारक कुमुदचन्द्र का शासनकाल देखा था और देखी थी उनकी 'साहित्य-साधना'। इसलिए जब ये स्वयं प्रमुख सन्त बने तो इन्होंने भी उसी परम्परा को बनाये रखा। सवत् १६८५ की फाल्गुन सुदी ११ सोमवार के दिन बारडोली नगर मे इनका पट्टाभिषेक हुआ और इस पद पर संवत् १७२१ तक रहे।

अभयचन्द्र का जन्म सं. १६४० के लगभग हूबड वश मे हुआ था। इनके पिता का नाम श्रीपाल एव माता का नाम कोडमदे था। बचपन से ही बालक अभयचन्द्र को साधुओ की मण्डली में रहने का सुअवसर मिल गया था। हेमजी कुँअरजी इनके भाई थे—सम्पन्न घराने के थे। युवावस्था के पहले ही इन्होने पाँचो महाव्रतो का पालन प्रारम्भ किया था।[1] इसी के साथ इन्होने सस्कृत, प्राकृत के ग्रन्थो का उच्चाध्ययन किया। न्यायशास्त्र मे पारगतता प्राप्त की तथा अलंकार-शास्त्र एवं नाटको का गहरा अध्ययन किया।[2] अच्छे वक्ता तो ये प्रारम्भ से ही थे, किन्तु विद्वत्ता के होने से सोने-सुगन्ध का-सा सुन्दर समन्वय हो गया।

---

१. हूँबड वशे श्रीपाल साह तात, जनम्यों रूड़ी रतन कोड़मदे मात।
लघु पणे लोधा महाव्रत भार, मनवश करी जीत्यो दुर्द्धर भार॥

२ तर्क नाटक आगम अलकार, अनेक शास्त्र भण्या मनोहार।
भट्टारक पद ए हने छाजे, जेहवे यश जग मां वास गाजे॥

जब उन्होंने युवावस्था में पदार्पण किया तो त्याग एवं तपस्या के प्रभाव से इनकी मुखाकृति स्वयमेव आकर्षक बन गयी और जनता के लिए ये आध्यात्मिक जादूगर बन गये। इनके सैकड़ों शिष्य थे जो स्थान-स्थान पर ज्ञान-दान किया करते थे। इनके प्रमुख शिष्यों में गणेश, दामोदर, धर्मसागर, देवजी व रामदेव के नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। जितनी अधिक प्रशंसा शिष्यो द्वारा इनकी (भ. अभयचन्द्र) की गयी, सम्भवतः अन्य भट्टारकों की उतनी अधिक प्रशंसा देखने में अभी नही आयी। एक बार भ. अभयचन्द्र का सूरत नगर में पदार्पण हुआ, वह संवत् १७०६ का समय था। सूरत नगर-निवासियों ने उस समय इनका भारी स्वागत किया। घर-घर उत्सव किये गये, कुंकुम छिडका गया और अंग-पूजा का आयोजन किया गया। इन्ही के एक शिष्य देवजी--जी उस समय स्वयं वहाँ उपस्थित थे, ने निम्न प्रकार इनके सूरत नगर आगमन का वर्णन किया है—

आज आणंद मन अति घणो ए, काई बरत यो जय जयकार।
अभयचन्द्र मुनि आवया ए, काई सुरत नगर मझार रे ॥आज आणंद ॥१॥

घरे घरे उछव अति घणए, काई माननी मंगल गाये रे।
अंग पूजा ने उत्रराणा ए, काई कुकुम छडादेवडाय रे ॥आज ॥२॥

श्लोक बखाणें गोर सोभता रे, वाणी मीठी अपार साल रे।
धर्मकथा ये प्राणी ने प्रतिबोधे ए, काई कुमति करे परिहारे रे ॥३॥

संवत् सतर छलोतरे, काई हीरजी प्रेमजीनी पूगी आस रे।
रामजी ने श्रीपाल हरखीया ए, काई वेलजी कुअरजी मोहनदास रे ॥४॥

गोतम समगोर सोभतो ए, काई बूधे जयो अभयकुमार रे।
सकल कला गुण मंडणो ए, काई देवजो कहे उदयो उदार रे ॥आज.॥५॥

श्रीपाल १८वी शताब्दी के प्रमुख साहित्य-सेवी थे। इनकी कितनी ही हिन्दी रचनाएँ अभी लेखक को कुछ समय पूर्व प्राप्त हुई थी। स्वयं कवि श्रीपाल भट्टारक अभयचन्द्र से अत्यधिक प्रभावित थे। इसलिए स्वयं भट्टारकजी महाराज की प्रशंसा में लिखा गया कवि का एक पद देखिए। इस पद के अध्ययन से हमें अभयचन्द्र के आकर्षक व्यक्तित्व की स्पष्ट झलक मिलती है। पद निम्न प्रकार है—

चन्द्रवदनी मृग लोचनी नारि।
अभयचन्द्र गछ नायक वाँदो, सकल संघ जयकारि ॥१॥चन्द्र. ॥
मदन माहामद मीडे ए मुनिवर, गोयस सम गुणधारी।
क्षमावंतवि गंभिर विचक्षण, गरुयो गुण भण्डारी ॥चन्द्र.॥२॥
निखिलकला विधि विमल विद्या निधि विकटवादी हठहारी।
रम्य रूप रंजित नर नायक, सज्जन जन सुखकारी ॥चन्द्र.॥३॥

सरसति गच्छ शृंगार शिरोमणी, मूल संघ मनोहारी ।
कुमुदचन्द्र पदकमल दिवाकर, 'श्रीपाल' तुम बलीहारी ।।चन्द्र.।।४।।

गणेश भी अच्छे कवि थे । इनके कितने ही पद, स्तवन एवं लघु कृतियाँ उपलब्ध हो चुकी हैं । भट्टारक अभयचन्द्र के आगमन पर कवि ने जो स्वागत गान लिखा था और जो उस समय सम्भवत: गाया भी गया था, उसे पाठकों के अवलोकनार्थ यहाँ दिया जा रहा है .

आजु भले आये जन दिन घन रयणी ।
शिवया नन्दन बन्दी रत तुम, कनक कुसुम बधावो मृगनयनी ।।१।।
उज्जल गिरि पाय पूजी परमगुरु सकल संघ सहित संग सयनी ।
मृदंग बजावने गावते गुनगनी, अभयचन्द्र पटधर आयो गजगयनी ।।२।।
अब तुम आये भली करी, घरी घरी जय शब्द भविक सब कहेनी ।
ज्यो चकोरी चन्द्र कुं इयत, कहत गणेश विशेषकर वयनी ।।३।।

इसी तरह कवि के एक और शिष्य दामोदर ने भी अपने गुरु की भूरि-भूरि प्रशंसा की है । गीत में कवि के माता-पिता के नाम का भी उल्लेख किया है तथा लिखा है कि भट्टारक अभयचन्द्र ने कितने ही शास्त्रार्थों में विजय प्राप्त की थी । पूरा गीत निम्न प्रकार है—

वादो बन्दो सखी री श्री अभयचन्द्र गोर वादो ।
मूल संग मण्डण दुरित निकन्दन, कुमुदचन्द्र पगी बन्दो ।।१।।
शास्त्र सिद्धान्त पूरण ए जाण, प्रतिबोधे भवियण अनेक ।
सकल कला करी विश्वने रंजे, भजे वादि अनेक ।।२।।
हूबड वंश विख्यात वसुधा श्रीपाल साधन तात ।
जायो जननीइ पतिय शवन्तो, कोडमदे धन मात ।।३।।
रतनचन्द पाटि कुमुदचन्दयति, प्रेमे पूजो पाय ।
तास पाटि श्री अभयचन्द्र गोर 'दामोदर' नित्य गुणगाय ।।४।।

उक्त प्रशंसात्मक गीतो से यह तो निश्चित-सा जान पडता है कि अभयचन्द्र की जैन-समाज में काफी अधिक लोकप्रियता थी । उनके शिष्य साथ रहते थे और जनता को भी उनका स्तवन करने की प्रेरणा किया करते थे ।

अभयचन्द्र प्रचारक के साथ-साथ साहित्य निर्माता भी थे । यद्यपि अभी तक उनकी अधिक रचनाएँ उपलब्ध नही हो सकी है, लेकिन फिर भी उन प्राप्त रचनाओ के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनकी कोई बडी रचना भी मिलनी चाहिए । कवि ने लघु गीत अधिक लिखे है । इसका प्रमुख कारण तत्कालीन साहित्यिक वातावरण ही था । अब तक इनको छोटी-बडी १० रचनाएँ तथा कुछ गीत मिल चुके हैं जिनके नाम निम्न प्रकार है—

१. वासुपूज्यनी धमाल	१० पद्य
२. चन्दागीत	२६ पद्य
३. सूखडी	३७ पद्य
४. चतुर्विंशति तीर्थंकर लक्षण गीत	११ पद्य
५. पद्मावती गीत	११ पद्य
६. गीत	
७. गीत	
८. नेमीश्वरनुं ज्ञान कल्याणक गीत	
९. आदीश्वरनाथनुं पंचकल्याणक गीत	
१०. बलभद्र गीत	

इस प्रकार कविवर अभयचन्द्र ने अपनी लघु रचनाओं के माध्यम से हिन्दी साहित्य की जो महती सेवा की थी, वह सदा स्मरणीय रहेगी।

भट्टारक महीचन्द्र

भट्टारक महीचन्द्र नाम के तीन भट्टारक हो चुके हैं। इनमें से प्रथम विशालकीर्ति के शिष्य थे जिनकी कितनी ही रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। दूसरे महीचन्द्र भट्टारक वादिचन्द्र के शिष्य थे तथा भट्टारक सहस्त्रकीर्ति के शिष्य थे। लवाकुश छप्पय के कवि भी सम्भवत वादिचन्द्र के ही शिष्य थे। 'नेमिनाथ समवशरण विधि' उदयपुर के खण्डेलवाल मन्दिर के शास्त्र भण्डार मे सग्रहीत है उसमे उन्होने अपने को भट्टारक वादिचन्द्र का शिष्य लिखा है।

श्री मूलसंघे सरस्वती गच्छ जाणो,
बलातकार गण बखाणो।
श्री वादिचन्द्र मने आणो,
श्री नेमीश्वर चरण नमेसूं ॥३२॥

तस पाटे महीचन्द्र गुरु थाप्यो,
देश विदेश जग बहु व्याप्यो।
श्री नेमीश्वर चरण नमेसूं ॥३३॥

उक्त रचना के अतिरिक्त आपकी 'आदिनाथविनति', 'आदित्यव्रत कथा' आदि रचनाएँ और भी उपलब्ध होती हैं। 'लवाकुश छप्पय' कवि की सबसे बडी रचना है। इसमें छप्पय छन्द के ७० पद्य है। जिनमे राम के पुत्र लव एवं कुश की जीवनगाथा का वर्णन है। भाषा राजस्थानी है जिस पर गुजराती एव मराठी का प्रभाव है। रचना साहित्यिक है तथा उसमें घटनाओ का अच्छा वर्णन मिलता है। इसे हम खण्डकाव्य का रूप दे सकते है। कथा राम के लका विजय एव अयोध्या आगमन के बाद से प्रारम्भ होती है।

भाषा

महीचन्द्र की इस रचना को हम राजस्थानी डिंगल भाषा की एक कृति कह सकते है। डिंगल की प्रमुख रचना कृष्ण-रुक्मिणी वेलि के समान है। इसमें भी डिंगल शब्दो का प्रयोग हुआ है। यद्यपि छप्पय का मुख्य रस शान्त रस है लेकिन आधे से अधिक छन्द वीर रस प्रधान है। शब्दो को अधिक प्रभावशील बनाने के लिए चल्यो, छल्यो, पामया, लाज्या, आव्यो, पाड्या, चरयो, नम्या, उपसम्या, बोल्या आदि क्रियाओं का

प्रयोग हुआ है। 'तुम' 'हम' के स्थान पर तुहम, अह्म का प्रयोग करना कवि को प्रिय है। डिंगल शैली के कुछ पद्य निम्न प्रकार हैं—

रण निसाण बजाय सकल सैन्या तब मेली।
चढ्यो दिवाजे करि कटक करि दश दिश भेजी॥
हस्ति तुरंग मसूर भार करि शेषज शंको,
खडगादिक हथियार देख रवि शशि पण कम्प्यो॥
पृथ्वी आन्दोलित थई छत्र चमर रवि छादयो।
पृथु राजा ने चरे कल्यो, व्याघ्र राम तवे आवयो॥१५॥

रंध्या के असवार हणीगय वरनि घण्टा।
रथ धच कूचर हणी वली हयनी थटा॥
लव अंकुश युद्ध देख दशो दिशि नाथ जावे।
पृथुराजा बहु बडे लोहि पण जुगति न पावे॥
वज्र जंघ नृप देखतो बल साथे भागो यदा।
कुल सील हीन केतो जिते पृथु रा पगे पड्यो तदा॥२॥

भट्टारक वीरचन्द्र

भट्टारकीय बलात्कारगण शाखा के संस्थापक भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति थे, जो सन्त शिरोमणि भट्टारक पद्मनन्दि के शिष्यो में से थे। जब देवेन्द्रकीर्ति ने सूरत में भट्टारक गादी की स्थापना की थी, उस समय भट्टारक सकलकीर्ति का राजस्थान एवं गुजरात में जबरदस्त प्रभाव था और सम्भवत इसी प्रभाव को कम करने के उद्देश्य से देवेन्द्रकीर्ति ने एक और नयी भट्टारक संस्था को जन्म दिया। भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के पीछे एवं वीरचन्द्र के पहले तीन और भट्टारक हुए जिनके नाम विद्यानन्दि (सं. १४९९-१५३७), मल्लिभूषण (१५४४-५५) और लक्ष्मीचन्द्र (१५५६-८२)। वीरचन्द भट्टारक लक्ष्मीचन्द्र के शिष्य थे और इन्ही की मृत्यु के पश्चात् ये भट्टारक बने थे। यद्यपि इनका सूरत गादी से सम्बन्ध था, लेकिन ये राजस्थान के अधिक समीप थे और इस प्रदेश में खूब विहार किया करते थे।

'सन्त वीरचन्द्र' प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् थे। व्याकरण एवं न्यायशास्त्र के प्रकाण्ड वेत्ता थे। छन्द, अलंकार एव संगीत शास्त्र के मर्मज्ञ थे। वे जहाँ जाते अपने भक्तो की सख्या बढा लेते एव विरोधियो का सफाया कर देते। वाद-विवाद में उनसे जीतना बडे-बडे महारथियो के लिए भी सहज नही था। वे अपने साधु जीवन को पूरी तरह निभाते और गृहस्थो को संयमित जीवन रखने का उपदेश देते। एक भट्टारक पट्टावली में उनका निम्न प्रकार परिचय दिया गया है—

"तदवशमडन-कदर्पदर्पदलन-विश्वलोकहृदयरजनमहाव्रतीपुरंदराणा, नवसहस्र-प्रमुखदेशाधिपराजाधिराजश्रीअर्जुनजीवराजसभामध्यप्राप्तसन्मानाना, षोडशवर्षपर्यन्तशाक-पाकपक्वान्नशाल्योदनादिसर्पिप्रभृतिसरसहारपरिवर्जिताना, व्याकरणप्रमेयकमलमार्त्तण्डछन्दो-लंकृतिसारसाहित्यसंगीतसकलतर्कसिद्धान्तागमशास्त्रसमुद्रपारंगताना, सकलमूलोत्तरगुण-गणमणिमण्डितविबुधवरश्री वीरचन्द्र भट्टारकाणा .."

उक्त प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि वीरचन्द्र ने नवसारी के शासक अर्जुन जीवराज से खूब सम्मान पाया तथा १६ वर्ष तक नीरस आहार का सेवन किया। वीरचन्द्र की विद्वत्ता का इनके बाद होनेवाले कितने ही विद्वानो ने उल्लेख किया है। भट्टारक शुभचन्द्र से अपनी कार्तिकेयानुप्रेक्षा को सस्कृत टीका में इनकी प्रशंसा में निम्न पद्य लिखा है—

भट्टारकपदाधीश. मूलसंघे विदावरा.
रमावीरेन्दु-चिद्रूप पुरेवा हि गणेशिन. ॥१०॥

भट्टारक सुमतिकीर्ति ने इन्हें वादियों के लिए अजेय स्वीकार किया है और उनके लिए वज्र के समान माना है। अपनी प्राकृत पंचसंग्रह की टीका में इनके यश को जीवित रखने के लिए निम्न पद्य लिखा है.

दुर्वारदुर्वादिकपर्वताना वज्रायमानो वरवीरचन्द्र.।
तदन्वये सूरिवरप्रधानो ज्ञानादिभूषो गणिगच्छराजः ।।

इसी तरह भट्टारक वादिचन्द्र ने अपनी शुभगसुलोचना चरित में वीरचन्द्र की विद्वत्ता की प्रशंसा की है और कहा है कि कौन-सा मूर्ख उनके शिष्यत्व को स्वीकार कर विद्वान् नही बन सकता।

वीरचन्द्रं समाश्रित्य के मूर्खा न विदो मथन् ।
तं (श्रये) त्यक्त सार्वज्ञ दीप्त्या निर्जितकाञ्चनम् ।।

वीरचन्द्र जबरदस्त साहित्य-सेवी थे। वे संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी एवं गुजराती के पारंगत विद्वान् थे। यद्यपि अब तक उनकी केवल ८ रचनाएँ ही उपलब्ध हो सकी हैं, लेकिन वही उनकी विद्वत्ता का परिचय देने के लिए पर्याप्त हैं। इनकी रचनाओं के नाम निम्न प्रकार है—

१ वीर विलास फाग
२. जम्बूस्वामी वेलि
३. जिन आन्तरा
४ सीमधरस्वामी गीत
५. सम्बोध सत्ताणु
६. नेमिनाथ रास
७ चित्तनिरोध कथा
८. बाहुबलि वेलि

१. वीर विलास फाग

वीर विलास फाग एक खण्डकाव्य है, जिसमें २२वें तीर्थंकर नेमिनाम की जीवन की एक घटना का वर्णन किया गया है। फाग में १३७ पद्य है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति उदयपुर के खण्डेलवाल दिगम्बर जैन मन्दिर के शास्त्र भण्डार मे संग्रहीत है। यह प्रति संवत् १६८६ में भट्टारक वीरचन्द्र के शिष्य भट्टारक महीचन्द के उपदेश से लिखी गयी थी। ब्र ज्ञानसागर इसके प्रतिलिपिकार थे।

रचना के प्रारम्भ में नेमिनाथ के सौन्दर्य एवं शक्ति का वर्णन किया गया है, इसके पश्चात् उनकी होनेवाली पत्नी राजुल की सुन्दरता का वर्णन मिलता है। विवाह के अवसर पर नगर की शोभा दर्शनीय हो जाती है तथा वहाँ विभिन्न उत्सव मनाये जाते है। नेमिनाथ की बारात बडी सजधज के साथ आती है लेकिन तोरण द्वार के निकट पहुँचने के पूर्व ही नेमिनाथ एक चौक में बहुत-से पशुओ को देखते है और जब

उन्हे सारथी द्वारा यह मालूम होता है कि वे सभी पशु बरातियों के लिए एकत्रित किये गये हैं तो उन्हे तत्काल वैराग्य हो जाता है और वे बन्धन तोड़कर गिरनार चले जाते है। राजुल को जब उनकी वैराग्य लेने की घटना मालूम होती है तो वह घोर विलाप करती है, बेहोश होकर गिर पडती है। वह स्वय भी अपने सब आभूषणों को उतारकर तपस्वी जीवन धारण कर लेती है। रचना के अन्त में नेमिनाथ के तपस्वी जीवन का भी अच्छा वर्णन मिलता है।

फाग सरस एव सुन्दर है। कवि के सभी वर्णन अनूठे हैं और उनमे जीवन है तथा काव्यत्व के दर्शन होते है। नेमिनाथ की सुन्दरता का एक वर्णन देखिए—

वेलि कमल दल कोमल, सामल वरण शरीर।
त्रिभुवनपति त्रिभुवन निलो, नीलो गुण गम्भीर ॥७॥
माननी मोहन जिनवर, दिन दिन देह दिपन्त।
प्रलम्ब प्रताप प्रभाकर, भवहर श्री भगवन्त ॥८॥
लीला ललित नेमीश्वर, अलवेश्वर उदार।
प्रहसित पकज पखडी, अखडी रूपि अपार ॥९॥
अति कोमल गल गन्दल, प्रविमल वाणी विशाल।
अंगि अनोपम निरुपम, मदन निवास ॥१०॥

इसी तरह राजुल के सौन्दर्य वर्णन को भी कवि के शब्दो मे पढिए—

कठिन सुपीन पयोधर, मनोहर अति उतग।
चम्पक वर्णी चन्द्राननी, माननी सोहि सुरग ॥१७॥
हरणी हरखी निज नयणीउ, वयणीउ साह सुरंग।
दन्त सुपन्ती दीपन्ती, सोहन्ती सिरवेणी बन्ध ॥१८॥
कनक केरी जसी पूतली, पातली पदमनी नारि।
सतीय शिरोमणि सुन्दरी, भवतरी अवनि मझारि ॥१९॥
ज्ञान-विज्ञान विचक्षणी, सुलक्षणी कोमल काय।
दान सुपात्रह पेखती, पूजती श्री जिनवर पाय ॥२०॥
राजमती रलीयामणी, सोहामणि सुमधुरीय वाणि।
भंभर म्योली भामिनी, स्वामिनी सोहि सुराणि ॥२१॥
रूपि रम्भा मुतिलोत्तमा, उत्तम अंगि आचार।
परणितु पुण्यवन्ती तेहनि, नेह करी नेमिकुमार ॥२२॥

फाग के अन्य सुन्दरतम वर्णनो मे राजुल-मिलाप भी एक उल्लेखनीय स्थल है। वर्णनो के पढने के पश्चात् पाठको के स्वयमेव आँसू बह निकलते है। इस वर्णन का एक स्थल देखिए—

कनकमि ककण मोडती, तोडती मिणि मिहार।
लूचती केश-कलाप, विलाप करि अनिवार ॥७०॥

नयणि नीर काजलि गलि, टलवलि भामिनी भूर ।
किम करूं कहि रे साहेलड़ी, विहि नडि गयो मझनाह ॥७१॥

काव्य के अन्त में कवि ने जो अपना परिचय दिया है, वह निम्न प्रकार है—

श्री मूल संघि महिमा निलो, जती तिलो श्री विद्यानन्द ।
सूरी श्री मल्लिभूषण जयो, जयो सूरी लक्ष्मीचन्द ॥१३५॥
जयो सूरी श्री वीरचन्द गुणिन्द, रच्यो जिणि फाग ।
गाता सामलता ए मनोहर, सुखकर श्री वीतराग ॥१३६॥
जी हाँ मेदिनी मेरु महीधर, द्वीप सायर बधि जाम ।
तिहाँ लगि ए चदो, नदो, सदा फाग ए ताम ॥१३७॥

रचना-काल

कवि ने फाग के रचनाकाल का कही भी उल्लेख नही किया है। लेकिन यह रचना सं. १६०० के पहले की मालूम होती है।

२. जम्बूस्वामो वेलि

यह कवि की दूसरी रचना है। इसकी एक अपूर्ण प्रति लेखक को उदयपुर (राजस्थान) के खण्डेलवाल दिगम्बर जैन मन्दिर के शास्त्र भण्डार में उपलब्ध हुई थी। वह एक गुटके मे सग्रहीत है। प्रति जीर्ण अवस्था में है और उसके कितने ही स्थलो से अक्षर मिट गये है। इसमें अन्तिम केवली जम्बूस्वामी का जीवन चरित वर्णित है।

जम्बूस्वामी का जीवन जैन कवियो के लिए आकर्षक रहा है। इसलिए संस्कृत, अपभ्रश, हिन्दी, राजस्थानी एवं अन्य भाषाओ में उनके जीवन पर विविध कृतियाँ उपलब्ध होती है।

'वेलि' की भाषा गुजराती मिश्रित राजस्थानी है, जिस पर डिंगल का प्रभाव है। यद्यपि वेलि काव्यत्व की दृष्टि से उतनी उच्चस्तर की रचना नही है, किन्तु भाषा के अध्ययन की दृष्टि से यह एक अच्छी कृति है। इसमें दूहा, त्रोटक एवं चाल छन्दों का प्रयोग हुआ है। रचना का अन्तिम भाग जिसमें कवि ने अपना परिचय दिया है, निम्न प्रकार है—

श्री मूलसंघे महिमा निलो, अने देवेन्द्र कीरति सूरि राय ।
श्री विद्यानन्दि वसुधा निलो, नरपति सेवे पाय ॥१॥
तेह वारें उदयो गति लक्ष्मीचन्द्र जेण आण
श्री मल्लिभूषण महिमा धर्णे, नमे ग्यासुद्दीन सुलतान ॥२॥
तेह गुरुचरण कमलनमी, अनें वेल्लि रची छे रसाल ।
श्री वीरचन्द्र सूरीवर कहें, गांता पुण्य अपार ॥३॥

जम्बूकुमार केवली हवा, अमे स्वर्ग-मुक्ति दातार।
जे भवियण भावें भावसे, ते तरसे संसार ॥४॥

कवि ने इसमें भी रचनाकाल का कोई उल्लेख नही किया है।

३. जिन आन्तरा

यह कवि की लघु रचना है, जो उदयपुर के उसी गुटके में संग्रहीत है। इसमें २४ तीर्थंकरो के एक के बाद दूसरे तीर्थंकर होने मे जो समय लगता है—उसका वर्णन किया गया है। काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से रचना सामान्य है। भाषा भी वही है, जो कवि की अन्य रचनाओ की है। रचना का अन्तिम भाग निम्न प्रकार है—

सत्य शासन जिन स्वामीनूं, जेहने तेहने रंग।
हो जाते वशे भला, ते नर चतुर सुचंग ॥६॥
जगें जनम्यू धन्य तेहनू, तेहनूं जीव्यूं सार।
रंग लागे जेहने मनें, जिन शासनह मझार ॥७॥
श्री लक्ष्मीचन्द्र गुरु गच्छपती, तिस पाटेंसार श्रृंगार।
श्री वीरचन्द्र गोरे कह्या, जिन आन्तरा उदार ॥८॥

४. सम्बोध सत्ताणु भावना

यह एक उपदेशात्मक कृति है, जिसमे ५७ पद्य है तथा सभी दोहो के रूप में हैं। इसकी प्रति भी उदयपुर के उसी गुटके में संग्रहीत है जिसमें कवि की अन्य रचनाएँ है। भावना के अन्त में कवि ने अपना परिचय भी दिया है जो निम्न प्रकार है

सूरि श्री विद्यानन्दि जयो, श्री मल्लिभूषण मुनिचन्द्र।
तस पाटे महिमा निलो, गुरु श्री लक्ष्मीचन्द्र ॥९६॥
तेह कुलकमल दिवसपति, जपतो यति वीरचन्द।
सुणता भणता ए भावना, पामीइ परमानन्द ॥९७॥

भावना मे सभी दोहे शिक्षाप्रद है तथा सुन्दर भावो से परिपूर्ण है। कवि की कहने की शैली सरल एवं अर्थगम्य है। कुछ दोहो का आस्वादन कीजिए—

धर्म धर्म नर उच्चरे, न धरे धर्मनो मर्म।
धर्म कारन प्राणि हणे, न गणे निष्ठुर कर्म ॥३॥
धर्म धर्म सहू को कहो, न गहे धर्म सुं नाम।
राम राम पोपट पडे, बूझे न ते निज राम ॥६॥
धनपाले धनपाल ते, धनपाल नामे भिखारी।
लछि नाम लक्ष्मी गणुं, लाछि लाकडा वहे नारी ॥७॥
दया बीज विण जे क्रिया, ते सघली अप्रमाण।
शीतल संजल जल भऱ्या, जेम चण्डाल न बाण ॥१९॥

धर्म मूल प्राणी दया, दया ते जीवनी माय ।
भाट भ्रान्ति न आणिए, भ्रान्ते धर्मनी पाय ॥२१॥
प्राणि दया विण प्राणी ने, एक न इच्छयूं होय ।
तैल न बेलू पलितां, सूप न तोय विलोय ॥२२॥
कण्ठ विहूणूं गान जिम, जिम विण व्याकरणे वाणि ।
न सोहे धर्म दया बिना, जिम भोयण विण पाणि ॥३२॥
नीचनी संगति परिहरो, धारो उत्तम आचार ।
दर्ल्लभ भव मानव तणो, जीव तूं आलिम हार ॥४०॥

५ सीमन्धर स्वामी

यह एक लघु गीत है जिसमें सीमन्धर स्वामी का स्तवन किया गया है ।

६. चित्तनिरोधक कथा

यह १५ छन्दो की एक लघु कृति है, जिसमें चित्त को वश मे रखने का उपदेश दिया गया है । यह भी उदयपुरवाले गुटके में ही सग्रहीत है । अन्तिम पद्य निम्न प्रकार है—

सूरि श्री मल्लिभूपण जयो जयो श्री लक्ष्मीचन्द्र ।
तास वश विद्यानिलु लाड नीति शृगार ।
श्री वीरचन्द्र सूरी भणी, चित्त निरोध विचार ॥१५॥

७. बाहुबलि वेलि

इसकी एक प्रति उदयपुर के खण्डेलवाल दिगम्बर जैन मन्दिर के शास्त्र भण्डार मे सग्रहीत है । यह एक लघु रचना है लेकिन इसमे विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया गया है । त्रोटक एव राग सिन्धु मुख्य छन्द है ।

८ नेमिकुमार रास

यह नेमिनाथ की वैवाहिक घटना पर एक लघु कृति है । इसकी प्रति उदयपुर के अग्रवाल दिगम्बर जैन मन्दिर के शास्त्र भण्डार में सुरक्षित है । रास की रचना संवत् १६१३ मे समाप्त हुई थी जैसा कि निम्न छन्दो से ज्ञात होता है—

तेहनी भक्ति करी घणी, मुनि वीरचन्द्र नि दोधी बुधि ।
श्री नेमितणा गुण वर्णव्या, पामवा सघली रिधि ॥१६॥
सवत् सोलताहोत्तरि, श्रावण सुदि गुरुवार ।
दशमी को दिन रुभडो, रास रच्चो मनोहार ॥१७॥

उक्त रास में भट्टारक ज्ञानभूषण एवं शुभचन्द्र को श्रद्धाजलि समर्पित की गयी है।

इस प्रकार भट्टारक वीरचन्द्र को अब तक जो कृतियाँ उपलब्ध हुई है वे इनके साहित्य-प्रेम का परिचय प्राप्त करने के लिए पर्याप्त है। राजस्थान एवं गुजरात के शास्त्र-भण्डारो की पूर्ण खोज होने पर इनकी अभी और भी रचनाएँ प्रकाश में आने की आशा है।

नेमिकुमार रास

मुनि वीरचन्द गु २१ वो सं ३६९ पत्र, अग्रवाल दि. जैन मन्दिर, उदयपुर।

दूहा— नेमकुमार गगति गया, इन्द्रनि हवूं तव जाण।
सुरपति फणपति आवीआ, आवी आचंदनि भाण ॥१॥
करीय कलाणक पाचसु, इंद्र गया नीज धाम।
पुण्य तणा फल देखवी, जपता नेम जीनू नाम ॥२॥
मूल सघ माहि जाणी, सरसती गछ सुणगार।
श्री पद्मनन्दि पहि भलो, सुरी सकलकीरति भवतार ॥३॥
जिणि मिथ्या मोह नीवारीउ, प्रकट कीउ सुभ सान।
धर्म्माधर्म्म प्रकाशिनि, कीधो चीद्रूप घ्यान ॥४॥
तस उदआचलि उपनो, भुवन कीर्ति तस नांम।
तस तेजि करी सोहो, जसो डगमतो भाग ॥५॥
तस पटि जिती उपमा, श्रो ज्ञान भूषण मुनि राय।
देश विदेशि विहारकरी, भव्य लगाया पाय ॥६॥
तस पद पंकज मोहनु, श्री विजयकीर्ति जिस्यो अन्द।
वाणीअ अमृत वर सुणो, जेण दीथे नयणा नन्द ॥७॥
तस कुलि कमल प्रकासीउ, भट्टारक शुभचन्द्र सूरी।
वाणीइ सुर नर मोही आ, कुमती नाग दूरि ॥८॥
सु कहता सुभ कीर्तिजे, जेहनी देशि विदेशि।
विक्षात मद गज भंजनो, रंजनो राय नरेम ॥९॥
भ कहिता भक्तिकरी, जिणवर तणी सुचंग।
सास्त्र सीधात रचि घणा, मनि बहु आणी चग ॥१०॥
च कहिता जे चंद्रमा, ज्यम कमलनो करि विकास।
सत्य धर्मामृत उपदेशिनि, छोडवि ससार पास ॥११॥
द्र कहिता छ द्रव्यनु करि ते सरस बखाण।
भट्टारक भव भय हरि, श्री शुभचन्द्र सुजाण ॥१२॥
चहूं अक्षिर नाम नीपनु, मुनी वीरचन्द्र गुर तेही
तरम पमाई नेमनु, रास करो मइ ऐही ॥१३॥

सास्त्र माहि भइ साभलि, कवनि रचूं नेमजीनु सार ।
भविमण भावि भण जो, जिस पांम्यो जयकार ।।१४।।
जवाछ नयर सोहामणु, ज्याहृया जिनवर भुवन उत्तंग ।
आदिनाथ महि विठो, जेहनु नीर्मल सोहि अंग ।।१५।।
तेहनी भक्ति करी घणी, मुनि वीरचन्द्र नि दोधी बुधि,
श्री नेमतणा गण वर्णया, पामवा सछली रिधि ।।१६।।
संवत् सोलनाहोत्तरि, श्रावण श्रुदि गुरुवार ।
दशमि को दिन रूमडो, रास करो मर सार ।।१७।।
वस्तु—
सुणो भवियण रे, रास ए सार मनोहर ।।
नेम कुमार तणो सवडो, भणो ए सार सदूजल ।।
भवीयण भावि भण जो, तहम पुहचि सिथली आस निर्भर ।
लीला लाछि लक्षमी लहो, लहिरयो सर्गि निवास ।
संसार तणां सुख भोगवी, पदि भुगति होसि नीवास ।।१।।
इति श्री नेमकुमार रास समाप्त · श्री : ।छ।।
संवत् १६३८ वर्षे फागुण शुदि १५ वार शुकर ।लक्षतं।
शुभं भवतु कल्याणमस्तु ।।

भट्टारक क्षेमकीर्ति

[संवत् १७३० से १७५७ तक]

भट्टारक क्षेमकीर्ति प्रथम दिगम्बर जैन सन्त हैं जिनके जीवन का पूरा इतिवृत्त मिलता है। क्षेमकीर्ति १७वी शताब्दी के महान् विद्वान् एव प्रभावशाली भट्टारक थे। ६० वर्ष के जीवन में उन्होने राजस्थान, गुजरात एवं मध्य प्रदेश में विहार करके जन-जन मे भगवान् महावीर के सिद्धान्तो का प्रचार किया तथा स्थान-स्थान पर प्रतिष्ठा, विधान एवं व्रत-पूजा करके लोगो में धार्मिक निष्ठा उत्पन्न की।

उनका जन्म भीलोडा नगर मे सवत् १६९७ में मंगसिर सुदी ३ शुक्रवार के दिन हुआ। इनके पिता का नाम साह खातु भाई एवं माता का नाम गोगा बाई था। जब ये ७ वर्ष के ही थे तभी से आचार्य देवेन्द्रकीर्ति के चरणो में रहने लगे। उस दिन अक्षय तृतीया का पावन दिन था। १६वें वर्ष मे पदार्पण करते ही उन्होने अणुव्रत धारण कर लिये तथा पच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के शुभावसर पर भट्टारक देवेन्द्र-कीर्ति ने इसे अपना शिष्य घोषित कर किया और इनका नाम ब्रह्मचारी क्षेमा रखा गया। १४ वर्ष तक ब्रह्मचारी क्षेमा अपने गुरु के पास रहे और समस्त शास्त्रो का गहरा अध्ययन किया। भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति ने उनकी प्रतिष्ठा, व्यक्तित्व एव अध्ययनरुचि को देखकर उन्हे अपना प्रमुख शिष्य घोषित कर दिया और अपनी मृत्यु के पश्चात् उन्हे भट्टारक पद देने की अपनी हार्दिक इच्छा व्यक्त की। सवत् १७३० माह सुदी २ के दिन भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति का स्वर्गवास हुआ।

सवत् १७३० माह सुदी २ गुरुवार के शुभ दिन ब्र. क्षेमा को भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के पट्ट पर अभिषेक किया गया और उनका नाम क्षेमकीर्ति रखा गया। भट्टारक बनने के पश्चात् सर्वप्रथम वे उदयपुर पधारे। वहाँ विभिन्न उत्सव, व्रत एव पूजा विधान आयोजित किये गये। उदयपुर मे उन्होंने सर्वप्रथम अपना चातुर्मास किया। चातुर्मास मे कर्मदहन पूजा का विशाल आयोजन किया गया और बृहद् आदिपुराण का विशेष प्रवचन किया गया। इसके पश्चात् भट्टारक क्षेमकीर्ति ने देश के विभिन्न भागो एव प्रदेशो में विहार किया और जनता मे पूजा-विधान एवं उत्सवो के माध्यम से अपूर्व धार्मिक जागृति उत्पन्न की। कुछ प्रमुख ग्राम एव नगर जिन्हे भट्टारक श्री क्षेमकीर्ति ने अपने चरणरज से पावन किया निम्न प्रकार है

इस वर्ष गिरिपुर (डूँगरपुर)

सागवाडा वंशावलि, बुहरानपुर, महेश्वर नगरों को भी पावन किया। संवत् १७३२ का चातुर्मास महेश्वर में किया। वहाँ उज्जैन नगर के बाई जानू को १८३४ व्रत पूजा विधान विशेष रूप से रखा गया। इसी वर्ष भट्टारक जी बडवानी सिद्धचन्द्र की यात्रा की। यात्रा समाप्ति के पश्चात् पूजा एवं उद्यापन किया। इसी वर्ष पूज्य श्री आसेरगढ पधारे वहाँ विविध प्रकार के व्रतोद्यापन एवं उत्सव सम्पन्न हुए। फिर बुरहानपुर पधारे वहाँ कर्मदहन पूजा, दशलक्षण, सोहलकारण पूजा एवं उद्यापन किये और समाज मे धार्मिक जाग्रति उत्पन्न की। वहां से खोरमपुर, रावेर, अडाबाद, महुआ आदि नगरो में विहार किया।

चातुर्मासों का विवरण

संवत्	स्थान	संवत्	स्थान
संवत् १७३१	उदयपुर	संवत् १७४४	सागवाडा
१७३२	महेश्वर	१७४५	उदयपुर
१७३३	सूरत	१७४६	उदयपुर
१७३४	अहमदाबाद	१७४७	उदयपुर
१७३५	कोट	१७४८	आगरा
१७३६	सागवाडा	१७४९	दारानगर
१७३७	सागवाडा	१७५०	उदयपुर
१७३८	डूँगरपुर	१७५१	उदयपुर
१७३९	डूँगरपुर	१७५२	अहमदाबाद
१७४०	राजनगर	१७५३	डूँगरपुर
१७४१	अहमदाबाद	१७५४	सागवाड़ा
१७४२	सूरत	१७५५	कोट
१७४३	अहमदाबाद	१७५६	सावली
		१७५७	अहमदाबाद

मंगसिर वदो ४, सवत् १७५७ में स्वर्गवास हुआ।

भट्टारक पट्टावली में भट्टारक क्षेमकीर्ति के जीवन का पूरा इतिवृत्त दे रखा है। यह ऐसी प्रथम पट्टावली है जिसमे जन्म से लेकर मृत्यु तक प्रत्येक घटना तिथि एवं सवत् तथा वार के साथ प्रस्तुत की गयी है। पूरी पट्टावली भट्टारक क्षेमकीर्ति का एक प्रकार से इतिवृत्त है। जिसकी एक प्रति मन्दिर उदयपुर मे सग्रहीत है।

पूजा प्रतिष्ठा का युग

१७वी शताब्दी पूजा प्रतिष्ठा एव व्रत विधान का युग था। इन पूजा तथा व्रत उपवास का विधान ये भट्टारक गण कराते और गाँव-गाँव मे विहार करके धर्म का

प्रचार करते। दशलक्षण, षोडशकारण, कर्मदहन पूजा, बारहसौ चौतीस व्रतोद्यापन पूजा, तीस चौबीसी पूजा आदि प्रमुख पूजा विधान थे और भट्टारक क्षेमकीर्ति इतने अधिक पूजापाठी बन गये थे कि इन्हें चातुर्मास के अतिरिक्त गुराज, मध्यप्रदेश एव राजस्थान के प्रमुख नगरों एवं ग्रामो मे इसीलिए विहार करना पडता। इन्होंने अपने जीवन मे ४०० से अधिक उत्सव विधान कराये होगे।

ढूँढाहड प्रदेश की यात्रा

संवत् १७४७ की चैत्र वदी ३ के दिन ये सम्मेदशिखर की यात्रा के लिए पधारे तथा मालपुरा, नारायण, मौजमाबाद, सागानेर, आमेर, बसवा, मथुरा के मन्दिरो के दर्शन किये तथा अपने सघ को विदा करके वापस नारायण आये और वहां भट्टारक जगत्कीर्ति जी से भेंट की जो आमेर गादी के भट्टारक थे। सवत् १७५१ में आपने बीकानेर की ओर विहार किया जहां देवकरण दोशी के पुत्र लालचन्द्र ने कर्मदहन पूजा महोत्सव किया था। वहाँ से आप पाली गये और तेजसिंह-नारायणदास ने मिल करके तीस चौबीसी पूजा विधान सम्पन्न कराया।

व्यक्तित्व

भट्टारक क्षेमकीर्ति अपने समय के सबसे प्रतिभाशाली भट्टारक थे। उनकी यश एवं कीर्ति सारे देश में और विशेषत गुजरात एवं बागड प्रदेश मे सर्वत्र व्याप्त थी और जनता इनके दर्शनो के लिए पलक पावडे बिछाये रहती थी। वे जहाँ भी जाते उनका शानदार स्वागत होता और पूजा प्रतिष्ठा एवं महोत्सव आयोजित किये जाते जिससे सारे देश मे धार्मिक जाग्रति फैल जाती।

साहित्य निर्माण

भट्टारक क्षेमकीर्ति ने साहित्य निर्माण किया या नही इस सम्बन्ध मे भट्टारक पट्टावली मौन है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उनकी इस ओर रुचि नही थी और वे ग्रन्थो के स्वाध्याय की ओर ही अपने शिष्यो का ध्यान दिलाते रहते थे।

भट्टारक शुभचन्द्र (द्वितीय)

[संवत् १७२५ से १७४८ तक]

शुभचन्द्र के नाम से कितने ही भट्टारक हुए हैं। भट्टारक सम्प्रदाय में ४ शुभचन्द्र गिनाये गये हैं[1]—

१. कमलकीर्ति के शिष्य	भट्टारक शुभचन्द्र
२. पद्मनन्दि के शिष्य	,,
३. विजयकीर्ति के शिष्य	,,
४ हर्षचन्द्र के शिष्य	,,

इनमे प्रथम काष्ठासंघ के माथुरगच्छ और पुष्कर गण मे होनेवाले भ. कमलकीर्ति के शिष्य थे। इनका समय १६वी शताब्दी का प्रथम-द्वितीय चरण था। दूसरे शुभचन्द्र भ. पद्मनन्दि के शिष्य थे, जिनका भट्टारक काल सं. १४५० से १५०७ तक था। तीसरे भ शुभचन्द्र भट्टारक विजयकीर्ति के शिष्य थे जिनका हम पूर्व पृष्ठों में परिचय दे चुके है। चौथे शुभचन्द्र भट्टारक हर्षचन्द्र के शिष्य बताये गये है। इनका ममय १७२३ से १७४९ माना गया है। ये भट्टारक भुवनकीर्ति की परम्परा मे होनेवाले भ हर्षचन्द्र (स १६९८-१७२३) के शिष्य थे। लेकिन आलोच्य भट्टारक शुभचन्द्र भट्टारक अभयचन्द्र के शिष्य थे जो भट्टारक रत्नकीर्ति के प्रशिष्य एवं भट्टारक कुमुदचन्द्र के शिष्य थे जिनका परिचय यहाँ दिया जा रहा है—

भट्टारक अभयचन्द्र के पश्चात् स. १७२१ की ज्येष्ठ वदी प्रतिपदा के दिन पारबन्दर मे एक विशेष उत्सव किया गया। देश के विभिन्न भागो से अनेक साधु सन्त एवं प्रतिष्ठित श्रावक उत्सव में सम्मिलित होने के लिए नगर में आये। शुभ मुहूर्त में शुभचन्द्र का भट्टारक गादी पर अभिषेक किया गया। सभी उपस्थित श्रावको ने शुभचन्द्र की जयकार के नारे लगाये। स्त्रियो ने उनकी दीर्घायु के लिए मगल गीत गाये। विविध वाद्य यन्त्रो से सभास्थल गूंज उठा और उपस्थित जनसमुदाय ने गुरु के प्रति हार्दिक श्रद्धाजलियाँ अर्पित की।[2]

शुभचन्द्र ने भट्टारक बनते ही अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित किया।

---

१. देखिए भट्टारक सम्प्रदाय, पृ. स. ३०६।

२ तब सज्जन उलट अग धरे, मधुरे स्वरे माननो गान करे (११)
ताहाँ बहु विध वाजित्र वाजता, सुर नर मन माहो निरख ता (१२)

यद्यपि अभी वे पूर्णत युवा थे, उनके अंग-प्रत्यंग से सुन्दरता टपक रही थी, लेकिन उन्होंने अपने आत्म-उद्धार के साथ-साथ समाज के अज्ञानान्धकार को दूर करने का बीडा उठाया और उन्हे अपने इस मिशन मे पर्याप्त सफलता भी मिली। उन्होने स्थान-स्थान पर विहार किया। राजस्थान से उन्हे अत्यधिक प्रेम था इसलिए इस प्रदेश मे उन्होने बहुत भ्रमण किया और अपने प्रवचनो द्वारा जनसाधारण के नैतिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय विकास मे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

शुभचन्द्र नाम के ये पाँचवें भट्टारक थे, जिन्होने साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कार्यों मे विशेष रुचि ली। शुभचन्द्र गुजरात प्रदेश के जलसेन नगर में उत्पन्न हुए। यह नगर जैन समाज का प्रमुख केन्द्र था तथा हूबड जाति के श्रावको का वहाँ प्रभुत्व था। इन्ही श्रावको मे हीरा भी एक श्रावक थे जो धनधान्य से पूर्ण तथा समाज द्वारा सम्मानित व्यक्ति थे। उनकी पत्नी का नाम माणिक दे था। इन्ही की कोख से एक सुन्दर बालक का जन्म हुआ, जिसका नाम नवलराम रखा गया था। बालक नवल अत्यधिक व्युत्पन्न मति था इसलिए उसने अल्पायु मे ही व्याकरण, न्याय, पुराण, छन्द-शास्त्र, अष्टसहस्री एव चारो वेदो का अध्ययन कर लिया।[२] १८वी शताब्दी मे भी गुजरात एव राजस्थान मे भट्टारक साधुओ का अच्छा प्रभाव था। इसलिए नवलराम को बचपन से ही इनकी संगति मे रहने का अवसर मिला। भ अभयचन्द्र के सरल जीवन से ये अत्यधिक प्रभावित थे इसलिए उन्होने भी गृहस्थ जीवन के चक्कर मे न पडकर आजन्म साधु जीवन का परिपालन करने का निश्चय कर लिया। प्रारम्भ मे अभयचन्द्र से ब्रह्मचारी पद की शपथ ली और इसके पश्चात् वे भट्टारक बन गये।

शुभचन्द्र के शिष्यो में प गोपाल, गणेश, विद्यासागर, जयसागर, आनन्द-सागर आदि के नाम विशेषत उल्लेखनीय है। श्री गोपाल ने तो शुभचन्द्र के कितने ही पदो मे प्रशसात्मक गीत लिखे है जो साहित्यिक एव ऐतिहासिक दोनो प्रकार के है।

भ शुभचन्द्र साहित्य निर्माण मे अत्यधिक रुचि रखते थे। यद्यपि उनकी कोई बडी रचना उपलब्ध नही हो सकी है, लेकिन जो पद साहित्य के रूप मे इनकी कृतियाँ मिली है, वे इनकी साहित्य रसिकता की ओर पर्याप्त प्रकाश डालनेवाली है। अब तक इनके निम्न पद प्राप्त हुए है—

---

१ छण गजना कर वदन विलोकि, अर्द्ध मर्सी सम भाल।
पकज पत्र समान सुलोचन, ग्रीवा कबु विशाल रे ॥८॥
नाशा शुक चची सम सुन्दर, अधर प्रवाली वृ द।
रक्त वर्ण द्वि पंक्ति विराजित नीरखता आनन्द रे ॥६॥
दिम दिम मद्दन तबनन फेरा, तत्ताथेई करत।
पच शब्द वाजित्र ते बाजे, नादे नभ गज्जत रे ॥२१॥

२ व्याकर्ण तर्क वितर्क अनोपम, पुराण पिंगल भेद।
अष्टसहस्री आदि ग्रन्थ अनेक जु ह्वा विद्व जाणी वेद रे ॥
—श्रीपाल कृत एक गीत

१. पेखो सखी चन्द्रसम मुख चन्द्र
२. आदिपुरुष भजो आदि जिनेन्द्रा
३. कौन सी सुध ल्यावे श्याम की
४. जपो जिन पार्श्वनाथ भवतार
५. पावन मति मात पद्मावति पेखता
६. प्रात समये शुभ ध्यान धरीजे
७. वासुपूज्य जिन विनती सुणो वासुपूज्य मेरी बिनती
८ श्री सारदा स्वामिनी प्रणमि पाय, स्तूब वीर जिनेश्वर विबुध राय
९. अञ्झारा पार्श्वनाथनी वीनती

उक्त पदो एव विनतियो के अतिरिक्त अभी भ. शुभचन्द्र की और भी रचनाएँ होगी, जो किसी गुटके के पृष्ठो पर अथवा किसी शास्त्र भण्डार में स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में अज्ञातावस्था में पडी हुई अपने उद्धार की बाट जोह रही होगी ।

पदो मे कवि ने उत्तम भावो को रखने का प्रयास किया है । ऐसा मालूम होता है कि शुभचन्द्र अपने पूर्ववर्ती कवियो के समान 'नेमि-राजुल' की जीवन घटनाओ से अत्यधिक प्रभावित थे इसलिए एक पद मे उन्होने 'कौन सभी सुध ल्यावे श्याम' का मार्मिक भाव भरा । इस पद से स्पष्ट है कि कवि के जीवन पर मीरा एवं सूरदास के पदो का प्रभाव भी पडा है ।

कौन सखी सुध ल्यावे श्याम को ।
मधुरी धुनी मुखचन्द्र विराजित, राजमति गुण गावो ॥श्याम ॥१॥
अंग विभूषण मनीमय मेरे, मनोहर माननी पावे ।
करो कछू तत मन्त मेरी सजनी, मोहि प्राननाथ मीलावे ॥श्याम ॥२॥
गजगमनी गुण मन्दिर स्यामा, मनमथ मान सतावे ।
कहा अवगुन अब दीन दयाल छोरि मुगति मन भावे ॥श्याम ॥३॥
सब सखी मिली मन मोहन के ढिंग जाई कथा जु सुनावे ।
सुनो प्रभु श्री शुभचन्द्र के साहिब, कामिनी कुल क्यो लजावे ॥श्याम ॥४॥

कवि ने अपने प्राय सभी पद भक्ति रस प्रधान लिखे हैं । उनमे विभिन्न तीर्थंकरो का स्तवन किया गया है । आदिनाथ स्तवन का एक पद देखिए—

आदि पुरुष भजो आदि जिनेन्दा ॥टेक॥
सकल सुरासुर शेष सु व्यन्तर, नर खग दिनपति सेवित चन्दा ॥१॥
जुग आदि जिनपति भये पावन, पतित उदारण नाभि के नन्दा ।
दीन दयाल कृपानिधि सागर, पार करो अध तिमिर निदेन्दा ॥२॥
केवल ग्यान थे सब कछु जानत, काह कहू प्रभु मो मति मन्दा ।
देखत दिन-दिन चरण सरणते, विनती करत यो सूरि शुभ चन्दा ॥३॥

समय

शुभचन्द्र संवत् १७४५ तक भट्टारक रहे। इसके पश्चात् रत्नचन्द्र को भट्टारक पद पर सुशोभित किया गया। भट्टारक रत्नचन्द्र का एक लेख संवत् १७४८ का मिला है, जिसमें एक गीत की प्रतिलिपि पं. श्रीपाल के परिवार के सदस्यों के लिए की गयी थी ऐसा उल्लेख किया गया है। इस तरह भ. शुभचन्द्र ने २४-२५ वर्ष तक देश के एक कोने से दूसरे कोने तक भ्रमण करके साहित्य एव संस्कृति के पुनरुत्थान का जो अलख जगाया था वह सदैव स्मरणीय रहेगा।

शाकम्भरी प्रदेश के प्रभावक आचार्य

शाकम्भरी प्रदेश प्रारम्भ से ही जैनाचार्यों, भट्टारको, मुनियों एवं विद्वानों का प्रदेश रहा है। इन सन्तो ने प्रदेश मे विहार करके जन-जन को भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह को जीवन में उतारने का उपदेश दिया था। यही कारण है कि इस प्रदेश में भगवान् महावीर की अहिंसा का जनता पर पूर्ण प्रभाव रहा और जनसामान्य की भावना प्राणीमात्र को बचाने की रही। यह पूरा प्रदेश ही तीर्थ के समान पूजित एवं सम्मानित रहा। सांभर, नरायण, नागौर, अजमेर, मौजमाबाद-जैसे नगरो मे जैन तीर्थयात्री यहाँ के मन्दिरो की, जैन सन्तों एवं शास्त्र भण्डारो की वन्दना करने जाते रहते थे। सिद्धसेन सूरि ने अपनी पुस्तक सकल-तीर्थ स्तोत्र में सांभर प्रदेश के कुछ प्रमुख तीर्थों का निम्न प्रकार वर्णन किया है—

खंडिल्ल डिड्डूआणय नराण हरसउर खट्टउ देसे,
नागउर मुन्विदंतिसु संभरि देसमि वदेसि ॥

नागौर एवं अजमेर-जैसे नगर आचार्यों एवं भट्टारको के केन्द्र ही नही रहे किन्तु साहित्य एवं संस्कृति के प्रचार-प्रसार मे भी ये प्रमुख अभियन्ता रहे तथा साहित्य की अपूर्व सुरक्षा करके इस क्षेत्र में गौरवशाली कार्य किया। अजमेर तो १०वी ११वी शताब्दी से ही जैन सन्तो की गतिविधियो का प्रमुख नगर रहा। सवत् ११९८ मे इस नगर में महाराजाधिराज अर्णोराजादेव के शासन मे आवश्यकनिर्युक्ति की प्रतिलिपि की गयी थी[१] जो नगर की १२वी शताब्दी में सम्पन्न साहित्यिक गतिविधियो की ओर सकेत करती है। अजमेर मे १३वी शताब्दी मे ही भट्टारको की गादी स्थापित हो गयी थी और भट्टारक शुभकीर्ति (म १२७१) तथा भट्टारक रत्नकीर्ति एवं भट्टारक प्रभाचन्द्र (स १३१०) का इसी नगर में पट्टाभिषेक हुआ था।[२]

अजमेर के पश्चात् जब भट्टारको का देहली केन्द्र बना और भट्टारक प्रभाचन्द्र ने देहली में जाकर सम्राट् फिरोजशाह तुगलक के समय दिगम्बर भट्टारको के त्याग एवं तप की प्रभावना की तो सारे देश में प्रसन्नता की लहर दौड गयी तथा दिगम्बर सम्प्रदाय के साधुओ एव भट्टारकों का देश मे जन-जन द्वारा स्वागत होने लगा।[३] देहली

---

१ राजस्थान के प्राचीन नगर—डॉ. के सी. जैन, पृ सं. ३०६।
२ भट्टारक पट्टावली—महावीर भवन, जयपुर।
३ बुद्धिविलास—बखतराम साह, पृष्ठ संख्या ७५-७६।

में होनेवाले भट्टारक शुभचन्द्र, प्रभाचन्द्र एवं जिनचन्द्र-जैसे भट्टारको का राजस्थान की ओर विशेष विहार होता रहा और वे शाकम्भरी प्रदेश की जनता को अपने दिव्य सन्देशो से कृतार्थ करते रहे। सवत् १५८१ में पुनः भट्टारक रत्नकीर्ति ने नागौर में स्वतन्त्रत भट्टारक गादी की स्थापना की जिससे सारे मारवाड़ प्रदेश में धर्म एवं साहित्य का प्रचार किया जा सके तथा जनता के अधिक सम्पर्क मे आ सके। नागौर की गादी पर एक पट्टावली के अनुसार २७ भट्टारक हुए।[१] अन्तिम भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति थे जिनका अभी कुछ ही वर्ष पूर्व स्वर्गवास हुआ था। इस गादी के कारण राजस्थान में तथा विशेषत साँभर प्रदेश एव मारवाड में जैन धर्म का अधिक प्रचार हो सका और साहित्य सुरक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया। नागौर का शास्त्र भण्डार राजस्थान मे ही नही किन्तु देश मे सबसे महत्त्वपूर्ण तथा विशाल शास्त्र भण्डार माना जाता है।

नागौर शाखा के भट्टारको का पट्टाभिषेक प्रमुख रूप से नागौर के अतिरिक्त अजमेर, जोबनेर, मारोठ-जैसे नगरो मे हुआ। भट्टारको के पट्टाभिषेक मे विभिन्न नगरो एव गाँवो की जैन समाज भारी सख्या मे भाग लेती थी और इस प्रकार ये समारोह भी सैकडो वर्षों तक धर्म प्रभावना के एक अग माने जाते रहे। आमेर गादी के भट्टारक जगत्कीर्ति के पट्टाभिषेक मे राजस्थान के ही नही किन्तु देहली, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश मे मे भी भारी सख्या में श्रावकगण सम्मिलित हुए थे।[२]

सवत् १७४५ मे भट्टारक रत्नकीर्ति (द्वितीय) ने अजमेर मे पुन भट्टारक गादी की स्थापना की। यद्यपि इस गादी का सम्बन्ध नागौर गादी से पूरी तरह नही टूटा था लेकिन इन भट्टारको की अलग ही परम्परा चली। भट्टारक विजयकीर्ति सवत् (१८०२) इस गादी के प्रसिद्ध भट्टारक थे। अजमेर मे जो भट्टारकीय शास्त्र भण्डार है वह भी इसी गादी के भट्टारको की देन है।

शाकम्भरी प्रदेश मे केवल नागौर एव अजमेर के भट्टारको का ही विहार नही होता था किन्तु आमेर एव बागड प्रदेश के भट्टारक भी इन प्रदेशो में विहार करते थे और साहित्य एव सस्कृति के प्रचार मे अपना योगदान देते थे। संवत् १७४८ में बागड के भट्टारक क्षेमकीर्ति ने सम्मेद शिखर की यात्रा के लिए जब संघ सहित विहार किया तो मालपुरा, नरायणा, मौजमाबाद, साँगानेर, आमेर आदि नगरो की भी वन्दना की तथा आमेर के भट्टारक श्री जगत्कीर्तिजी से भेट की।[३]

१ भट्टारक सम्प्रदाय—डॉ वी. पी जोहरापुरकर, पृ स १२८-२५।

२. भट्टारक पट्टावली—महावीर भवन, जयपुर।

३ त्यहां श्रा श्रीपूज्य गिरिपुर आवो श्री सघनि शिरम दर्शनि। मागयस्तम उदयपुर ना श्री सघनि वदावोनि चत्र बडी ३ दिने श्री सम्मेदशिखरजी यात्रा साम चाल्या मालपुर नराणि मौजाबद सागानेर आबेर मथुरा ने श्री सघानि वदावोनि नराणि भट्टारक श्री जगत्कीर्तिनि मलीनि। सवत् १७४८ नु चौमासो आगरे कीधु।

भट्टारक गादियों की स्थापना

भट्टारक जिनचन्द्र के समय में नागौर में स्वतन्त्र भट्टारक गादी की स्थापना हुई। पहले ये मण्डलाचार्य कहलाते थे लेकिन कुछ समय पश्चात् ये भी अपने आपको भट्टारक लिखने लगे।[1] इस भट्टारक परम्परा में निम्न प्रकार भट्टारक हुए—

१. भ. रत्नकीर्ति
२ भ. भुवनकीर्ति, संवत् १५७२, आषाढ़ सुदी २, जाति छाबड़ा[2]
३. भ. विशालकीर्ति सं. १५०१
४. भ लक्ष्मीचन्द्र, संवत् १५११, जाति छाबडा
५. भ. सहस्रकीर्ति, संवत् १६३१, जाति पाटनी
६. भ नेमिचन्द, सवत् १६५०, जाति ठोलिया
७ भ. यशकीर्ति, सं. १६७२, गोत्र पाटनी
८. भ भानुकीर्ति, स १६९०, गोत्र गगवाल
९. भ श्रीभूषण, स १७०५, गोत्र पाटनी
१०. भ धर्मचन्द्र, स १७१२, गोत्र सेठी
११ भ. देवेन्द्रकीर्ति, स. १७२७, गोत्र सेठी
१२ भ अमरेन्द्रकीर्ति,[3] स. १७३८

भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति के पश्चात् भ. रत्नकीर्ति (द्वितीय) हुए। इनके दो शिष्य थे—एक विद्यानन्द और दूसरे ज्ञानभूषण। भ रत्नकीर्ति कुछ समय तक नागौर गादी पर रहने के पश्चात् अजमेर मे स्वतन्त्र भट्टारक गादी की स्थापना की। नागौर की गादी पर अपने शिष्य ज्ञानभूषण को भट्टारक बना दिया। इसके पश्चात् निम्न भट्टारक और हुए—

१३. रत्नकीर्ति द्वितीय
१४. ज्ञानभूषण
१५ चन्द्रकीर्ति
१६. पद्मनन्दि
१७. सकलभूषण
१८. सहस्रकीर्ति
१९ अनन्तकीर्ति
२० हर्षकीर्ति
२१. विद्याभूषण
२२. हेमकीर्ति

---

१ गुटका दि जैन मन्दिर, पाटोदी, संख्या १५२।
२. भट्टारक सम्प्रदाय में डॉ. जोहरापुरकर ने भ. धर्मकीर्ति का नाम और दिया है।
३ भ सम्प्रदाय में अमरेन्द्रकीर्ति के स्थान पर सुरेन्द्रकीर्ति का नाम दिया है।

२३ क्षेमेन्द्रकीर्ति

२४. मुनीन्द्रकीर्ति

२५ कनककीर्ति

२६ देवेन्द्रकीर्ति

भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति नागौर गादी के अन्तिम भट्टारक थे जिनका स्वर्गवास अभी कुछ ही वर्षों पहले हुआ है। नागौर गादी का सम्बन्ध नागपुर, अमरावती आदि विदर्भ के नगरो से भी रहा है तथा महाराष्ट्र के अन्य नगरों में जहाँ मारवाडी व्यापारी रहते हैं वहाँ वे भी जाया करते थे।

सवत् १७५१ मे भट्टारक रत्नकीर्ति ने अजमेर में जब भट्टारक गादी की स्थापना की तो उनका पुन पट्टाभिषेक आयोजित किया गया। इस वर्ष जोबनेर मे एक पंच-कल्याणक प्रतिष्ठा समारोह हुआ जिसकी प्रतिष्ठा सम्पन्न करानेवाले भट्टारक रत्नकीर्ति ही थे। सघी जैसा ने रथ प्रतिष्ठा की थी।

अजमेर की इस पट्ट पर निम्न भट्टारक हुए—

१ भ रत्नकीर्ति

२ भ. विद्यानन्द (सं. १७६६)

३ भ महेन्द्रकीर्ति (स १७६९)

४ भ अनन्तकीर्ति (सं. १७७३)

५ भ भुवनभूषण (स १७९७)

६ भ. विजयकीर्ति (स १८०२)

७ भ त्रिलोकेन्द्रकीर्ति

८ भ. भुवनकीर्ति

९ भ रतनभूषण

१०. भ. पद्मनन्दि

भट्टारक पद्मनन्दि अजमेर गादी के अन्तिम भट्टारक थे। उक्त सभी भट्टारको ने राजस्थान के विभिन्न भागो मे विहार किया और भगवान् महावीर के सन्देश को जन-जन तक पहुँचाने का प्रयास किया। इन भट्टारको के अजमेर चबूतरे बने हुए हैं। सवत् १७६९ मे भट्टारक रतनकीर्ति व भट्टारक विद्यानन्द ने चबूतरा बनवाया। सवत् १८१० मे भट्टारक विजयकीर्ति ने अपने गुरु भवनभूषण का चबूतरा बनवाया। सवत् १८५२ मे अजमेर मे भट्टारक भुवनकीर्ति के तत्वावधान में एक विशाल प्रतिष्ठा का आयोजन किया गया। सघही धर्मदास इस प्रतिष्ठा के आयोजक थे तथा अजमेर पर उस समय सिंधिया दौलतराव का शासन था।[1]

---

१ सवत् १८५२ वेशाख मासे शुक्लपक्षे तिथि पचानण गुरुवासरे अजमेर महादुर्गे सीधिया दौलतराबजी राज्ये श्री मूलसघे भ श्री भुवनकीर्तिस्तदाम्नाये गगवाल गोत्रे सघही धर्मदासेन इदं प्रतिष्ठा करायिता।

वैसे तो सभी भट्टारक विद्वान्, साहित्य-सेवी एवं श्रमण संस्कृति के प्रमुख प्रचारक थे लेकिन इनमें निम्न भट्टारकों की सेवाएँ विशेषतः उल्लेखनीय है—

भट्टारक पद्मनन्दि

भट्टारक पद्मनन्दि प्रभाचन्द्र के शिष्य थे। भट्टारक प्रभाचन्द्र की आज्ञा से गुराज क्षेत्र में विधि-विधान से प्रतिष्ठा सम्पन्न कराने के लिए उन्हे वहाँ भेजा गया था। एक बार वहाँ के श्रावकों ने भट्टारक प्रभाचन्द्र से वहाँ की प्रतिष्ठा सम्पन्न कराने की प्रार्थना की लेकिन वे वहाँ नही जा सके तो उन्होने आचार्य पद्मनन्दि को ही सूरी मन्त्र देकर भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित कर दिया।[1] भट्टारक पट्टावलि मे पद्मनन्दि का जो परिचय मिलता है वह निम्न प्रकार है—

संवत् १३८५, पौष सुदी ७, पद्मनन्दिजी गृहस्थ वर्ष १०, मास ७, दीक्षा वर्ष २३, मास ५, गृहस्थ वर्ष ६५, दिन १८, अन्तर दिन १०, सर्व आयु वर्ष ९९, मास ०, दिन २८।

पद्मनन्दि पर सरस्वती का पूरा वरदहस्त था। एक बार उन्होने पाषाण की सरस्वती प्रतिमा को मुख से बुलाया था ऐसा उल्लेख मिलता है।[2] आचार्य पद्मनन्दि अपने समय के बडे विद्वान् भट्टारक थे। इनके संघ मे अनेक साधु एवं साध्वियाँ थी। इनके चार शिष्य प्रधान थे। इनमे भट्टारक सकलकीर्ति ने गुजरात में, भट्टारक शुभचन्द्र ने देहली में, भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति ने सूरत मे भट्टारक गादी की स्थापना की। पद्मनन्दि की १५ रचनाएँ प्राप्त हो चुकी है जो सभी संस्कृत भाषा मे निबद्ध है। सागानेर में संघीजी के मन्दिर में जो शान्तिनाथ की प्रतिमा है, जिसकी प्रतिष्ठा इन्ही के द्वारा संवत् १४६४ में अजमेर में सम्पन्न हुई थी।[3] इसी तरह इनके द्वारा प्रतिष्ठापित मूर्ति भरतपुर में पचायती मन्दिर में भी विराजमान है।

भट्टारक धर्मकीर्ति

ये नागौर गादी के भट्टारक थे। ये सवत् १५९० की चैत्र कृष्ण ७ को भट्टारक हुए। आप खण्डेलवाल जाति एवं सेठी गोत्र मे उत्पन्न हुए थे। संवत् १६०१ की फाल्गुन शुक्ला ९ को आपने चन्द्रप्रभु मूर्ति की प्रतिष्ठा करायी थी।[4]

---

१ सवत् तेरहसौ पिचि जानि वै, भये भटारक प्रभाचन्द्र गुनषानिवै।
जिनकौ आचारिज इक हौ गुजरात मै, तहा सर्व पचनि मिली ठानी बात में। १६१।
कीजै एक प्रतिष्ठा तै सुभकाज ह्वै, करन लगे विधिवत सब ताजा साज वै।
भट्टारक बुलबाये सो पहुँचे नहीं, तबै सबै पचनि मिली यह ठानी सही।
सूरिमत्र वाही आचारिज कौ दिये, पद्मनन्दि भट्टारक नाम सुयेह कियौ।
ताकि पाटि सकलकीरति मुनिवर भये, तिन समोधि गुजरात देस अपने किये। ६२०।

२. पाषाण की सरस्वती मुखै बुलाई। जाति ब्राह्मण पट्ट अजमेर।

३. मूर्ति पंच संग्रह—महावीर भवन, जयपुर, पृ स २६४।

४. भट्टारक सम्प्रदाय, पृष्ठ संख्या १२।

भट्टारक विशालकीर्ति

संवत् १६०१ वैशाख सुदी, विशालकीर्तिजी गृहस्थ वर्ष ९, दीक्षा वर्ष ५८, भट्टा वर्ष ९, मास १०, दिवस २०, अन्तर मास १ दिवस १०, सर्व वर्ष ७७, दिवस २३ जाति पाटोदी यह जोबनेर।

विशालकीर्ति का पट्टाभिषेक जोबनेर मे संवत् १६०१ में हुआ था। ये भी नागौर पट्ट के भट्टारक थे। जाति से खण्डेलवाल एवं गोत्र पाटोदी था। ये १० वर्ष तक भट्टारक रहे।

भट्टारक लक्ष्मीचन्द्र

भट्टारक विशालकीर्ति के प्रमुख शिष्य थे। संवत् १६११ में इनका भी जोबनेर में ही पट्टाभिषेक हुआ। ये भी खण्डेलवाल एव छाबडा गोत्र के थे। इन्होने २० वर्ष तक भट्टारक पद पर रहकर साहित्य एव समाज की अपूर्व सेवा की थी।

भट्टारक सहस्रकीर्ति

जोबनेर में पट्टस्थ होनेवाले ये तीसरे भट्टारक थे। इनके गुरु भट्टारक लक्ष्मीचन्द्र थे। संवत् १६३१ जेष्ठ सुदी ५ को इनका बडे ठाट से पट्टाभिषेक हुआ। इसके पश्चात् ये १८ वर्ष तक भट्टारक रहे। इनका गोत्र पाटनी था।

भट्टारक नेमिचन्द्र

जोबनेर में ही पट्टस्थ होनेवाले ये चौथे भट्टारक थे। अपने गुरु लक्ष्मीचन्द्र के समान ये भी खण्डेलवाल जाति के थे तथा ठोलिया इनका गोत्र था। मवत् १६५० की श्रावण शुक्ला १३ को इनका अभिषेक हुआ। ये २२ वर्ष तक भट्टारक पद पर रहे। ये साहित्य-प्रेमी थे तथा अपने लिए एव अपने शिष्यो के लिए ग्रन्थो की पाण्डुलिपियाँ कराया करते थे।

भट्टारक यशःकीर्ति

ये नागौर गादी के भट्टारक थे तथा संवत् १६७२ की फाल्गुन शुक्ला ५ को इनका रेवासा नगर में पट्टाभिषेक हुआ। एक भट्टारक पट्टावलि मे इनका परिचय निम्न प्रकार दिया है—

सवत् १६७२ फागुन सुदी ५, यश कीर्तिजी गृहस्थ वर्ष ९, दीक्षा वर्ष ४०, भट्टा वर्ष १७, मास ११, दिवस ८, अन्तर २, सर्व वर्ष ६७ जाति पाटनी पट्ट रेवा।

रेवासा नगर के आदिनाथ जिनमन्दिर में एक शिलालेख के अनुसार यश.कीर्ति के उपदेश से रायसाल के मुख्य मन्त्री देवीदास के दो पुत्र जतिमल एव नथमल ने मन्दिर का निर्माण कराया था। इनके प्रमुख शिष्य रूपा एव डूँगरसी ने धर्मपरीक्षा की एक

प्रति गुणचन्द्र को भेंट देने के लिए बनायी थी तथा रेवासा के पंचों ने उन्हे एक सिंहासन भेंट किया था ।[1]

भट्टारक भानुकीर्ति

भानुकीर्ति का पट्टाभिषेक नागौर में ही संवत् १६९० में सम्पन्न हुआ । एक पट्टावलि के अनुसार इन्होने ७वें वर्ष में ही दीक्षा ले ली और ३७ वर्ष तक साधु जीवन में रहकर गहरी साधना की । इसके पश्चात् १४ वर्ष तक भट्टारक पद पर रहकर जैन साहित्य एवं संस्कृति का प्रचार किया । इनके द्वारा रचित रविव्रत कथा की एक पाण्डुलिपि जयपुर भण्डार संग्रह में मिलती है जिसमें उन्होने अपने आपका निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

आठा सात सोला के अंग, रविदिन कथा रचियों अकलंक ।
भाव सहित सत सुख लहे, भानुकीर्ति मुनिवर जी कहे ।

उक्त कथा के अतिरिक्त इनकी बृहद् सिद्धचक्रपूजा, रोहिणी व्रतकथा एवं समीणा पार्श्वनाथ स्तोत्र भी राजस्थान के विभिन्न भण्डारो में मिलती है ।

भट्टारक श्रीभूषण

ये भट्टारक भानुकीर्ति के शिष्य थे तथा नागौर गादी के संवत् १७०५ में भट्टारक बने थे । ७ वर्ष तक भट्टारक रहने के पश्चात् इन्होने अपने शिष्य धर्मचन्द्र को भट्टारक गादी देकर एक उत्तम उदाहरण उपस्थित किया । ये खण्डेलवाल एवं पाटनी गोत्र के थे । साहित्य रचना में इन्हें विशेष रुचि थी । इनकी कुछ रचना निम्न-प्रकार है—

अनन्तचतुर्दशी पूजा	संस्कृत
अनन्तनाथ पूजा	,,
भक्तामर पूजा विधान	,,
श्रुतस्कन्ध पूजा	,,
सप्तऋषि पूजा	,,

भट्टारक धर्मचन्द्र

भट्टारक धर्मचन्द्र का पट्टाभिषेक संवत् १७१२ मारोठ में हुआ था । ये नागौर गादी के भट्टारक थे । एक पट्टावली के अनुसार ये ९ वर्ष गृहस्थ रहे, २० वर्ष तक साधु अवस्था मे रहे तथा १५ वर्ष तक भट्टारक पद पर आसीन रहे । संस्कृत एवं हिन्दी दोनो

१ श्रीमद् भट्टारकजी श्री १०८ श्री यश'कीर्ति जी तस्य आमनाय का श्री पचा सिंहासन कराय चढ़ायो रेवासा नगर सं. १६७२ का मिति फाल्गुन सुदी ५ ।

के ही ये अच्छे विद्वान् थे और इन्होंने संवत् १७२६ में 'गौतमस्वामीचरित' की रचना की थी। संस्कृत का यह एक अच्छा काव्य है। मारोठ (राजस्थान) में इसकी रचना की गयी थी। उस समय मारोठ पर रघुनाथ का राज्य था। उक्त रचना के अतिरिक्त नेमिनाथ विनती, सम्बोध पंचासिका एवं सहस्रनाम पूजा नामक कृतियाँ और मिलती हैं।

देवेन्द्रकीर्ति

देवेन्द्रकीर्ति के नाम से कितने ही भट्टारक हो गये हैं। लेकिन प्रस्तुत देवेन्द्रकीर्ति नागौर के भट्टारक धर्मचन्द्र के शिष्य थे। इनका पट्टाभिषेक सवत् १७२७ में मारोठ में सम्पन्न हुआ था। ये केवल ११ वर्ष तक ही भट्टारक पद पर रहे।

भट्टारक अमरेन्द्रकीर्ति

ये भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे तथा सवत् १७३८ में भट्टारक पद पर अभिषिक्त हुए थे। कुछ पट्टावलियो मे सुरेन्द्रकीर्ति का भी नाम मिलता है। ये खण्डेलवाल जाति एव पाटणी गोत्र के थे। सवत् १७४० मे इनके द्वारा रचित रविवार व्रतकथा की प्रति मिलती है। ये भी करीब ७ वर्ष तक भट्टारक गादी पर रहे।

भट्टारक रत्नकीर्ति (द्वितीय)

रत्नकीर्ति सवत् १७४५ मे भट्टारक पद पर अभिषिक्त किये गये। ये कुछ समय तक नागौर गादी पर रहे लेकिन बाद मे अजमेर चले गये और वहां पर उन्होने स्वतन्त्र भट्टारक गादी की स्थापना की। यह कोई सवत् १७५१ की घटना होगी। संवत् १७५१ मे कालाडहरा मे पुन: इनका पट्टाभिषेक किया गया। ये बडे प्रभावशाली भट्टारक थे। एक भट्टारक पट्टावली मे इनका परिचय निम्न प्रकार दिया गया है—

सवत् १७४५ वैशाख सुदी ९ रत्नकीर्ति जो गृहस्थ वर्ष ३०, दीक्षा वर्ष ४७, पट्ट वर्ष २१, सर्व वर्ष ९८ मास १ दिवस ४, अन्तर मास १, दिवस ३, जाति गोधा पट्ट कालाडहरा।

भट्टारक विजयकीर्ति

अजमेर गादी के भट्टारको मे भट्टारक विजयकीर्ति का नाम विशेषत. उल्लेखनीय है। इनका अजमेर नगर मे संवत् १८०२ आषाढ सुदी १ के शुभ दिन पट्टाभिषेक हुआ था। इन्होने अपने गुरु भवनभूषण का चबूतरा एवं चरण अजमेर मे ही स्थापित किये थे। विजयकीर्ति सस्कृत एव हिन्दी के अच्छे विद्वान् थे।

अब तक इनकी निम्न रचनाएँ उपलब्ध हो चुकी है—

१. अकलंक निकलंक चौपाई
२. कथा संग्रह
३. कर्णामृतपुराण
४. चन्दनषष्ठीव्रत पूजा
५. धर्मपाल संवाद
६. भट्टरण्डक
७. शालिभद्र चौपाई
८. श्रेणिक चरित्र

कर्णामृत पुराण की रचना रूपगन (रूपनगढ़) में संवत् १८२६ में सम्पन्न हुई थी। जिसका कवि ने निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

संवत् अठारहसौ छब्बीस ग्रन्थ रचित ....बीस।
कार्तिक बदि बारस गुरुवार, रूपनगर में रच्यो सुसार ।।

श्रेणिकपुराण संवत् १८२७, शालिभद्र चौपाई संवत् १८२७, महादण्डक संवत् १८२९ की रचनाएँ हैं। महादण्डक की अन्तिम प्रशस्ति निम्न प्रकार है —

संवत् जाति प्रवीन अठारासै गुणतीस लखि
महादण्डक शुभ दीन, ज्येष्ठ चौथि गुरु पुष्प शुक्ल
गढ अजमेर सुथान, श्रावक सुख लीला करै
जैनधर्म बहुमान देव शास्त्र गुरु भक्ति मन ।।

इति श्री महादण्डक कर्णानुयोग भट्टारक श्री विजयकीर्ति लघुदण्ड वर्णन इकतालिसिया अधिकार ४१। स १८२९ का।

भट्टारक भुवनकीर्ति

भट्टारक भुवनकीर्ति त्रिलोकेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे। ये भी प्रभावशाली भट्टारक थे। सवत् १८५२ मे अजमेर मे जो विशाल प्रतिष्ठा समारोह हुआ था वह इन्ही के निर्देशन मे सम्पन्न हुआ था। जयपुर के बडे दीवानजी के दिगम्बर जैन मदिर में जो आदिनाथ एव महावीर की विशाल मूर्तियाँ है वे अजमेर में प्रतिष्ठापित हुई थी।

चाकसू, आमेर, जयपुर एवं श्री महावीरजी की गादी के प्रमुख भट्टारक

मूलसंघ के सरस्वतीगच्छ एवं बलात्कारगण के कुछ प्रमुख भट्टारको का विस्तृत परिचय पहले दिया जा चुका है। प्रस्तुत पृष्ठो में शेष भट्टारको का परिचय दिया जा रहा है।

एक भट्टारक पट्टावलि मे भट्टारक पद्मनन्दि से लेकर भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति तक का निम्न परिचय दिया गया है—

८४. भट्टारक पद्मनन्दि :

संवत् १३८५, पौष सुदी ७—गृहस्थ वर्ष १०, मास ७, दीक्षा वर्ष २३, मास ५। पट्टस्थ वर्ष ६५ दिन १८, अन्तर दिन १०, सर्व आयु वर्ष ९९, मास—दिन २८।

८५. भट्टारक शुभचन्द्र .

सवत् १४५०, माह सुदी ५—गृहस्थ वर्ष १६, दीक्षा वर्ष २४, पट्टस्थ वर्ष ५६ मास ३, दिन ४, अन्तर दिन ११, सर्व आयु वर्ष ९६, मास ३, दिन २५।

८६. भट्टारक जिनचन्द्र

सवत् १५०७, ज्येष्ठ सुदी ५—गृहस्थ वर्ष १२, दीक्षा वर्ष १५, पट्टस्थ वर्ष ६४, मास ८, दिन १७, अन्तर दिन ११, मर्व वर्ष ९१, मास ८, दिन २७।

८७. भट्टारक प्रभाचन्द्र :

सवत् १५७१, फागुन बदी २—गृहस्थ वर्ष १५, दीक्षा वर्ष ३५, पट्टस्थ वर्ष ९, मास ४, दिन २५, अन्तर दिन ८, सर्व आयु वर्ष ५९, मास ५, दिन ३। याकै बारे सवत् १५७१ कैसालि गच्छ दोय हुआ एक तो चित्तौड मे अर दूर नागौर हुवा तदि सु नागौर को फास्यो नाव प्रभाचन्द्र भी कहे।

८८ भट्टारक धर्मचन्द्र .

सवत् १५८१, श्रावण बदी ५—धर्मचन्द्रजी गृहस्थ वर्ष ९, दीक्षा वर्ष ३१, पट्टस्थ वर्ष २१, मास ८, दिन १८।

८९. भट्टारक ललितकीर्ति :

सवत् १६०३, चैत्र सुदी ८—ललितकीर्तिजी गृहस्थ वर्ष ७, दीक्षा वर्ष २५, पट्टस्थ वर्ष १९, दिन १५, अन्तर दिन २५, सर्व वर्ष ५१, मास—दिन २२।

९०. भट्टारक चन्द्रकीर्ति :

संवत् १६२२, वैशाख बदी ३०—चन्द्रकीर्ति गृहस्थ वर्ष—दीक्षा वर्ष—पट्टस्थ वर्ष ४०, मास ९, अन्तर दिन ७।

९१. भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति :

संवत् १६६२, फाल्गुण बदी ३०—देवेन्द्रकीर्तिजी पट्टस्थ वर्ष २८, मास ७, दिन २५, अन्तर दिन ५।

९२. भट्टारक नरेन्द्रकीर्तिजी :

सवत् १६९१, कार्तिक बदी ३०—नरेन्द्रकीर्तिजी गृहस्थ वर्ष ११, पट्टस्थ वर्ष ३१, मास ८, दिन १५, अन्तर दिन ८, याके बारे तेरापन्थी हुआ संवत् १६९५ में।

९३ भट्टारक सुरेन्द्रकीर्तिजी :

संवत् १७२२ श्रावण बदी ८—सुरेन्द्रकीर्ति गृहस्थ वर्ष ९, पट्टस्थ वर्ष १०, मास ११, दिन २२, अन्तर दिन ५, जाति काला।

९४ भट्टारक जगत्कीर्तिजी

सवत् १७३३, श्रावण बदी ५—जगत्कीर्तिजी गृहस्थ वर्ष ११, दीक्षा वर्ष २६, पट्टस्थ वर्ष ३४, मास ५, दिन २८, अन्तर दिन ७, सर्व आयु वर्ष ७४, माह ८, दिन ५, जाति साखूण्या।

९५. भट्टारक देवेन्द्रकीर्तिजी .

सवत् १७७०, माह बदी ११—देवेन्द्रकीर्तिजी पट्टस्थ वर्ष २१, मास ११, दिन १४, जाति ठोलिया।

९६. भट्टारक महेन्द्रकीर्तिजी :

सवत् १७९०, पौष सुदी १०—महेन्द्रकीर्ति पट्टस्थ वर्ष २१, मास ९, दिन १५, जाति पापडीवाल दिल्ली मे यह हुआ।

९७ भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्तिजी ·

संवत् १८१५, आषाढ सुदी ११—क्षेमेन्द्रकीर्तिजी पट्टस्थ वर्ष ७, अन्तर मास ८, दिन ५, जाति पाटणी यह सवाई जयपुर मे हुआ।

९८ भट्टारक सुरेन्द्रकीर्तिजी :

सवत् १८२२, मिति फागुण सुदी ४—सुरेन्द्रकीर्तिजी पट्टस्थ वर्ष २९, मास ९, दिन ४, अन्तर दिन—। जाति पहाड्या यह सवाई जयपुर में हुवो।

९९. भट्टारक सुखेन्द्रकीर्तिजी ·

संवत् १८५२, मंगसिर वदी ८—सुखेन्द्रकीर्तिजी पट्टस्थ वर्ष—मास—दिन, अन्तर दिन १६, जाति अनोपडा पट्टस्थ सवाई जयपुर में हुवो।

१००. भट्टारक नरेन्द्रकीर्तिजी :

संवत् १८८०, मिती आषाढ वदी १०—नरेन्द्रकीर्तिजी पट्टस्थ वर्ष २४, जाति बडजात्या। यह सवाई जयपुर मे अन्तर दिन १५ को।

१०१. भट्टारक देवेन्द्रकीर्तिजी .

संवत् १८८३, मिती माह सुदी ५—गृहस्थ वर्ष ७, पण्डित वर्ष १३, प्रगराज वर्ष—अन्तर दिन—वर्ष १ को यह सवाई जयपुर मे हुवो जाति काला भट्टारक देवेन्द्रकीर्तिजी पट्टस्थ हुवो।

१०२. भट्टारक महेन्द्रकीर्तिजी

सवत् १९३९।

१०३. भट्टारक चन्द्रकीर्ति :

सवत् १९७५। सवत् २०२६ मे स्वर्गवास हुआ।

इस प्रकार भट्टारक पद्मनन्दि से लेकर भट्टारक चन्द्रकीर्तिजी तक इस परम्परा मे २० भट्टारक हुए। अन्तिम भट्टारक चन्द्रकीर्ति हुए। इनमे से भट्टारक पद्मनन्दि, भट्टारक शुभचन्द्र, भट्टारक जिनचन्द्र एवं प्रभाचन्द्र का परिचय पूर्व पृष्ठो मे दिया जा चुका है। शेष भट्टारको का परिचय निम्न प्रकार है।

भट्टारक धर्मचन्द्र

इनका पट्टाभिषेक संवत् १५८१ श्रावण वदी ५ के शुभ दिन चित्तौड में हुआ। इस समय इनकी आयु ४० वर्ष की थी। इसके पूर्व ३१ वर्ष तक इन्होंने भट्टारक प्रभाचन्द्र के साथ ग्रन्थो का खूब अध्ययन किया था तथा प्रतिष्ठा विधि आदि के सम्बन्ध मे पूरा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। इन्होंने सर्वप्रथम संवत् १५८३ माह सुदी ५ को दशलक्षण यन्त्र की प्रतिष्ठा सम्पन्न करवायी। इसके प्रतिष्ठाकारक थे सघी माल्ह एवं उनकी धर्मपत्नी गोगी तथा पुत्र नेमदास विमलदास। वर्तमान मे यह यन्त्र पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर टोंक मे उपलब्ध है।[1] इसके पूर्व इनके उपदेश के आधार पर राणा संग्रामसिंह के शासनकाल मे चम्पावती नगर (चाटसू) में किसी साह गोत्रीय श्रावक ने पचकल्याणक प्रतिष्ठा सम्पन्न करवायी थी। इस लेख मे धर्मचन्द्र को मण्डलाचार्य कहा है।[2] पत्रायती मन्दिर पार्श्वनाथजी सवाई माधोपुर (राजस्थान) मे एक चौबीसी जी की मूर्ति है जो सवत् १५८६ फागुण सुदी १० के शुभ दिन इन्ही धर्मचन्द्र द्वारा प्रतिष्ठित हुई थी। प्रतिष्ठा के आयोजक खण्डेलवाल जाति में उत्पन्न साह गोत्र के श्रावक थे।[3] संवत् १५९० के ऐसे दो लेख मिलते है जिनमे भट्टारक धर्मचन्द्र का उल्लेख है। एक लेख

---

१ मूर्ति य त्र लेख सग्रह—महावीर भवन, जयपुर के सग्रह में, पृ. स २६४।
२ वही, पृष्ठ ३३५।
३. वही, पृष्ठ ५७५।

है संवत् १५९० माघ सुदी ७ का जिसमें चम्पावती नगर एवं वहाँ के सम्भवनाथ चैत्यालय का उल्लेख है।[1] यह प्रतिष्ठा बाकलीवाल गोत्र के सं. तालु धर्मपत्नी तौला के एवं उनके पुत्र लल्लू बल्लू ने सम्पन्न करायी थी। दूसरा लेख संवत् १५९० माह सुदी ४ का है जिसमें भट्टारक धर्मचन्द्र वा प्रभाचन्द्र के शिष्य रूप में उल्लेख है तथा लुहाडिया गोत्रवाले श्रावक लाला एवं उनके परिवार ने यन्त्र की प्रतिष्ठा सम्पन्न करायी थी।[2]

संवत् १५९३ ज्येष्ठ सुदी ३ के दिन आयोजित समारोह भट्टारक धर्मचन्द्र के जीवन का सबसे बडा समारोह था। इस दिन आँवा में एक बडी भारी प्रतिष्ठा आयोजित की गयी थी। इसमें शान्तिनाथ स्वामी की एक विशाल एवं मनोज्ञ प्रतिमा की प्रतिष्ठा हुई जो आवाँ (टोंक) के मन्दिर में विराजमान है। एक प्रतिष्ठा-पाठ मे इस प्रतिष्ठा का निम्न प्रकार उल्लेख किया गया है—

"संवत् १५९३ के साल गाँव आवाँ में प्रभाचन्द्र धर्मचन्द्र के बारे बेणीराम छावडो प्रतिष्ठा करायी। राजा सूर्यसेन कूं जैनी करयौ। श्री भट्टारक दो घडी मे गिरनारजी सूँ आया। बडी अजमत दिखाई। देव माया सूँ घृत, खाँड व गुड का कुआ भर दीना। जीमणार में ७५० मण मिरच मुसाला मे लागी। सबकू जैनी करया। मूलनायक प्रतिमा शान्तिनाथ स्वामी को विराजमान की।[3]

उक्त उल्लेख से ज्ञात होता है कि यह प्रतिष्ठा प्रतिष्ठाओ के इतिहास मे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण थी जब उसमें सम्मिलित होनेवाले दर्शनार्थियो को जैनधर्म में दीक्षित किया गया। तथा धर्मचन्द्र ने अपनी विद्याओ का चमत्कार दिखलाया। इसी वर्ष आवाँ की एक पहाडी पर भट्टारक शुभचन्द्र, भट्टारक जिनचन्द्र एवं भट्टारक प्रभाचन्द्र की निषेधिकाएँ स्थापित की गयी।

सवत् १५७७ में भट्टारक धर्मचन्द्र मुनि कहलाते थे। उत्तरपुराण की टीकावाली प्रशस्ति मे भट्टारक श्री प्रभाचन्द्र देवा : तत् शिष्य मुनि धर्मचन्द्रदेवा उल्लेख मिलता है।[4] एक दूसरी प्रशस्ति में इसी सवत् में प्रवचनसार वृत्ति की एक पाण्डुलिपि को नागौर मे लिखवाकर साह खोराज एवं उनके परिवार ने मुनि धर्मचन्द्र को भेंट की ऐसा उल्लेख मिलता है।[5] संवत् १५९५ में माघ शुक्ला ६ रविवार को साखौण नगर में वराग चरित्र की एक पाण्डुलिपि मण्डलाचार्य धर्मचन्द्र के शासन में लिखी गयी थी तथा उसमें धर्मचन्द्र को 'सद्‌गुरु' की उपाधि से सम्बोधित किया गया है।[6] संवत् १५८३

१ मूर्ति यन्त्र लेख संग्रह—महावीर भवन, जयपुर के सग्रह में, पृ सं ३२७।
२ सवत् १५९० वर्षे माह सुदि ४ बुधवारे श्री मूलसघे नद्याम्नाये बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भट्टारक श्री प्रभाचन्द्र तत् शिष्य भट्टारक धर्मचन्द्रदेवा तदाम्नाये खण्डेलवालान्वये लुहाडिया गोत्रे सा भार्या रीतु तत्पुत्र सा माधावे भा गरिवत तत्पुत्र सा दाराहुत बाला मित निरयं प्रणमति।
३ प्रतिष्ठापाठ का कथन -चौ जीवनलाल, पृष्ठ सख्या ३३।
४, प्रशस्ति सग्रह – डॉ कस्तूरचन्द कासलीवाल, पष्ठ सं, २।
५ वही, पृष्ठ ३६-३७।
६ वही पृष्ठ ५५।

में चाटसू नगर में अपभ्रंश काव्य सिरिचन्दप्पह चरिउ की पाण्डुलिपि सा. काचिल एवं अन्य श्रावकों ने लिखवायी थी और उसे इनको भेंट की गयी थी।[1] धर्मचन्द्र के एक शिष्य का नाम कमलकीर्ति था। इनको स्वाध्याय के लिए संवत् १६०२ में पाण्डव-पुराण—अपभ्रंश (यश.कीर्तिकृत) की सा कीला अजमेरा ने पाण्डुलिपि तैयार करवायी और कमलकीर्ति को श्रद्धापूर्वक समर्पित की।[2] इससे जान पड़ता है उस शताब्दी में अपभ्रंश के काव्यो को पढ़ने की ओर विद्वानो में रुचि थी। संवत् १६११ आषाढ़ वदी ९ शुक्रवार को अपभ्रश के महाकाव्य पासणाह चरिउ (पद्मकीर्ति) की रचना भट्टारक धर्मचन्द्र के लिए की गयी थी। इस प्रशस्ति मे धर्मचन्द्र को 'वसुन्धराचार्य' की उपाधि से सम्बोधित किया गया है।[3]

धर्मचन्द्र अपने साथ ब्र. एवं मुनियो के अतिरिक्त आर्यिकाएँ भी रहती थी। संवत् १५९५ मे इनकी एक शिष्या आर्यिका विनयश्री को पढने के लिए पट्टावलि सिंह कृत 'पन्जुणचरिउ' की पाण्डुलिपि साह सुरजन एवं उसकी धर्मपत्नी सुनावत द्वारा भेंट की गयी थी।[4] इनके एक शिष्य का नाम ब्र कोल्हा था जिन्हे भी सवत् १५९५ मे धनपाल कृत भविसयत्तकहा की पाण्डुलिपि भेंट मे दी गयी थी। इसके पूर्व संवत् १५८९ में भी इसी ग्रन्थ की प्रतिलिपि इन्हे भेंटस्वरूप प्राप्त हुई थी।

इस प्रकार और भी पचासो प्रशस्तियाँ उपलब्ध होती है जिनमे धर्मचन्द्र का सारा उल्लेख किया गया है तथा उन्हे या उनके शिष्यों को ग्रन्थो की पाण्डुलिपियाँ भेंट मे दी गयी थी। धर्मचन्द्र अपने युग के बडे भारी सन्त एव प्रभावक आचार्य थे और जिन्होने जैन साहित्य एव संस्कृति की भारी सेवा की थी।

---

१ प्रशस्ति सग्रह – डॉ कस्तूरचन्द कासलीवाल, पृ स ९९।
२ वही, पृष्ठ १२७।
३ वही, पृ १२६।
४ वही, पृ १३८।

भट्टारक ललितकीर्ति

[संवत् १६०३ से १६२२ तक]

भट्टारक धर्मचन्द्र के पश्चात् ललितकीर्ति का भट्टारक गादी पर संवत् १६०३ के चैत्र सुदी ८ के शुभ दिन पट्टाभिषेक हुआ। इस समय इनकी आयु ३२ वर्ष की थी तथा इसके पूर्व २५ वर्ष तक इन्होने भट्टारक प्रभाचन्द्र एवं धर्मचन्द्र के पास रहकर विविध विषयो के ग्रन्थो का उच्च अध्ययन किया था। ये ७ वर्ष की अवस्था मे ही भट्टारक प्रभाचन्द्र के चरणों में आ गये थे। तथा उनके महान् व्यक्तित्व से प्रभावित होकर इन्होने अपने जोवन का निर्माण प्रारम्भ किया था।

ललितकीर्ति संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। राजस्थान के विभिन्न भण्डारो में सस्कृत भाषा मे निबद्ध इनकी विभिन्न कथाएँ मिलती है जिनकी संख्या २० होगी।[1] इन कथाओ के नाम निम्न प्रकार है—

१. अक्षय दशमी कथा।
२. अनन्तव्रत कथा।
३. आकाशपंचमी कथा।
४ एकावली व्रत कथा।
५. कर्मनिर्जरा व्रत कथा।
६ काजिका व्रत कथा।
७ जिनगुण सम्पत्ति कथा।
८. जिनरात्रि व्रत कथा।
९ ज्येष्ठ जिनवर कथा।
१०. दशपरमस्नान व्रत कथा।
११. दशलाक्षणिक कथा।
१२. द्वादश व्रत कथा।
१३. धनकलश कथा।
१४. पुष्पाजलि व्रत कथा।
१५. रक्षाविधान कथा।
१६. रत्नत्रय व्रत कथा।

---

१. राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रन्थसूची, पंचम भाग, पृ सख्या ४७६-८०।

१७. रोहिणी व्रत कथा।
१८ षट्रस कथा।
१९. षोडशकारण कथा।
२० सिद्धचक्र पूजा।

ललितकीर्ति का साहित्य निर्माण एवं लेखन की ओर अधिक ध्यान था। प्रतिष्ठा समारोह में भाग लेना, प्रतिष्ठा विधि आयोजित करवाने मे सम्भवत. इतनी कोई रुचि नही थी इसलिए इनका स्वतन्त्र उल्लेख बहुत कम मिलता है। लेकिन इनके उपदेश एवं प्रेरणा मे विभिन्न ग्रन्थो की प्रतिलिपियाँ हुई जिनका यत्र-तत्र अवश्य उल्लेख मिलता है। संवत् १६१२ मे तत्रकमहादुर्ग (टोडारायसिंह) में वसुनन्दि के उपासकाध्ययन की प्रतिलिपि की गयी और वह आर्य नरसिंघ को भेंट की गयी।[1] इसी तरह संवत् १६१६ में आमेर मे यश कीर्ति के पाण्डवपुराण की पाण्डुलिपि करवाकर मण्डलाचार्य ललितकीर्ति को साह लेजला ने दशलक्षण व्रतोद्यापन के अवसर पर भेंट की।[2]

भट्टारक ललितकीर्ति का कार्यक्षेत्र चाटसू, टोडारायसिंह, आमेर, सागानेर-जैसे स्थानो मे रहा और यही के श्रावको मे साहित्य के प्रति अभिरुचि जाग्रत् करते रहे। पुष्पदन्त के जसहरचरिउ की एक प्रति तमकमहादुर्ग मे तैयार की गयी। उस समय महाराजाधिराज रामचन्द्र का शासन था तथा भट्टारक ललितकीर्ति महाराजा द्वारा सम्मानित जैन भट्टारक थे। यशोधरचरित की प्रति भी ललितकीर्ति के लिए ही लिखायी गयी थी जो आजकल महावीर भवन, जयपुर के सग्रह में सुरक्षित है।

१ प्रशस्ति संग्रह, पृ सख्या ६४।
२ वही, पृ १२७।

भट्टारक चन्द्रकीर्ति

[संवत् १६२२ से १६६२ तक]

भट्टारक धर्मचन्द्र के स्वर्गवास के सात दिन पश्चात् संवत् १६२२ वैशाख वदी अमावस्या के दिन चन्द्रकीर्ति भट्टारक गद्दी पर बैठे। धर्मचन्द्र ने अपने भट्टारक काल मे प्रतिष्ठाओ को अधिक महत्त्व नहीं दिया था किन्तु भट्टारक चद्रकीर्ति ने भट्टारक बनने के कुछ वर्षों पश्चात् ही प्रतिष्ठा समारोहो को प्रोत्साहन देना प्रारम्भ कर दिया। संवत् १६३२ फाल्गुन सुदी २ को भट्टारक चन्द्रकीर्ति के शिष्य आचार्य हेमचन्द्र के सदुपदेश से मन्त्र लिखवाकर प्रतिष्ठित करवाया गया। प्रतिष्ठा करनेवाले श्रावक साह ठाकुरसी एवं इसकी भार्या नेमा रतना थी। यह मन्त्र भुसावहियो के दिगम्बर जैन मन्दिर सवाईमाधोपुर मे विराजमान है। संवत् १६३५ मे आयोजित प्रतिष्ठा समारोह के अवसर पर मन्त्र भी लिखवाकर उइणियारा (टोक) के दिगम्बर जैन मन्दिर में विराजमान किया गया। संवत् १६५१ में भट्टारक चन्द्रकीर्ति ने कितनी ही प्रतिष्ठाओं का आयोजन किया। इस समय आमेर पर महाराज मानसिंह का राज्य था। चारो ओर शान्ति थी। संवत् १६५८ मे एक साथ पाँच प्रतिष्ठाओ का आयोजन रखा गया। प्रतिष्ठा पाठ कचन मे इस प्रतिष्ठा समारोह का निम्न वर्णन मिलता है—

सवत् १६५८ की साल भट्टारक चन्द्रकीर्तिजी के 'बारे मे गाँव ढूढू मे मालजी भौसा प्रतिष्ठा कराई मन्दिर पाँच बणया ढूधू में एक, आरा में एक, चोरु में एक, काला-डेरा मे एक, सीखोली में एक तीसो रुपया बीस लाख लाग्या ज्यो का बेटा मालावत कुहावे छै।

इसके पश्चात् १६६० मे भट्टारक चन्द्रकीर्ति ने पुनः साखूण गाँव मे सामूहिक प्रतिष्ठा का आयोजन किया। प्रतिष्ठा करानेवाले थे श्री मनीराम दोशी। इन्होने ४ मन्दिरो का निर्माण कराया और वही की समाज को समर्पित किया गया। इन मन्दिरो का निर्माण वानरसिंदरी, हरसूली, लखा तथा साखूण में किया गया।

उक्त लेखो के अतिरिक्त स १६६१ मे भी प्रतिष्ठाओ का आयोजन हुआ था। जिसके लेख आदि मन्दिरो मे मिलते हैं। प्रतिष्ठाओ के अतिरिक्त साहित्य लेखन की ओर भी चन्द्रकीर्ति का विशेष ध्यान था। राजस्थान के शास्त्र भण्डारो मे ऐसी बहुत-सी पाण्डुलिपियाँ संग्रहीत हैं जिनका लेखन भट्टारक चन्द्रकीर्ति की प्रेरणा से सम्पन्न हुआ था।

उनके एक शिष्य थे आचार्य शुभचन्द्र जिनको साह नाथू ने यशोधरचरित की प्रति लिखवाकर भेंट की थी।

भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति

[संवत् १६६२ से १६९० तक]

भट्टारक चन्द्रकीर्ति के स्वर्गवास के पश्चात् संवत् १६६२ में देवेन्द्रकीर्ति भट्टारक गद्दी पर बैठे। भट्टारक गादी पर संवत् १६६२ फाल्गुन बदी अमावस का शुभ दिन था। ये २८ वर्ष ७ मास २५ दिन तक भट्टारक गादी पर रहे और इन वर्षों में राजस्थान के विभिन्न भागो मे विहार करके जैन धर्म एव संस्कृति के प्रचार एव प्रसार में योग दिया।

एक जावडी के अनुसार भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति सेठ नवमल साह के पुत्र थे। उनकी माता का नाम सोभा था। बचपन में ही इन्होने संयम धारण कर लिया और पांच महाव्रत, तीन गुणव्रत एव चार शिक्षाव्रत को पालना करने लगे। वे शास्त्रार्थ मे बहुत प्रवीण थे और अपने विरोधियो को सहज ही मे जीत लेते थे। उनका दिव्य मुख था तथा वह सूर्य के समान तेजस्वी लगता था। रत्नो के सिंहासन पर विराजमान होकर जब वे सूत्र एव सिद्धान्त ग्रन्थो पर व्याख्यान देते थे तब गौतम गणधर के समान लगने लगते थे।

एक बार कामदेव ने जब उनके सयम की मन्त्रणा सुनी तो वह उस मंत्रणा को सहन नही कर सका और अपनी पत्नी रति को बुलाकर देवेन्द्रकीर्ति के सयम को भंग करने का आदेश दिया। रति ने अब तक अपनी किसी से भी हार स्वीकार नही की थी इसलिए वह शीघ्र ही उनके पास गयी और विभिन्न साघनो से उनके सयम को भंग करना चाहा। लेकिन देवेन्द्रकीर्ति को वे पराजित नही कर सके और अन्त में कामदेव एव रति को अपनी हार माननी पडी।

देवेन्द्रकीर्ति पहले मुनि थे और बाद में भट्टारक कहलाने लगे थे। उनके संघ मे मुनिगण एव बडे-बडे पण्डित रहते थे। सवत् १६६३ कार्तिक मास में ही वे अपने सघ के साथ मौजमाबाद चले गये और वहाँ सवत् १६६४ मे नानू गोधा द्वारा निर्मित विशाल मन्दिर मे प्रतिष्ठा करायी। यह प्रतिष्ठा अपने समय की सबसे भारी प्रतिष्ठा थी जिसमें देहली बादशाह एव आमेर के महाराजा का पूरा सहयोग था। तीन शिखरोंवाला यह मन्दिर नानू गोधा ने बादशाह अकबर के आदेश से बनवाया था इसलिए इस प्रतिष्ठा मे असख्य द्रव्य खर्च किया गया था। एक उल्लेख के अनुसार इस प्रतिष्ठा में २५ करोड रुपया खर्च हुआ था। इस सब आयोजन मे भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति का प्रमुख हाथ था। वे

प्रतिष्ठा के लिए ही पूर्ण व्यवस्था के लिए वहाँ पधार गये। इस प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित हजारों विशाल मूर्तियाँ न केवल राजस्थान में उपलब्ध होती हैं किन्तु उत्तरी भारत के सभी प्रमुख मन्दिरों में विराजमान हैं।

इस प्रतिष्ठा के पश्चात् देवेन्द्रकीर्ति की कीर्ति वायुवेग से सारे देश में फैल गयी और उन्होंने सारे राजस्थान में धर्म एवं संस्कृति के विकास में अपना बृहद् योगदान दिया।[1]

---

१. जुद्धकरण मयण जब आयो आठ, कर्म्म कटक बल ल्यायो।
देवेन्द्र कीरति गुण गाज्यो सूत्र ध्यान तणो अस्त्र साज्यो।
मुनि समकित खडग संभाल्यो, जेणे मयण तणो दल मारयो।

भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति

[संवत् १६९१ से १७२२ तक]

नरेन्द्रकीर्ति अपने समय के ज़बरदस्त भट्टारक थे। ये शुद्ध बीसपन्थ को माननेवाले थे। ये खण्डेलवाल श्रावक थे और सोगाणी इनका गोत्र था। एक भट्टारक पट्टावली के अनुसार ये सवत् १६९१ में भट्टारक बने थे। इनका पट्टाभिषेक सागानेर मे हुआ था। इसकी पुष्टि बख्तराम साह ने अपने बुद्धिविलास मे निम्न पद्य से की है—

नरेन्द्रकीरति नाम, पट इक सागानेरि मे।
भये महागुन धाम, सोलह से इक्याणवे ॥

ये भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे, जो आमेर गादी के संस्थापक थे। सम्पूर्ण राजस्थान मे ये प्रभावशाली थे। मालवा, मेवात तथा दिल्ली आदि के प्रदेशो मे इनके भक्त रहते थे और जब वे जाते, तब उनका खूब स्वागत किया जाता। एक भट्टारक पट्टावलि[1] मे ननेन्द्रकीर्ति की आम्नाय का जहाँ-जहाँ प्रचार था, उनका निम्न पद्यो में नामोल्लेख किया है—

आमनाइ ढिलीय मण्डल मुनिवर, अवर मरहट देसयं,
भणीये बत्तीसी विख्यात, वदि बैराठस वैसयं ॥

मेवात मण्डल सर्व सुणीए, धरम तिण बांधे धरा।
परसिध पचवारौस मुणिए, खलक वदे अतिखरा ॥
धर प्रकट ढुढा इडर ढाढो, अवर अजमेरो भणा।
मुरधर सन्देश करै महोछा, मड चवरासी घणा ॥
साभरिह सुधान सुद्रग सुणीजै, जुगत द्दहरै जाण ए।
अधिकार ऐती धरा बोपै, विरुद्ध अधिक बखाणए।
नरसाह नागरचाल निसचल बहौत खैराडा वरै।
मेवाड देस चीतौड मोटो, महैपति मगल करे।
मालवै देसि बडा महाजन, परम सुखकारी सुणा।
आग्या सुवाल सुधुम सब विधि, भाव अगि मोटा भणा ॥
माडौर माडिल अजब, बून्दी, परसि पाटण थानयं।
सीलौर कोटो ब्रह्मवार, मही रिणथंभ मानयं ॥

---

१ इसकी एक प्रति महावीर भवन, जयपुर के सग्रहालय में है।

हीरथ चदेरी चाव निश्चल, महंत धरम सुमंडणा।
विडदेत लाखैहेरी विराजै, अधिक उणियारा तणा ॥

दिगम्बर समाज के प्रसिद्ध तेरह पन्थ की उत्पत्ति भी इन्हीं के समय में हुई थी। यह पन्थ सुधारवादी था और उसके द्वारा अनेक कुरीतियों का जोरदार विरोध किया था। बख्तराम शाह ने अपने मिथ्यात्व खण्डन में इसका निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

भट्टारक आवेंरिके, नरेन्द्र कीरति नाम।
यह कुपंथ तिनकै समै, नयो चल्यो अघ धाम ॥

इस पद्य से ज्ञात होता है कि नरेन्द्रकीर्ति का अपने समय से ही विरोध होने लगा था और इनकी मान्यताओं का विरोध करने के लिए कुछ सुधारकों ने तेरहपन्थ नाम से एक पन्थ को जन्म दिया। लेकिन विरोध होते भी नरेन्द्रकीर्ति अपने मिशन के पक्के थे और स्थान-स्थान पर घूमकर साहित्य एवं संस्कृति का प्रचार किया करते थे। यह अवश्य था कि ये सन्त अपने आध्यात्मिक उत्थान की ओर कम ध्यान देने लगे थे तथा लौकिक रूढ़ियों मे फँसते जा रहे थे। इसलिए उनका धीरे-धीरे विरोध बढ़ रहा था, जिसने महापण्डित टोडरमल के समय में उग्र रूप धारण कर लिया और इन सन्तों के महत्त्व को ही सदा के लिए समाप्त कर दिया।

नरेन्द्रकीर्ति अपने समय में आमेर के प्रसिद्ध भट्टारकीय शास्त्र भण्डार को सुरक्षित रखा और उसमे नयी-नयी प्रतियाँ लिखवाकर विराजमान करायी गयी।

'तीर्थंकर चौबीसना छप्पय' नाम से एक रचना मिली है जो सम्भवत: इन्हीं नरेन्द्रकीर्ति की मालूम होती है। इस रचना का अन्तिम पद्य निम्न प्रकार है—

एकादश वर अंग, चउद पूरव सहू जाणउ।
चउद प्रकीर्णक शुद्ध, पंच चूलिका बखाणु ॥
अरि पंच परिकर्म सुत्र, प्रथमहू दिनि योगहू।
तिहना पद शत एक अधिक द्वादश कोटिगहू ॥
आसी लक्ष अधिक बली, सहस्र अठावन पंच पद।
इन आचार्य नरेन्द्रकीरति कहइ, श्रीश्रुत ज्ञान पाठधरीय मुदं ॥

संवत् १७२२ तक ये भट्टारक रहे और इसी वर्ष महापण्डित आशाधर कृत प्रतिष्ठा पाठ की एक हस्तलिखित प्रति इनके शिष्य आचार्य श्रीचन्द्रकीर्ति घासीराम, पं. भीवसी एवं मयाचन्द्र के पठनार्थ भेंट की गयी।

कितने ही स्तोत्रों की हिन्दी गद्य टीका करनेवाले अखयराज इन्हीं के शिष्य थे। संवत् १७१७ में संस्कृत मंजरी की प्रति इन्हें भेंट की गयी थी। टोडारायसिंह के प्रसिद्ध पण्डित कवि जगन्नाथ इन्हीं के शिष्य थे। पं. परमानन्द जी ने नरेन्द्रकीर्ति के विषय मे लिखते हुए कहा है कि इनके समय में टोडारायसिंह में संस्कृत पठन-पाठन का अच्छा कार्य चलता था। लोकशास्त्रों के अभ्यास द्वारा अपने ज्ञान की वृद्धि करते थे। यहाँ शास्त्रों का भी अच्छा संग्रह था। लोगों को जैनधर्म से विशेष प्रेम था। अष्टसहस्री

और प्रमाणनिर्णय आदि न्याय ग्रन्थों का लेखन, प्रवचन, पंचास्तिकाय आदि सिद्धान्त ग्रन्थों आदि का प्रति लेखन कार्य तथा अनेक नूतन ग्रन्थों का निर्माण हुआ था। कवि जगन्नाथ ने श्वेताम्बर पराजय में नरेन्द्रकीर्ति का मंगलाचरण में निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

पदाम्बुज मधुव्रतो भुवि नरेन्द्रकीर्तिगुरो.।
सुवादि पद भृद्बुध प्रकरणं जगन्नाथ वाक्॥

प्रतिष्ठा-कार्य

भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति ने राजस्थान के विभिन्न भागो में विहार करके अनेक प्रतिष्ठा महोत्सव एवं सास्कृतिक समारोह सम्पन्न कराये। सवत् १७१० में मालपुरा (टोंक) में एक बडा भारी प्रतिष्ठा महोत्सव आयोजित किया गया। स्वयं भट्टारक जो ने उसमें सम्मिलित होकर प्रतिष्ठा महोत्सव की शोभा में चार चाँद लगाये। इसके एक पर्व ही में गिरनार सघ गये थे और वहाँ भी पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव आयोजित किया गया था। सवत् १७१६ में ये संघ के साथ हस्तिनापुर गये। इनके संघ मे आमेर एवं अन्य स्थानो के अनेक श्रावकगण थे। वहाँ पर जाने पर उनका भव्य स्वागत किया गया और आमेर के श्रावक द्वारा प्रतिष्ठा महोत्सव आयोजित किया गया था।

भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति के अनेक शिष्य थे। इनमे प. दामोदरदास प्रमुख थे और ये ही इनके पश्चात् भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति के नाम से भट्टारक बने थे। एक शताब्दी मे इनकी शिष्य-परम्परा निम्न प्रकार दी है—
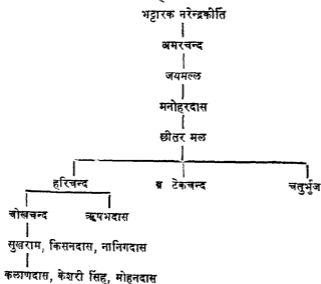
भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति ने जब अपना अन्तिम समय जाना तब उन्हें अपने उत्तराधिकारी के विषय में चिन्ता हुई। वे सांगानेर आये और समाज को बुलाकर अपने विचार व्यक्त किये। इसके पश्चात् वे आमेर आ गये। संघपति विमलदास भी इनके साथ आये। वहाँ पर भी किसी योग्य व्यक्ति की तलाश होने लगी। अन्त में यही निश्चित हुआ कि भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति स्वयं ही जिसका नाम सुझा देंगे उसी को भट्टारक पद पर अभिषिक्त कर दिया जायेगा। उन्होंने दामोदरदास का नाम लिख दिया और बड़े ठाठबाट से उनका महाभिषेक किया गया और वे भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति के नाम से प्रसिद्ध हुए।

भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति

[संवत् १७२२ से १७३३ तक]

भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे। इनकी गृहस्थ अवस्था का नाम दामोदरदास था। ये बड़े भारी विद्वान् एवं संयमी श्रावक थे। प्रारम्भ से ही उदासीन रहकर शास्त्रों के सम्पर्क में ये कब आये इसका तो कोई उल्लेख नही मिलता लेकिन ये उनके प्रिय शिष्यों में से थे और इन पर नरेन्द्रकीर्ति का सबसे अधिक विश्वास था। भट्टारक रतनकीर्ति संवत् १७२२ के श्रावण मास तक भट्टारक रहे। लेकिन उन्हें इसके पूर्व ही अपने जोवन के अन्तिम समय का आभास हो गया था।

जब भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति विहार करते हुए सागानेर आये तो पं. दामोदरदास से कहने लगे कि अब शरीर का अता-पता नही है इसलिए तुम (दामोदरदास) चाहो तो महाभिषेक हो सकता है। अपने गुरु के ऐसे वाक्य सुनकर उन्हें बहुत दुख हुआ तथा वे कहने लगे कि आज पूज्य भट्टारकजी महाराज ऐसी बात क्यों कह रहे है। अभी आपकी आयु काफी शेष है और गुरु महाराज का तो शरीर पर भी अधिकार है। फिर भी वह चार महीने पश्चात् भट्टारक पद पर अभिषिक्त हो सकेगा ऐसा पं दामोदरदास ने अपने गुरु से निवेदन किया। अपने शिष्य के विनयपूर्ण वचन सुनकर इन्हें काफी सन्तोष हुआ और वे वहाँ से आमेर चले आये।

आमेर मे उनके साथ संघपति विमलदास भी आये। इस विषय में संघपति से फिर चर्चा हुई। वहाँ पर उन्होने भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति से पुन अपने हृदय की बात कहने के लिए निवेदन किया। भट्टारकजी ने यही कहा कि महाभिषेक करने की उनकी हार्दिक इच्छा है इसलिए यदि कोई योग्य विद्वान् पण्डित अथवा विद्याशील व्यक्ति हो तो इसको भट्टारक गादी पर बिठवाया जा सकता है। संघपति विमलदास ने जब ऐसे वाक्य सुने तो उन्होने तत्काल ही सागानेर प. कल्याण को पत्र लिखा कि भट्टारकजी अपने शरीर को समाप्त होनेवाला मान रहे है इसलिए जिसके लिए उनका सुझाव मिले उसे ही भट्टारक पद दिया जा सकता है। प. कल्याण ने बहुत सोच-विचार कर लिखा कि आजकल कोई पण्डित नही है तथा भट्टारकजी के पत्र से ऐसा ही आभास मिलता है कि भट्टारक पद पर पण्डित दामोदरदास को दिया जाना चाहिए। इसके पश्चात् सभी प्रतिष्ठित सज्जन जिनमें संघपति विमलदास, पं कल्याण, चन्द्रदेव, उदयराज, जीवराज, कल्याण सोगाणी आदि के नाम उल्लेखनीय है, मिलकर भट्टारकजी के पास आये।

संघपति विमलदास ने भट्टारकजी से अपने उत्तराधिकारी के विषय में संकेत देने के लिए निवेदन किया तथा कहा कि वर्तमान में तो पं. दामोदरदास से अच्छा कोई पण्डित नही है । यह सुनकर नरेन्द्रकीर्ति हँस दिये तथा कहने लगे कि जैनधर्म तो गच्छ के सहारे है और इन पण्डितों मे जैनधर्म के प्रति अपार श्रद्धा है । इसके पश्चात् सभी ने यह निश्चय किया कि पं. दामोदरदास को शीघ्र ही पत्र लिखकर बुलाया जाये । पत्र लेकर मनराम को भेजा गया जो तत्काल सागानेर जाकर पं दामोदरदास को आमेर ले आये । भट्टारक महाभिषेक की बात नगर-नगर मे फैल गयी और लोग इसे सुनकर हर्षित हो गये । पं. दामोदरदास अकेले ही नही आये किन्तु अपने साथ सांगानेर के प्रमुख सज्जनो को भी लाये थे । इनमे एक अजयराज चौधरी ने जो सागानेर के सिरताज थे । इसके अतिरिक्त शम्भुराम छाबडा, ऋषभदास वैद, लूणकरण, राइसिंह, संघ हरिराम, प्रेम ठोलिया, उदैराज सोगानी आदि प्रतिष्ठित व्यक्ति भी आमेर आकर उत्सव की शोभा बढाना चाहते थे ।

संवत् १७२८ की श्रावण शुक्ला अष्टमी मंगलवार को महाभिषेक समारोह आयोजित किया जाना निश्चित हुआ । दोपहर के पश्चात् संघपति विलदास प. दमोदर-दास के साथ आये । तत्काल अभिषेक की सामग्री मँगायी गयी । स्वर्णकलशो मे जल भरा गया । उनमे अखण्ड अक्षत डाले गये । सर्वप्रथम केशर एव हल्दी से युक्त जल से स्वयं भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति का अभिषेक किया गया तथा उन्होने सुरेन्द्रकीर्ति को अपना पट्ट शिष्य घोषित किया । सुरेन्द्रकीर्ति ने सर्वप्रथम पच महाव्रतो को जीवन मे उतारने का नियम लिया । इसके पश्चात् नरेन्द्रकीर्ति ने अपने शिष्य सुरेन्द्रकीर्ति को अपना आसन दिया तथा मन्त्र पढ़कर उनके सिर पर हाथ रखा और भविष्य मे भगवान् महावीर के सिद्धान्तो को जन-जन तक पहुँचाने की प्रतिज्ञा की । तथा यही आशीर्वाद दिया कि जगत् मे जैनधर्म का विस्तार करो जिससे इस जगत् को दुखो से छुटकारा मिल सके । सुरेन्द्रकीर्ति ने संयम वृत ग्रहण किया । इसके पश्चात् सागानेर एवं आमेर के प्रतिष्ठित सज्जनो ने सुरेन्द्रकीर्ति का अभिषेक किया एव भट्टारक पट्टावली में इसका निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

> रतनजडि हेम संकुच महा, पुरिषा मिली पंचमु हाथी करे
> सगही विमलेस मुनि कवलागिर, चन्द्रसेठी करि चाव मने ।
> अजैराजर रायसिंह सरोमणि धरमचंद्र अभैराज धने ।
> रस पंच भस्या अति कुंदन, ढाले मसताकि साधु तंण ।
> थिर भंमण पार नरिंद तणो, सुरिइन्द्र भट्टारिक साध भण ।
> कलसा अवशेष कीयौ मुनि उपरि आपण श्री सुरराज अयौ ।
> अति उदव एम हुवा, भ्रव मंडल में सुरभिषि भयो ।

अभिषेक के पश्चात् सर्वप्रथम सुरेन्द्रकीर्ति ने अपने अमृतमय वचनो से सबको सम्बोधित किया और आत्मविकास करने की सबको प्रेरणा दी । भट्टारकजी की उस

समय शोभा ही निराली लगने लगी थी। मद-मोह एवं मिथ्यात्व से रहित साधु लगने लगे। ज्ञान में वे गौतम के समान दिखाई दिये तथा उनका शरीर तेजयुक्त हो गया जिनके दर्शन मात्र से ही सबका मन गलित हो जाता था।

उस समय आमेर नगर की शोभा भी निराली ही बन गयी थी। आमेर दुर्ग उस समय राजस्थान में विख्यात था। मिर्जा राजा जयसिंह इसके शासक थे। श्री सुरेन्द्रकीर्ति भट्टारक थे और संघपति विमलदास सब श्रावकों के शिरोमणि थे। नगर में भगवान् नेमिनाथ का मन्दिर सबसे बडा था जिसकी श्रावको द्वारा तीनों काय बन्दना की जाती थी। यही मन्दिर भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति का प्रमुख केन्द्र था।

सुरेन्द्रकीर्ति की सेवा मे राजस्थान के एवं अन्य प्रदेशों के श्रावक आते रहे और उनमे अपने-अपने नगर एव ग्रामो को पवित्र करने की प्रार्थना करने लगते थे। वे जहाँ भी विहार करते कितने ही प्रकार के महोत्सव आयोजित किये जाते। स्त्रियाँ मंगलगीत गाती एवं भावकगण साष्टाग प्रणाम के साथ ही चरणस्पर्श करते एवं आशीर्वाद की याचना करते। जब महामुनि बाहर के लिए निकलते तो एक अपूर्व शोभायात्रा होती। उन पर पुष्पो की वर्षा की जाती एवं उनके चरणो में श्रावकगण अपने आपको न्योछावर करने के लिए तत्पर रहते। वे जैनो के आध्यात्मिक बादशाह थे जिनको सभी नर-नारी बिना किसी भेद-भाव के पूजते थे।

पतिमाह जैनि बदे प्रथी दुख दालिद केता हरण।
सुरइंद व्रति सुणत सहु सकल संग मंगल करण ॥

इस प्रकार सुरेन्द्रकीर्ति का यश चारो ओर फैल गया। उनके गीत गाये जाते और लोग उन्हे तरह-तरह की उपाधियो से विभूषित करके उनका गुणानुवाद करते। एक कवि के शब्दो मे देखिए—

छन्द वरसावल

मेट मरजादरा, दृढते दानरा
गोरखे आनरा, रखणै भानरा।
मेटीया मंदरा, आदि खेदूरा
जेनिरा बंदरा, जोडि सुरिंदरा
सील सन्तोषरा, भूप वदैभरा
ततधारीषरा, व्रिदवाह वरा।

भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति भट्टारक पद पर केवल ११ वर्ष तक रहे लेकिन इतने अल्प समय में ही उन्होने सारे उत्तर भारत में अपना अच्छा प्रभाव जमा लिया। इन्होंने दो प्रतिष्ठाओ मे विशेष रूप से भाग लिया जो एक सवत् १७२९ में तथा दूसरी संवत् १७३२ में सम्पन्न हुई थी। दोनो ही के प्रतिष्ठाकारक मन्त्रहीन हरिराम थे।

भट्टारक जगत्कीर्ति

[संवत् १७३३ से १७७१ तक]

जगत्कीर्ति भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे। संवत् १७३३ में इन्हें भट्टारक गादी पर अभिषिक्त किया गया। भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति की मृत्यु के पश्चात् जब उनके शिष्य की तलाश हुई तो आमेर एवं सागानेर की जैन समाज ने जगत्कीर्ति को भट्टारक पद समर्पित करने का निश्चय किया। इस शुभ कार्य में रत्नकीर्ति, महीचन्द्र एवं यशकीर्ति ने मिलकर जगत्कीर्ति को अपने समय की सबसे गौरवशाली भट्टारक गादी समर्पित किया। जगत्कीर्ति के भट्टारक बनते ही चारो ओर हर्ष छा गया। श्रावकगण उन्हे जैन समाज मण्डल एवं गौतम गणधर के समान महान् तपस्वी एवं ज्ञानी मानने लगे। एक पट्टावली मे भट्टारक जगत्कीर्ति के इस महाभिषेक का निम्न प्रकार वर्णन किया है—

> अती उछाह आनन्द कीया बढिउ हरिष अपार।
> गछपति गुद श्रीय जगतकृति, सबै जैनि सिरदार ॥
> जैनि मंडण थापे सिरताज, महिमा यत्र बडौ मुनिराज।
> गौतम लिसौ तपै श्री जगगुर प्रतपै जगतकीरति पाटोधर ॥

जगत्कीर्ति विद्या वारिधि थे। महान् तपस्वी एवं संयमी थे। अपरिग्रह व्रत धारक थे। जब आसन धारण कर अडिग आँखो से सामायिक करने बैठते थे तो वे महान् तपस्वी लगते थे। मन्त्र विद्या के आराधक थे तथा अमृतवाणी के प्रस्तोता थे।

जगत्कीर्ति का महाभिषेक आमेर नगर में हुआ था। विमलदास ने उस समय जैन समाज का नेतृत्व किया और पाँच स्वर्ण कलशो में उनका अभिषेक किया। भट्टारकजी खण्डेलवाल जाति में उत्पन्न हुए थे और साखोट्या उनका गोत्र था। उनके महाभिषेक के दिन श्रावण बदी पंचमी संवत् १७३३ का शुभ दिन था।

जगत्कीर्ति के कितने ही विशेषण थे। इनमे 'सन्तुष्टीकृत भव्यजनवृन्द' स्वपर पवित्रीकृते ललायमण्डल, निर्बाधवाक्सुरपीयूख उल्लेखनीय है। भट्टारक बनते ही सर्वप्रथम इन्होने जयपुर राज्य के विभिन्न नगरो में विहार किया। संवत् १७३६ आषाढ बदी १२ गुरुवार के दिन जब ये कामा नगर में पहुँचे तो पंचास्तिकाय ग्रन्थ आचार्य श्री दयाभूषण के शिष्य पं. हीरानन्द को भेंट किया। संवत् १७४१ में करवरनगर में एक विशाल प्रतिष्ठा महोत्सव का आयोजन किया गया। पं. सोनपाल छाबड़ा ने प्रतिष्ठा

कार्य सम्पन्न कराया। इस प्रतिष्ठा मे भट्टारक जगत्कीर्ति प्रमुख अतिथि थे। संवत् १७४५ में बणायणा ग्राम मे भट्टारकजी के एक शिष्य ब्र नाथूराम के छोटे भाई झगडू के लिए षट्कर्मोपदेश रत्नमाला की एक पाण्डुलिपि सभी श्रावको ने मिलकर लिखवायी और उसे ब्र. नाथू को भेंट की गयी। ग्रन्थ की प्रशस्ति में भट्टारक जगत्कीर्ति के लिए निम्न शब्दो का प्रयोग किया गया है—

'तत्पहोदयाद्रिदिनमार्ण गाभीर्यधैर्यादार्य पाण्डित्य सौजन्य
प्रमुख गुणमणमणि रोहिणीक्षितिभृत भट्टारकश्री जगत्कीर्ति'

भट्टारक जगत्कीर्ति की अध्यक्षता मे चाँदखेडी मे संवत् १७४६ में एक विशाल प्रतिष्ठा महोत्सव का आयोजन किया गया। प्रतिष्ठा मे जगत्कीर्ति को सादर एवं श्रद्धा के साथ आमन्त्रित किया गया। १८वी शताब्दी मे होनेवाली प्रतिष्ठाओ मे चाँदखेडी की प्रतिष्ठा का बडा महत्त्व है। एक प्रतिष्ठा पाठ के अनुसार इसमें ११ भट्टारक सम्मिलित हुए थे और उन सबसे प्रमुख भट्टारक जगत्कीर्ति थे। किशनदास बघेरवाडा प्रतिष्ठा-कारक थे। हाथियोवाला रथ था और जिसके सारथी थे, कोटा और बूँदी दरबार से स्वयं चलाया था। एक यती द्वारा जब रथ को मन्त्र द्वारा कील दिया गया तो भट्टारक जगत्कीर्ति ने ही उसका प्रबन्ध किया था। इस प्रतिष्ठा महोत्सव मे करीब ५ लाख रुपये खर्च हुए थे ऐसा उल्लेख मिलता है।

"सवत् १७४६ के साल भट्टारक जगत्कीर्ति के बारे मे चादखेडी मे किशनराम बघेरवाला भगवान को रथ हाथ चलाओ। कोटा बूँदी का महाराज दोन्यू लेर चाल्या। सभा सहित भट्टार ११ जदि। जती चालता रथ कूँ बंद कर दीनू और कही यहाँ की पूजा करया रथ चाले लो तदि आचार्य या कही हाथ्या ने खोल दी। रथ बिना हाथ्या ही चालसी। हाथी खोल्या पाछे रथ पाव कोष चाल्यो और जती न कुहवाई अब थारी सामर्थ दिखा तद आचार्य के पगा पड्या प्रतिष्ठा मे रुपया पाँच लाख लाग्या।"

भट्टारक जगत्कीर्ति के कितने ही शिष्य थे। इनमे प्रमुख थे पण्डित नेमीचन्द। इनके शिष्य डूगरमी, रूपचन्द, लिखमीदास एव दोबराज थे। पं. नेमीचन्द के हरिवश-पुराण की रचना मे अपने गुरु का अच्छा उल्लेख किया है जो निम्न प्रकार है—

भट्टारक सब उपरे जगतकीर्ति जग जोति अपारतौ।
कीरति चन्द्र दिसि बिस्तरी पाँच आचार पालै सुभसारतौ।
प्रयत्त मै जीतै नही चहूँ दिसि मैं सब ताकी आणतौ।
खिया खडग स्यो जीतिया, चौराणवै पट नायक मागतौ।

एक अन्य पट्टावली के अनुसार उनके प्रमुख शिष्यो मे दीवराज और छीतरमल थे। छीतरमल के शिष्य हीरानन्द एव उनके शिष्य चोखचन्द थे।

सवत् १७६१ में करवर (हाडौती) नगर मे फिर एक विशाल प्रतिष्ठा महोत्सव का आयोजन सम्पन्न हुआ। प्रतिष्ठा करानेवाले श्रावक सोनपाल काबरा थे जो टोडाराय-सिंह के रहनेवाले थे। प्रतिष्ठा मे चारो ही सघ एकत्रित हुए थ। इस प्रतिष्ठा में यतियो

ने अपनी मन्त्र शक्ति के द्वारा खाद्य पदार्थों को आकाश में उड़ा दिया। इसके उत्तर में भट्टारक जगत्कीर्ति ने अपने कमण्डलु में से पानी छिड़ककर विघ्न को शान्त किया तथा वह सामग्री भी आकाश से नीचे आ गिरी। इससे जगत्कीर्ति की चारों ओर प्रशंसा होने लगी और लोग उनके भक्त बन गये।

भट्टारक जगत्कीर्ति के समय आमेर राज्य की राजधानी थी। नगर व्यापारिक मण्डी थी। सामान्य वस्तुओं के भण्डार भरे रहते थे। सब जातियाँ सुखी एवं प्रसन्न थी। आमेर जैन समाज का केन्द्र था। भट्टारकों का समाज पर पूर्ण प्रभाव था तथा कोई भी धार्मिक अनुष्ठान, प्रतिष्ठा आदि उनके मार्गदर्शन के बिना नहीं हो सकती थी।

जगत्कीर्ति संवत् १७७० तक भट्टारक रहे। २६ वर्ष के अपने भट्टारक जीवन मे उन्होंने इतना अधिक यश का अर्जन कर दिया था कि उनको चारो ओर जयघोष से आकाश गुंजित रहने लगा था। उनका राज्य शासन मे भी विशेष जोर था और महाराज सवाई जयसिंह द्वारा उनका समय-समय पर सम्मान होता रहता था। वे जहाँ भी विहार करते गाँव एवं नगर के झुण्डो के झुण्ड नर-नारी उनका स्वागत करते थे। मन्त्र शास्त्र के भो वे अच्छे ज्ञाता थे ओर इसमें भी उनकी चारो ओर धाक रहती थी। आमेर, साँगानेर में उनकी गादियाँ थी लेकिन ये राजस्थान एवं देश के अन्य भागो में विहार किया करते थे।

---

१ संवत १७६१ के साल भट्टारक जगत्कीर्ति के बारे में गाँव करबर हाडाती का मुलक में सोनपाल छाबड़ा टोडारायसिंह का चौधरी प्रतिष्ठा कराई चार सघ मेला हुआ। जला माल उठायो तब चौधरी कही महाराज माल अटूट करयो। पण जती लोग माल उड़ायो मगावा छे तद आप कमण्डल के छाँटा दीना तद चाल्यो नहीं आकाश में लख्यो करयो फेर जोर चाल्यो नहीं। प्रतिष्ठा में रुपया दस लाख लाग्या।

भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति द्वितीय

[संवत् १७७१ से १७९२ तक]

देवेन्द्रकीर्ति (द्वितीय) भट्टारक जगत्कीर्ति के स्वर्गवास के पश्चात् संवत् १७७० की माह वदी ११ को आमेर में भट्टारक गादी पर बैठे। उस समय आमेर अपने पूर्ण वैभव पर था और महाराजा सवाई जयसिंह आमेर के शासक थे। देवेन्द्रकीर्ति खण्डेलवाल जाति के श्रावक थे और ठोलिया इनका गोत्र था। जगत्कीर्ति अपने समय के अत्यधिक प्रतिभाशाली भट्टारक थे तथा उनका यश एव कीर्ति चारो ओर फैली हुई थी। ऐसे यशस्वी भट्टारक का उत्तराधिकारी होना ही देवेन्द्रकीर्ति के प्रखर व्यक्तित्व का द्योतक है।

देवेन्द्रकीर्ति का महाभिषेक जिस शानदार ढग से हुआ वह किसी सम्राट् के राज्याभिषेक से कम नही था। एक सप्ताह पूर्व ही आमेर को सजाया जाने लगा था। तोरण द्वार बाँधे गये थे और मन्दिरो मे विशेष उत्सव आयोजित किये गये थे। आमेर, सागानेर, मौजमाबाद, साँभर, नरायणा, चाकसू, टोडारायसिंह-जैसे अनेक गाँवो एवं नगरो में सहस्रो की सख्या मे श्रावक एवं श्राविकाएँ तथा पण्डितगण सम्मिलित हुए थे। अनेक विद्वानो को विशेष रूप से सादर आमन्त्रित किया गया था। वैसे भट्टारक जगत्कीर्ति के सघ मे भी अनेक ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारिणियाँ, पण्डितगण अच्छी संख्या मे थे। माह वदी ११ को शुभ मुहूर्त मे उनका पट्टाभिषेक हुआ। नौबत बजने लगे और जनता ने भगवान् महावीर की जय, जैनधर्म की जय, भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति की जय के नारो से आकाश गुँजा दिया। चारो ओर से भेंट आना प्रारम्भ हुआ और सभी ने श्रद्धानुसार उनके चरणो में अपना भाग अर्पित किया। देवेन्द्रकीर्ति द्वारा पूर्ण संयम एवं महाव्रतो को स्वीकार करने की प्रतिज्ञा ली गयी।

सर्वप्रथम उन्होने अपने क्षेत्र का और फिर राजस्थान का विहार किया। सर्वप्रथम इनके भट्टारक बनने के पश्चात् सवत् १७७३ की फाल्गुन सुदी ३ को घूलेटनगर में एक प्रतिष्ठा का आयोजन किया गया। यह प्रतिष्ठा सघी हृदयराम द्वारा करायी गयी थी और भट्टारक जगत्कीर्ति के शिष्य पं. खोवसीजी ने प्रतिष्ठा कार्य करवाया था।

सवत् १७८० की ज्येष्ठ सुदी ३ रविवार को आमेर के पास खोहरा में साह कुँवरपाल ने भट्टारक श्रेयान्सनाथ के चैत्यालय का निर्माण करवाया। इस प्रतिष्ठा कार्य की प्रेरणा आचार्य चन्द्रकीर्ति ने की थी। उस समय भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति (द्वितीय) का

शासन था और उन्हें 'तत्पट्टोदयाद्रिप्रभाकर भट्टारकेन्द्र भट्टारक श्रीदेवेन्द्रकीर्ति देवा:' इन शब्दों में स्मरण किया गया है।[1]

संवत् १७८३ वैशाख सुदी ८ का दिन भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के जीवन में विशेष महत्त्व का रहा। इस दिन उन्होने बाँसखोह में एक बड़ी भारी प्रतिष्ठा का कार्य सम्पन्न कराया। संवत् १७४६ में चाँदखेडी में होनेवाली राजस्थान की यह सबसे बडी प्रतिष्ठा थी जिसमें हजारों मूर्तियो की प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई। इस प्रतिष्ठा महोत्सव मे प्रतिष्ठापित सैकड़ो मूर्तियाँ आज राजस्थान के विभिन्न मन्दिरो में मिलती हैं। बाँसखोह जयपुर राज्य के अधीन ठिकाना था जिसके शासक का नाम ही चूहड़सिंह था। इस प्रतिष्ठा को संघी श्री हृदयराम से उनके परिवार ने सम्पन्न करवाणी थी। इन्ही हृदयराम ने संवत् १७७३ में भी एक प्रतिष्ठा का आयोजन करवाया था। एक प्रतिष्ठा पाठ के अनुसार इस प्रतिष्ठा को सम्पन्न करवाया।

देवेन्द्रकीर्ति द्वितीय साहित्य-सेवी भी थे तथा विद्वानों से इनका खूब सम्पर्क था। पं. लिखमीराम इनके शिष्य थे और इन्ही के पास खुशालचन्द्र काला ने कुछ ज्ञान प्राप्त किया था। खुशालचन्द्र ने सवत् १७८० में हरिवंशपुराण की रचना भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के शासन मे की थी जिसका उल्लेख उन्होने निम्न प्रकार किया है—

कुदकुंद मुनि की सु आमनाय माँहि,
भये देवेन्द्रकीर्ति सुपट्टासर पायके।
जिन सु भये तहाँ नाम लिखवीदास,
चतुर विवेकी श्रुतज्ञान कू उपाय के।
तिहने पास मै भी कछु आल सौ प्रकाश भयो,
फोर्ट मे बस्यो जिहानाबाद मध्य आइके।

सवत् १७८५ मे पौष शुक्ला चतुर्थी सोमवार को जिनसेनाचार्य कृत हरिवंश पुराण की झिलाय नगर मे मनसाराम सोगाणी ने प्रतिलिपि की थी। इसकी प्रशस्ति में भट्टारक चन्द्रकीर्ति द्वितीय के लिए निम्न विशेषणो का प्रयोग किया गया है—

"तत्पट्टोदयाद्रि-दिनमणि निर्बन्ध सम्यो गद्य पद्य
विद्याधरी परिरम्भ—
संतर्ज्जित मूखिप्रतापबलः निजश्रमाबलिल निर्द्धूत पापपंक.
भट्टारकेन्द्र भट्टारक श्री देवेन्द्रकीर्ति"

देवेन्द्रकीर्ति २२ वर्ष क़रीब भट्टारक और सन् १८९२ तक जीवित रहकर देश एव समाज की सेवा करते रहे।

---

१. हरिवंशपुराण प्रशस्ति संग्रह, डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, पृ. संख्या २७६-७७।

भट्टारक महेन्द्रकीर्ति

[संवत् १७९२ से १८१५ तक]

भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति द्वितीय के स्वर्गवास के पश्चात् १७९२ मे महेन्द्रकीर्ति भट्टारक गद्दी पर पदस्थ हुए। उस दिन पौष सुदी १० का दिन था। इनका महाभिषेक देहली में हुआ था। जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि भट्टारकों के प्रभाव में और भी वृद्धि होने लगी थी और देहली निवासियो में इन भट्टारको के प्रति श्रद्धा हो गयी थी।

महेन्द्रकीर्ति का ग्रन्थ प्रशस्तियो मे एवं शिलालेखो में विभिन्न विशेषणो के साथ उल्लेख मिलता है। 'मुनिसुव्रतपुराण' की एक प्रशस्ति में इन्हे 'भट्टारक शिरोरत्न' की उपाधि से स्मरण किया गया है। एक अन्य प्रशस्ति में सकल भट्टारक शिरोमणि भट्टारक श्री महेन्द्रकीर्ति के रूप मे इनका उल्लेख मिलता है। महेन्द्रकीर्ति ने प्रतिष्ठाओ को विशेष प्रोत्साहन नही दिया और साहित्य लेखन एव उसके प्रचार को अपनी गतिविधियो का माध्यम बनाया। सौभाग्य से इन्हे पं दयाराम सोनी मिल गये जो नरायण के निवासी थे। ये ग्रन्थो की प्रतिलिपि करने मे अत्यन्त निष्णात थे। इनके द्वारा लिखे हुए पचासो ग्रन्थ आज राजस्थान के विभिन्न शास्त्र भण्डारो मे संग्रहीत है। पाण्डे जिनदास कृत जम्बूस्वामीचरित्र की प्रशस्ति मे प. दयाराम ने भट्टारक महेन्द्रकीर्ति को 'पट्टोदयाद्रि-दिनमणिप्ररूप. भट्टारक श्री महेन्द्रकीर्ति' लिखा है और अपने आपको 'तदाजानुवर्णी पं. दयारामेन' लिखकर अपना परिचय दिया है। इन्ही दयाराम ने खड्गसेन के त्रिलोकदर्पणकथा, प खुशालचन्द्र के यशोधर चरित्र एव सम्यक्त्व कौमुदी भाषा चौपई एव नेमिचन्द के हरिवशपुराण का ग्रन्थो की प्रतिलिपियाँ करके भट्टारक महेन्द्रकीर्ति को दी थी। इससे ज्ञात होता है कि महेन्द्रकीर्ति की साहित्य निर्माण मे अधिक रुचि थी।

महाराजा सवाई जयसिंह के पश्चात् महाराजा ईश्वरीसिंह (सन् १७४३-५०) एवं महाराज सवाई माधोसिह (सन् १७५०-१७६७) तक जयपुर के शासक रहे। सवाई माधोसिंह के शासनकाल मे जयपुर मे महाकवि दौलतराम एव महापण्डित टोडरमल जैसे विद्वान् हुए जिन्होने जैन समाज एवं साहित्य की अपूर्व सेवा की थी। टोडरमलजी का पहले तो भट्टारको से मधुर सम्बन्ध था लेकिन बाद मे ये इनके घोर विरोधी हो गये। जयपुर में तेरापन्थ का विकास इन्ही के विरोध का परिणाम था। भट्टारक

महेन्द्रकीर्ति ने भी इस वातावरण के अनुसार साहित्य प्रचार का कार्य प्रारम्भ कर दिया और इस कार्य की ओर विशेष प्रवृत्त हो गये।

महेन्द्रकीर्ति के संघ में मुनि एवं आचार्य भी रहते थे। एक प्रशस्ति में उनके संघ में आचार्य ज्ञानकीर्ति, आचार्य सबलकीर्ति एवं पं. खेतमी का नामोल्लेख किया है।

भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्ति

[सवत् १८१५ से १८२२ तक]

भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्ति का महाभिषेक १८१५ मे जयपुर में ही हुआ। भट्टारक गादी का प्रमुख केन्द्र जयपुर का दिगम्बर जैन मन्दिर पाटोदी था इसलिए इसी मन्दिर में उनका समाज की ओर से अभिषेक किया गया। लेकिन सं. १८१५ से २२ तक का समय महापण्डित टोडरमल के जीवन के उत्कर्ष का समय था। इसलिए क्षेमेन्द्रकीर्ति अपने समय मे कोई उल्लेखनीय कार्य नही कर सके। फिर भी एक प्रशस्ति में इन्हे पट्टोदयाद्रिसहस्ररश्मिसन्निभ कहा गया है। संवत् १८२० में श्रावकाचारकर्म की प्रतिलिपि उनके पण्डित के पठनार्थ की गयी थी।

भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्ति के समय मे जयपुर मे तेरापन्थ का बहुत जोर था। चारो ओर पण्डित टोडरमल द्वारा लिखित ग्रन्थो का अध्ययन होता था। संवत् १८२१ में जयपुर मे इन्द्रध्वज पूजा का विशाल आयोजन हुआ था। लेकिन भाई रायमल्ल की पत्रिका मे भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्ति का उल्लेख नही होना बताता है कि समाज का एक वर्ग इनका पूर्णरूप से विरोधी विचारधारा का बन गया था। लेकिन इससे भट्टारक संस्था पर कोई तत्काल प्रभाव नही पडा। उस समय जयपुर मे बख्तराय साह-जैसे विद्वान् थे जो भट्टारक सस्था के समर्थक थे। इन्होने मिथ्यात्व खण्डन मे तेरहपन्थ की कटु आलोचना की है। यह ग्रन्थ भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्ति के समय (स. १८२१) में ही लिखा गया था।

भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति

[संवत् १८२२ से १८५२ तक]

जयपुर में महाभिषेक होनेवाले भट्टारकों में सुरेन्द्रकीर्ति दूसरे भट्टारक थे। भट्टारक पट्टावली मे इनके महाभिषेक की तिथि संवत् १८२२ फाल्गुन सुदी ४ है। किन्तु तत्कालीन जयपुरिया विद्वान् बखतराम साह ने बुद्धि विलास में पट्टाभिषेक का संवत् १८२३ लिखा है। सुरेन्द्रकीर्ति खण्डेलवाल जाति के श्रावक थे तथा पहाड़िया इनका गोत्र था। ये भट्टारक गादी पर संवत् १८५२ तक रहे।

सुरेन्द्रकीर्ति जब भट्टारक गादी पर बैठे तब महापण्डित टोडरमल की सारे जयपुर नगर में बडी भारी प्रतिष्ठा थी। तथा तेरहपन्थवाले श्रावकों का चारो ओर बहुत जोर था। ऐसे समय मे भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति का उन्हीं के नगर मे पट्टाभिषेक होना भी आश्चर्य-सा लगता है। लेकिन इससे यह भी लगता है कि भट्टारक सुरेन्द्र-कीर्ति विद्वत्ता एव सयम दोनो ही दृष्टि से प्रशसनीय व्यक्तित्व के साधु थे। भट्टारक बनते ही इन्होने सारे प्रदेश में विहार करना प्रारम्भ किया और जबसम्पर्क के माध्यम से चारों ओर अपने श्रद्धालु भक्त करने लगे। सवत् १८२४-२५ में महापण्डित टोडरमल का स्वर्गवास हो गया। इससे तेरहपन्थ समाज को बडा धक्का लगा और उसके काम में गहरा गतिरोध पैदा हो गया।

दूसरी ओर भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति अपने समाज का पूरा प्रभाव स्थापित करने में लगे हुए थे। इसलिए सवत् १८२६ मे इन्होने सवाई माधोपुर में एक बृहद् पंचकल्याणक महोत्सव को सानन्द सम्पन्न कराया। इस प्रतिष्ठा मे देश के विभिन्न भागो के हजारों प्रतिनिधियो ने भाग लिया और महोत्सव को सफलता मे अपना महत्त्वपूर्ण योग दिया। एक प्रतिष्ठा-पाठ के अनुसार इस प्रतिष्ठा समारोह में ५ लाख रुपये खर्च हुए थे। संवत् १७८३ के पश्चात् जैनो का ऐसा विशाल समारोह प्रथम बार हुआ था। जयपुर में संवत् १८२१ मे आयोजित इन्द्रध्वज पूजन भी सम्भवत इससे बडा समारोह नही होगा। इस प्रतिष्ठा में देश के विभिन्न भागों में हजारो मूर्तियाँ प्राप्त हुई है और सबका भगवान् बनाकर विभिन्न मन्दिरों में विराजमान किया गया।

संवत् १८४१ में फाल्गुन सुदी ६ के शुभ दिन भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति अपने संघ के साथ खण्डार पधारे। वहाँ के मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाकर एक बड़ा भारी मेला भरवाया। जीर्णोद्धार करवाने में महाराज सवाई प्रतापसिंह के खवास रामकँवर,

प्रधान दीवान रामचन्द्र एवं उनके परिवारवालो सभी का योग रहा। इसके पूर्व संवत् १८३४ मे घूलेट में इन्ही के उपदेश से एक पचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव का आयोजन हुआ था।[१] संवत् १८५१ वैशाख सुदी १४ सोमवार के दिन वालन्दा नगर में छाबडा गोत्रार्य साहू उदयराम एवं उनके पुत्र सम्भुराम ने प्रतिष्ठा करायी।[२]

एक प्रशस्ति मे सुरेन्द्रकीर्ति की निम्न विशेषणो के साथ स्तुति की गयी है—

'तत्पट्टायागमार्तण्ड' 'चण्डोद्योतित' 'परवादिपचानन'[३]

एक अन्य प्रशस्ति में[४] इन्हे सर्वभौमाना 'पट्टालंकार ललायमान' की उपाधि से विभूषित किया गया। सुरेन्द्रकीर्ति के प्रधान शिष्य पं. चोखचन्द्र थे। इन्हे भी 'परवादिकुम्भस्थलविदारणे मृगेन्द्र स्ववचन-चातुरीनिरस्तीकृत-मिथ्यात्वादय'—विशेषणों के साथ सम्बोधित किया गया।

सुरेन्द्रकीर्ति ने अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी के विकास में प्रारम्भ से ही ध्यान दिया और समय-समय पर वहाँ जाकर क्षेत्र के विकास मे अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति संस्कृत एव हिन्दी के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इनकी अब तक निम्न लघु रचनाएँ प्राप्त हो चुकी है—

१. सम्मेद शिखर पूजा[५]
२. पंचकल्याणकविधान[६]
३. पचणायचतुर्दशी व्रतोद्यापन[७]
४ जम्बूदीप प्रज्ञप्ति-संग्रह[८]
५. चाँदनपुर महावीर पूजा

जम्बूदीप प्रज्ञप्ति-संग्रह मे इन्होने अपना परिचय निम्न प्रकार दिया है—

श्रीमत्क्षेमेन्द्रकीर्ति भंवर मुनिवर श्रेष्ठशिष्यस्य नित्य
जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति प्रवर रचना रिप्पणीवद्विधातु।

भट्टारक गादी पर बैठने के पश्चात् इन्होने अपनी गादी दिगम्बर जैन आचार्य क्षेत्र श्री महावीरजी मे स्थानान्तरित की और चाँदनपुर महावीर की पूजा की रचना की। इससे ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र पर इन भट्टारको का पूर्ण अधिकार था और वे प्राय वहाँ जाया करते थे तथा काफी समय ठहरकर श्रावको को धर्मोपदेश दिया करते थे। भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति ने जयपुर एव सवाई माधोपुर, चाकस आदि नगरो मे अपना प्रभाव पुन स्थापित किया और जनसामान्य मे भट्टारक सस्था के प्रति श्रद्धा के भाव जागृत किये।

---

१ मूर्ति पच लेख सग्रह, महावीर भवन, जयपुर, पृ स ५४।
२ वही, पृ स २६३।
३ प्रशस्ति सग्रह, पृ सं ४८।
४ वही, पृ स ५५।
५ रा जैन ग्रन्थ सूची, पचम भाग, पृ स. ६२२।
६ वही, पृ स ८४६।
७ वही, पृ स ८५६।
८ महावीर भवन, जयपुर, पृ स ८।

भट्टारक सुखेन्द्रकीर्ति

भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति द्वितीय के स्वर्गवास के पश्चात् संवत् १८५२ में मंगसिर बदी अष्टमी के दिन जयपुर में ही सुखेन्द्रकीर्ति भट्टारक पद पर पट्टाभिषिक्त हुए। सुखेन्द्रकीर्ति जब भट्टारक बने तो जयपुर जैन समाज एकदम बीसपन्थ एवं तेरहपन्थ धाराओ में बँट चुका था। यद्यपि महापण्डित टोडरमल एवं महाकवि दौलतराम कासलीवाल-जैसे उच्च विद्वानो का स्वर्गवास हो चुका था किन्तु उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर समाज आगे बढ रहा था। एक ओर महापण्डित जयचन्द्र छाबडा तत्त्व प्रचार कर रहे थे तथा संस्कृत एव प्राकृत ग्रन्थो की टीकाएँ करके जनता में स्वाध्याय का प्रचार कर रहे थे तो दूसरी ओर टोडरमलजी के पुत्र गुमानीराम तेरहपन्थ में भी और सुधार लाने का प्रयास करते थे। भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति ने भी अपने विशिष्ट व्यक्तित्व के माध्यम से जनता को अपनी ओर आकृष्ट कर दिया था और तत्कालीन समाज मे भट्टारक गादी की उपयोगिता का प्रचार करने में सफलता प्राप्त कर ली थी। इसलिए उनके मरने के पश्चात् टोडरमलजी के ही नगर मे पुन सुखेन्द्रकीर्ति का पट्टाभिषेक सानन्द सम्पन्न हो गया।

भट्टारक गादी पर बैठते ही सर्वप्रथम उन्होने नगर के बाहर अपने पूर्ववर्ती भट्टारक महेन्द्रकीर्ति एवं भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्ति की स्मृति में दो छतरियो का निर्माण कराया और उनमे उनके चरण स्थापित किये। यह उनके समाज पर व्याप्त प्रभाव की ओर स्पष्ट संकेत है। यह महोत्सव सवत् १८५३ माघ सुदी पंचमी गुरुवार को सम्पन्न हुआ था।[1]

---

१ सवत १८५३ माघ मासे शुक्लपक्षे पचमी गुरुवासरे ढूढाहड देश सवाई जयनगरे महाराजाधिराज महाराज श्री सवाई प्रतापसिंह जी राज्य प्रवर्तमाने श्रीमूलसंघे सघाम्नाये बलात्कारगणे सरस्वती-गच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वेण अंबावती पट्टोदयाद्रि दिनमणि तुल्य भट्टारकेन्द्र भट्टारक जी श्री देवेन्द्रकीर्ति तत्पट्टे भ. श्री महेन्द्रकीर्ति तत्पट्टे श्री क्षेमेन्द्रकीर्ति तत्पट्टे भ. श्री सुरेन्द्रकीर्ति तत्पट्टे भ. श्री सुखेन्द्र-कीर्तिना इयं श्री महेन्द्रकीर्ति गुरौ पादुका प्रस्थाप्य महोत्सवेन प्रतिष्ठापिता पूजकानां कल्याण करोतु श्रीरस्तु शुभचन्द्र।

आचार्य शान्तिसागरजी

दिगम्बर जैन समाज मे उत्तरी भारत में तेरहपन्थ के उदय ने भट्टारक सम्प्रदाय पर गहरी चोट की और समाज पर उनका एकाधिकार स्वतः ही कम होता गया। राजस्थान, देहली, मध्यप्रदेश, गुजरात एवं उत्तरप्रदेश में जहाँ भी भट्टारको की गादियाँ थी उनके प्रति जनता की आस्था घटने लगी। भट्टारक संस्था के पतन मे एक कारण यह भी रहा कि वे न तो विशिष्ट सिद्धान्तवेत्ता ही रहे और न तपस्वी एव संयमी ही रहे। महापण्डित टोडरमल, जयचन्द्र, सदासुख-जैसे एक के पीछे दूसरे विद्वानों के होने से समाज मे विद्वानो के प्रति आदर बढने लगा और भट्टारक साधु संस्था के प्रति निष्ठा कम होती गयी। आज उत्तर भारत मे अधिकाश भट्टारक गादियाँ खाली पडी है और उन गादियो पर बैठने के लिए न किसी मे विशेष उत्साह है और न समाज को ही विशेष चिन्ता है।

लेकिन सन् १९२७-२८ के आस-पास उत्तरी भारत मे दक्षिण भारत से नग्न मुनियो का सघ प्रवेश हुआ और इस सघ ने सारे देश में एव विशेषत दिगम्बर जैन समाज मे एक नयी हलचल मचा दी। यह सघ आचार्य शान्तिसागरजी का था जिन्होंने मृतप्राय मुनि सस्था को फिर से जीवनदान दिया। उत्तर भारत के सैकडो नगरो एवं ग्रामो में संघ व विहार करके आपने लोगो में जैनधर्म एव जैनाचार के प्रति जन-सामान्य में एक विशेष स्फूर्ति पैदा की और उसके पश्चात् देश मे एक के बाद दूसरे सघ बनने लगे और आज तो सारे भारत मे सौ से भी अधिक मुनि एवं आचार्य से कम नही होगे।

आचार्य शान्तिसागर का जन्म दक्षिण भारत के बेलगाँव जिले के बेलगुल ग्राम में आषाढ कृष्णा ९ विक्रम सवत् १९२९ में बुधवार की रात्रि को हुआ। आचार्यश्री के पिता का नाम भीमगोडा पारीत था तथा माता का नाम सत्यवती था। ये चतुर्थ जैन जाति मे पैदा हुए थे। इसी जाति मे महापुराण के निर्माता भगवत् जिनसेनाचार्य हुए। आदिगौडा एव देवगोडा उनके बडे भाई थे तथा कुम्भ गौडा छोटा भाई था। आचार्यश्री का परिवार अत्यधिक प्रतिष्ठित परिवार था और उसके सभी सदस्य भूमिपति थे। आचार्यश्री की माता अत्यधिक धार्मिक थी। वह अष्टमी चतुर्दशी को उपवास रखती और साधुओ को आहार देती थी। वे भी अपनी माता को साधुओ को आहार देने में योग देते थे। उनके कमण्डलु को हाथ में रखकर उनके साथ-साथ जाया करते थे इसलिए छोटी अवस्था मे ही उनके साधु बनने की लालसा जागृत हो गयी थी। आचार्यश्री के पिता भी प्रभावशाली, बलवान्, रूपवान्, प्रतिभाशाली थे। उन्होने १६ वर्ष पर्यन्त एक

बार ही भोजन के नियम का पालन किया और अन्त में ६५ वर्ष की आयु में यम-समाधिपूर्वक मृत्यु का सहर्ष आलिंगन किया।

अपने सद्गुणों के कारण आचार्यश्री सर्वप्रिय थे और जब वे नौ वर्ष के ही थे तभी माता-पिता ने उनका एक ६ वर्ष की बालिका के साथ विवाह कर दिया। लेकिन दैवयोग से उस लड़की का विवाह के ६ मास पश्चात् ही स्वर्गवास हो गया। जब वे १८ वर्ष के हुए तो माता-पिता ने विवाह करने के लिए पुनः आग्रह किया लेकिन आचार्यश्री ने स्पष्ट रूप से मना कर दिया। माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् आचार्यश्री ने जिनदीक्षा ले ली। उनके दीक्षा गुरु मुनि देवेन्द्रकीर्ति थे। कोगनोली (दक्षिण) मे उन्होंने अपना प्रथम चातुर्मास व्यतीत किया। इनका दूसरा चातुर्मास नसलापुरा में हुआ। विक्रम संवत् १९८० मे उनका चतुर्थ चातुर्मास कोन्नर में सम्पन्न हुआ। अब महाराजश्री के दर्शनार्थ दूर-दूर से श्रावक आने लगे। एक बार महाराज को जब श्रावकों की उपस्थिति में अपनी तपस्या मे बाधा दिखलाई दी तो वे पास ही की एक गुफा मे ध्यान करने चले गये। जब वे ध्यानस्थ थे तो गुफा में ही एक सर्प ने उनपर उपसर्ग किया और शरीर पर लिपट गया। लेकिन आचार्यश्री जरा भी विचलित नही हुए और अपनी तप.साधना में लीन रहे। महाराजश्री के शान्त एव ध्यानस्थ योग मुद्रा को देखकर वह स्वत. ही उतरकर चला गया। इसी तरह जब वे क्षुल्लक अवस्था मे थे तब भी एक भयंकर विषधर सामायिक करते समय उनके तन पर तथा गले मे लिपट गया था लेकिन आचार्यश्री प्रत्येक परीक्षा मे खरे उतरे। समडोली में महाराजश्री ने श्रमण संघ का निर्माण किया उसके कारण लोगो ने उन्हे आचार्य परमेष्ठी के रूप मे पूजना प्रारम्भ कर दिया।

दक्षिण से आचार्यश्री का विहार उत्तर भारत में जब हुआ तो समस्त जैन समाज में एक अजीब हलचल मच गयी और उसने आचार्यश्री को पाकर अपने आपको गौरवान्वित समझा। आचार्यश्री महान् तपस्वी थे और रात्रि-दिन आत्मध्यान में लव-लीन रहते थे। उन्होने उत्तर भारत के सभी नगरो एवं गाँवो में विहार किया और जन-जन के हृदय में अहिंसा एवं अनेकान्त के आदर्श को रखा। वे जहाँ विहार करते जनता उनका हृदय से स्वागत करती और ऐसे महान् तपस्वी के चरणों में अपने आपको समर्पित कर देती। आचार्यश्री का सम्पूर्ण जीवन रोमाचकारी घटनाओ से परिपूर्ण था। उनके सम्पर्क में जो भी आया वही उनके समक्ष नतमस्तक होकर चला गया।

महाराजश्री अन्तिम समय कुन्थलगिरि पर थे। वहाँ उन्होंने अपना अन्तिम समय जानकर १४ अगस्त सन् १९५५ को यम सल्लेखना ले ली और १८ सितम्बर १९५५ के प्रभात में छह बजकर पचास मिनट पर उनके औदारिक देह का अन्त हो गया। ३६ दिन की यम समाधि ने समस्त जैन समाज में ही नहीं किन्तु सारे देशवासियों में एक अजीब हलचल मचा दी और समस्त देश ने एक साथ उनके चरणों में अपनी सच्ची श्रद्धाजलि अर्पित की। इस युग में आचार्य शान्तिसागरजी-जैसा महान् तपस्वी मिलना दुर्लभ है। ऐसे महान् सन्त को लेखक की ओर से शत शत प्रणाम।

आचार्य वीरसागरजी

आचार्य शान्तिसागर महाराज का पट्ट शिष्य होने का सौभाग्य वीरसागरजी को मिला। जब आचार्यश्री ने यम समाधि ले ली थी उसी समय २६ अगस्त १९५५ शुक्रवार को इन्हे आचार्य पद प्रदान किया गया। यद्यपि उस समय वीरसागरजी वहाँ नही थे लेकिन आचार्य पद देते हुए उन्होने कहा था कि "हम स्वयं के सन्तोष से अपने प्रथम निर्ग्रन्थ शिष्य वीरसागर को आचार्य पद देते हैं।" उन्होंने उस समय अपना महत्त्वपूर्ण उपदेश निम्न शब्दो में भेजा था "आगम के अनुसार प्रवृत्ति करना, हमारी ही तरह समाधि धारण करना और सुयोग्य शिष्य को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करना जिसने परम्परा बराबर चले।"

आचार्य वीरसागरजी अधिक दिनो तक आचार्य पद पर नही रह सके और सन् १९५७ मे ही जयपुर की खानियो में उन्होंने समाधि मरण ले लिया। उनका बडा तेज-आत्मबल था और उसी के सहारे वे अपना मार्ग निर्धारण करते थे।

आचार्य वीरसागरजी दक्षिण भारत के गृहस्थ जीवन में अवैतनिक रूप से धर्म-शिक्षण का कार्य करते थे।

आचार्य शिवसागरजी

आचार्य वीरसागरजी के पश्चात् आचार्य शान्तिसागरजी की परम्परा को बनाये रखने के लिए मुनि शिवसागरजी महाराज विक्रम सवत् २०१४ में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किये गये। आचार्य बनने के पश्चात् ब्यावर मे आपका प्रथम चातुर्मास हुआ। इसके पश्चात् अजमेर, सुजानगढ, सीकर, लाडनूं, खानियाँ (जयपुर), पपौरा, श्री महावीरजी, कोटा, उदयपुर एवं प्रतापगढ़ मे चातुर्मास सम्पन्न हुए। और फाल्गुन कृष्ण अमावस्या सवत् २०२५ को छह-सात दिन के साधारण ज्वर के पश्चात् श्री महावीरजी मे आपका स्वर्गवास हो गया।

शिवसागरजी का जन्म सम्भवत संवत् १९५८ मे हुआ था। ये खण्डेलवाल जाति एवं रावंका गोत्रीय श्री नेमिचन्द्रजी के सुपुत्र थे। आपकी जन्मभूमि औरंगाबाद जिले के अन्तर्गत अडगाँव हैं। आपका जन्म-नाम हीरालाल था। आपके दो भाई एवं दो बहने थी। पिता की आर्थिक स्थिति विशेष अच्छी नही होने के कारण आप एवं आपके भाई-बहन उच्चाध्ययन से वंचित रहे। १२ वर्ष की आयु में ही आपके माता-पिता एवं बडे भाई की मृत्यु हो जाने से सारी गृहस्थी का भार आप पर आ गया। जब आप २८ वर्ष के थे तब स्व. शान्तिसागरजी के दर्शन करने का सौभाग्य मिला और प्रथम भेट मे हीं आचार्यश्री से आपने व्रत प्रतिमा ग्रहण की। ४१ वर्ष की आयु मे आपने मुक्तागिरि सिद्ध क्षेत्र पर सप्तम प्रतिमा धारण कर ली और ब्रह्मचारी के रूप मे सघ के साथ रहने लगे। इसके पश्चात् इन्होंने क्षुल्लक दीक्षा ले ली और संवत् २००६ मे नागौर (राजस्थान) मे आपने मुनि दीक्षा धारण कर ली। इसके पश्चात् १४ वर्ष तक आप आचार्यश्री वीरसागरजी के सघ में मुनि अवस्था मे रहे और चारो अनुयोगो का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। और अन्त मे संवत् २०१४ मे आचार्य वीरसागर-जी के स्वर्गवास के पश्चात् आप सघ के आचार्य बनाये गये। आपने अपने जीवन में ४८ साधुओ को दीक्षा दी।

सवत् २०२० मे जब खानियाँ (जयपुर) मे आपका चातुर्मास हुआ तो वहाँ निश्चय और व्यवहार को लेकर विद्वानो की एक बृहद् गोष्ठी का आयोजन हुआ। यह एक ऐतिहासिक गोष्ठी थी जिसमे समाज के कितने ही मूर्धन्य विद्वानो ने भाग लिया। टोडरमल स्मारक भवन में 'खानिया तत्त्व चर्चा' दो भागो मे प्रकाशित भी हो चुकी है। श्री महावीरजी मे निर्मित शान्तिवीर नगर आपकी ही प्रेरणाओ का सुखद फल है।

आचार्य शिवसागरजी उच्चतम निर्ग्रन्थ तपस्वी थे। उनके मार्गदर्शन में समाज ने जो लाभ लिया उसे कभी नहीं भुलाया जा सकता। उनकी स्मृति में एक शिवसागर स्मृति ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है जिसका सम्पादन पं. पन्नालालजी साहित्याचार्य ने एवं प्रकाशन श्रीमती भँवरीदेवी जैन ने किया है।

आचार्य सूर्यसागर

आचार्य शान्तिसागरजी के पश्चात् जिन जैनाचार्यों का समाज एवं सांस्कृतिक विकास में सबसे अधिक योगदान रहा उनमें से आचार्य सूर्यसागरजी महाराज का नाम सबसे उल्लेखनीय है। आचार्यश्री २०वी शताब्दी के महान् सन्त थे। आपका महान् व्यक्तित्व एवं तपःसाधना देखते ही बनती थी। देश के विभिन्न भागों में विहार करके आपने समस्त जैन समाज को एक सूत्र में बाँधने का प्रयास किया था।

आचार्यश्री का जन्म संवत् १९४० के कार्तिक शुक्ला नवमी के शुभ दिन हुआ था। आपका जन्म-स्थान ग्वालियर राज्य के शिवपुरी जिलान्तर्गत पेपसर ग्राम में हुआ था। आपका बचपन का नाम हजारीमल था। पिता के सहोदर भाई बलदेवजी झालरापाटनवालो के यहाँ लालन-पालन हुआ था। बचपन से ही आप चिन्तनशील रहते थे तथा धार्मिक क्रियाओ में आपकी विशेष रुचि रहती थी जो विवाह होने के उपरान्त भी उसी रूप में बनी रही। जब आप ४१ वर्ष के थे तो एक स्वप्न के फलस्वरूप आपको जगत् से विरक्ति हो गयी और आसोज शुक्ला षष्ठी संवत् १९८१ को आपने इन्दौर मे आचार्यश्री शान्तिसागरजी महाराज के पास ऐलक पद की दीक्षा ले ली। उसी समय आपका सूर्यसागर नाम रखा गया। कुछ समय पश्चात् आप मुनि और फिर आचार्य पद को प्राप्त हो गये।

आचार्य सूर्यसागर विद्वान् सन्त थे। उनकी वाणी में मिठास था। इसलिए उनकी सभाओ में पर्याप्त संख्या में श्रोतागण आते थे। उनका महान् ग्रन्थ 'सूर्यसागर ग्रन्थावली' जयपुर से प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रन्थ में जैन धर्म एव उसके सिद्धान्तों का अत्यधिक सुन्दरता से प्रतिपादन किया गया है। आचार्यश्री का स्वर्गवास डालमियानगर में समाधिपूर्वक हुआ था। वही पर उनकी संगमरमर की भव्य समाधि बनी हुई है।

संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान्—आचार्यश्री ज्ञानसागरजी महाराज

वर्तमान शताब्दी मे संस्कृत भाषा मे महाकाव्यो के रचना की परम्परा को जीवित रखने वाले विद्वानो मे जैनाचार्य ज्ञानसागरजी महाराज का नाम विशेषत उल्लेखनीय है। वे ५० वर्षो से भी अधिक समय तक संस्कृत वाङ्मय की अनवरत सेवा करने मे लगे रहे।

आचार्यजी के दर्शनो का सौभाग्य लेखक को मिल चुका है। वे काय से गौर वर्ण, ध्यान एवं तप मे सन्नद्ध, पठन-पाठन एव साहित्य निर्माण में दत्तचित्त, सर्वथा दिगम्बर, २४ घण्टो मे एक ही बार आहार एव जल ग्रहण और वह भी निरन्तराय, अस्सी वर्ष को पार करने के पश्चात् भी अपनी क्रियाओ एवं पद के प्रति पूर्णत सजग, श्रावक-श्राविकाओ को प्रतिदिन ज्ञान देनेवाले, अपने संघ के साधुओ की दिनचर्या के प्रति जागरूक, उनको पढाने की क्रिया मे सलग्न रहने पर भी स्वय के द्वारा साहित्य निर्माण मे व्यस्त रहने वाले—आदि कुछ विशेषताओ से युक्त आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज के कभी भी दर्शन किये जा सकते थे।

जीवन

आचार्यश्री का जन्म राजस्थान के सीकर जिलान्तर्गत राणोली ग्राम में सवत् १९४८ मे एक सम्पन्न परिवार मे हुआ था। उनके पिता का नाम चतुर्भुज एव माता का नाम घेवरी देवी था। उस समय उनका नाम भूरामल रखा गया। गाँव की प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् उनको सस्कृत भाषा के उच्च अध्ययन की इच्छा जाग्रत् हुई और माता-पिता की अनुमति लेकर ये वाराणसी चले गये जहाँ उन्होने सस्कृत एवं जैन सिद्धान्त का गहरा अध्ययन करके शास्त्री की परीक्षा पास की। राजस्थान के प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् प चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ आपके सहपाठियो मे से थे। काशी के स्नातक बनने के पश्चात् ये वापस अपने ग्राम आ गये और ग्रन्थो के अध्ययन के साथ-साथ स्वतन्त्र व्यवसाय भी करने लगे। लेकिन काव्य-निर्माण मे विशेष रुचि लेने के कारण उनका व्यवसाय मे मन नही लगा। विवाह की चर्चा आने पर इन्होने आजन्म अविवाहित रहने की अपनी हार्दिक इच्छा व्यक्त की और अपने आपको माँ भारती की सेवा मे समर्पित कर दिया।

महाकवि के रूप में—

आचार्यश्री ने तीन महाकाव्य—वीरोदय, जयोदय एवं दयोदय चम्पू, कुछ चरित काव्य—समुद्रदत्त चरित, सुदर्शनोदय, भद्रोदय आदि एवं हिन्दी काव्य—ऋषभचरित, भाग्योदय, विवेकोदय आदि करीब २० काव्य लिखकर माँ भारती की अपूर्व सेवा की। 'वीरोदय' भगवान् महावीर के जीवन पर आधारित महाकाव्य है जो हमें महाकवि कालिदास, भारवि, श्रीहर्ष एवं माघ आदि के महाकाव्यो की याद दिलाता है। इस काव्य में इन कवियों के महाकाव्यो की शैली को पूर्ण रूप से अपनाया गया है। तथा "माघे सन्ति त्रयो गुणा." वाला कहावत भी वीरोदय काव्य मे पूर्णतः चरितार्थ होती है। प्रारम्भ मे जिस प्रकार कालिदास ने अपनी लघुता प्रकट करने के लिए "क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः" छन्द निबद्ध किया है उसी प्रकार वीरोदय काव्य मे "वीरोदयं यं विदधातुमेव न शक्तिमान् श्रीगणराजदेव" लिखकर अपनी लघुता प्रदर्शित की है। इसी तरह "अस्त्युत्तरस्या दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः" के समान ही "हिमालयोल्लासि गुण स एष द्वीपाधिपस्येव धनुर्विशेष" हिमालय की प्रशंसा मे कुछ छन्द लिखे है। नैषध काव्य के भी कुछ छन्दो की प्रतिच्छाया वीरोदय काव्य के पद्यो मे देखी जा सकती है। नैषध काव्य के प्रथम सर्ग के चतुर्थ पद्य मे "अधीतिबोधाचरण-प्रचारणैर्दशाश्चतस्र प्रणयन्नुपाधिभिः" के समान ही वीरोदय काव्य में "अधीतिबोधाचरणप्रचारैश्चतुर्दशत्व गमितास्युदारै" छन्द पढने को मिलता है। इसी तरह कुमारसम्भव, शिशुपालवध एवं भट्टि काव्य के कितने ही पद्यो की वीरोदय महाकाव्य के पद्यो से तुलना की जा सकती है। काव्य में गोमूत्रिका चित्रबन्ध काव्य कला के भी हमें दर्शन होते है जो महाकाव्यो की एक विशेषता मानी जाती है। इसी तरह इस महाकाव्य मे श्लेष, उपमा, उत्प्रेक्षा, वक्रोक्ति, अपह्नुति, अन्योक्ति, व्याज-स्तुति, विरोधाभास आदि अनेक अर्थालंकारो के प्रयोग से सारा काव्य अलकारमय हो गया है। काव्य के चौथे सर्ग मे वर्षा ऋतु, छठे सर्ग में वसन्त ऋतु, १२वें सर्ग मे ग्रीष्म ऋतु एवं २१वें सर्ग मे शरद् ऋतु का अत्यधिक सुन्दर वर्णन हुआ है।

इस महाकाव्य में यद्यपि महावीर वर्धमान का जीवन चरित ही चित्रित किया गया है किन्तु इतिहास एव पुरातत्त्व के भी इसमें दर्शन होते है। तथा स्याद्वाद, अनेकान्तवाद एव सर्वज्ञता के वर्णन मे पूरा काव्य दार्शनिक काव्य बन गया है। पूरे काव्य में २२ सर्ग है।

जयोदय काव्य मे जयकुमार-सुलोचना की कथा का वर्णन किया गया है। काव्य का प्रमुख उद्देश्य अपरिग्रह व्रत का माहात्म्य दिखलाना है। इस काव्य में २८ सर्ग हैं जो आचार्यश्री के महाकाव्यों में सबसे बडा काव्य है। इसकी सस्कृत टीका भी स्वयं आचार्यश्री ने की है जिसमें काव्य का वास्तविक अर्थ समझने मे पाठको को सुविधा दी गयी है। यह महाकाव्य सस्कृत टीका एव हिन्दी अर्थ सहित शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है।

दयोदय चम्पू में मृगसेन धीवर की कथा वर्णित है। महाकाव्यों में सामान्य वर्ग के व्यक्ति को नायक के रूप में प्रस्तुत करना जैन कवियो की परम्परा रही है और इस परम्परा के आधार पर इस काव्य मे एक सामान्य जाति के व्यक्ति के व्यक्तित्व को उभारा गया है। धीवर जाति हिंसक होती है किन्तु मृगसेन द्वारा अहिंसा व्रत लेने के कारण इसके जीवन में कितना निखार आता है और अहिंसा व्रत का कितना महत्त्व है इस तथ्य को प्रस्तुत करने के लिए आचार्यश्री ने दयोदय चम्पू काव्य की रचना की है। इसमें सात लम्ब (अधिकार) है और सस्कृत गद्य-पद्य मे निर्मित यह काव्य सस्कृत भाषा का अनूठा काव्य है।

आचार्यश्री ने सस्कृत मे काव्य रचना के साथ-साथ हिन्दी में भी कितने ही काव्य लिखे है। कुछ प्राचीन ग्रन्थो का हिन्दी मे अनुवाद किया तथा छोटी-छोटी कथाओ के 'कर्तव्य पथप्रदर्शन'-जैसी कृतियो द्वारा जन-साधारण के रूप में दैनिक कर्तव्यो पर प्रकाश डाला है। यह पुस्तक बहुत ही लोकप्रिय रही है और इसकी दो आवृत्ति छप चुकी है। ऋषभदेव चरित हिन्दी का एक प्रबन्ध काव्य है जिसके १७ अध्यायो मे आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का जीवन चरित निबद्ध है। इस काव्य मे आचार्यश्री ने मानव को सामान्य धरातल से उठाकर जीवन को सुखी एव समुन्नत बनाने की प्रेरणा दी है।

□ □